हिन्दी के गद्यकार
और
उनकी शैलियाँ

लेखक
रामगोपालसिंह चौहान, एम० ए०
प्राध्यापक—हिन्दी विभाग,
आगरा कालेज, आगरा

भूमिका लेखक
डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर—हिन्दी विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

साहित्य-रत्न-भण्डार,
साहित्य कुञ्ज, आगरा

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार
साहित्य कुञ्ज, आगरा



१९५५

प्रथमबार

१०००



मूल्य ४)



मुद्रक
साहित्य प्रेस,
साहित्य कुञ्ज, आगरा

विषय-सूची

भाग—१

हिन्दी गद्य का विकास

भाग—२

हिन्दी गद्य की विविध विधाओं का शास्त्रीय विवेचन

हिन्दी नाटक

नाटककार

भाग—३

हिन्दी निबन्ध और आलोचना

हिन्दी के निबन्धकार और आलोचक

भाग—४

हिन्दी कथा साहित्य

कथाकार

१—श्रीनिवास दास (१२०), २—बालकृष्ण भट्ट (१२२), ३—किशोरीलाल गोस्वामी (१२३), ४—देवकीनन्दन खत्री (१२५), ५—गोपालराम गहमरी (१२७), ६—प्रेमचन्द (१२६), ७—जयशङ्कर प्रसाद (१३४), ८—विश्वम्भर नाथ 'कौशिक' (१३७) ६—चतुरसेन शास्त्री (१४०), १०—चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' (१४२), ११—सुदर्शन (१४५), १२—चण्डप्रसाद 'हृदयेश' (१४७), १३—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (१४८), १४—ऋषभचरण जैन (१५१), १५—रायकृष्ण दास (१५२), १६—वृन्दावनलाल वर्मा (१५४), १७—जैनेन्द्रकुमार (१५६), १८—इलाचन्द जोशी (१६०), १६—प्रतापनारायण श्रीवास्तव (१६२), २०—भगवतीचरण वर्मा (१६४), २१—राधिका रमण प्रसाद सिंह (१६७), २२—महादेवी वर्मा (१६८), २३—ठाकुर श्रीनाथ सिंह (१६६), २४—अज्ञेय (१७०), २५—यशपाल (१७२), २६—उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (१७५), २७—डा. रांगेयराघव (१७७), २८—अमृतलाल नागर (१७६), २६—नागार्जुन (१८०), ३०—उदयशङ्कर भट्ट (१८१), ३१—भगवती प्रसाद वाजपेयी (१८२), ३२—राहुल सांकृत्यायन (१८३), ३३—निराला (१८३), ३४—रावी (१८५), ३५—डा. देवराज (१८६), ३६—शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' (१८७), ३७—शिवमूर्ति 'शिव' (१८८), ३८—धर्मवीर भारती (१८६), ३६—अमृतराय (१६०), ४०—देवेन्द्र सत्यार्थी (१६१), ४१—शिवसागर मिश्र (१६२) ४२—विष्णु प्रभाकर (१६३), ४३—मार्कण्डेय (१६३), ४४—हंसराज रहबर (१६४), ४५—सत्येन्द्र शरत् (१६४), ४६—भैरवप्रसाद गुप्त (१६४), ४७—मोहनसिंह सेंगर (१६५), ४८—जनार्दन 'मुक्तिदूत' १६५), ४६—चन्द्रकिरण सौनरिक्सा (१६५), ५०—राजेन्द्र यादव (१६६), ५१—उषादेवी मित्रा (१६६), ५२—कञ्चनलता सब्बरवाल (१६७), ५३—राधाकृष्ण (१६७)।

भाग—५

हिन्दी गद्य साहित्य की कुछ अन्य विधायें

गद्य-गीतकार

दो शब्द

इस पुस्तक में मैंने हिन्दी गद्य की विविध विधाओं की नवीनतम रचनाओं एवं उनके रचयिताओं का शैलीपरक तथा चेतनागत परिचय कराने का भरसक प्रयत्न किया है। आज हिन्दी-गद्य की विकास-गति अत्यन्त द्रुत है। पुस्तक के समाप्त होकर प्रेस से बाहर आते-आते गद्य की अनेक रचनायें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। वे इस पुस्तक में स्थान नहीं पा सकीं। उनके अतिरिक्त और भी अनेक रचनाकार रह गये, जिनका मूल्यांकन होना चाहिये था; किन्तु वह नहीं हो सका। अस्तु मैं प्रस्तुत पुस्तक में सम्पूर्ण हिन्दी-गद्य को आँक सका हूँ, ऐसा दावा पेश करने की सामर्थ्य नहीं कर सकता, एक प्रयास मात्र ही कहने का साहस कर सकता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने में मैंने जिन अनेक पुस्तकों का सहारा लिया है उन सभी के लेखकों का मैं आभारी हूँ।

—रामगोपालसिंह चौहान

भूमिका

श्री रामगोपालसिंह चौहान अब हिन्दी के लिए अपरिचित नहीं। समय-समय पर उनके निबन्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं और कुछ पुस्तकें भी। यह पुस्तक रामगोपालजी की नयी रचना है।

हिन्दी के गद्य का इतिहास पुराना भी है और नया भी। इसका पुराना इतिहास विविध बोलियों की शैली में प्रस्तुत हुआ था। इस सम्बन्ध में श्री रामगोपालसिंह चौहान ने ठीक ही लिखा है कि "हिन्दी गद्य का रूप प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना हिन्दी पद्य का।" इस सम्बन्ध में जितना नया अन्वेषण होता जा रहा है, उतना ही नया साहित्य सामने आ रहा है और उतनी ही यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि हिन्दी में गद्य की परम्परा अत्यन्त पुष्ट थी।

किन्तु यह परम्परा अवधी या ब्रज, या डिङ्गल या पिङ्गल की परम्परा थी। आज भाषा के जिस रूप को 'हिन्दी' कहा जाता है, उसका इतिहास एक प्रकार से नया है। आधुनिक हिन्दी को दूसरी शब्दावली में 'खड़ी बोली' भी कहते हैं। यों तो इसके और भी नाम हैं किन्तु यही नाम विशेष प्रचलित रहा, यही नहीं हिन्दी की खड़ी बोली की गद्य की शैलियों में से जिस शैली का रूप आधुनिक हिन्दी ने स्वीकार किया है, वह 'खड़ीबोली' के नाम से अभिहित होने वाली है। यह शैली भी कम से कम 'अमीर खुसरो' के समय तक पुष्ट हो चुकी थी, अमीर खुसरो उत्तरी खड़ी बोली की शैली का ही पण्डित था। यह उसकी रचनाओं की रूप-कल्पना से भी प्रतीत होता है, और इस धारणा की पुष्टि का बड़ा कारण यह भी है कि वह 'एटा' में पैदा हुआ था। हिन्दी के इस गद्य को कुछ शक्ति इन्शाअल्लाखाँ, लल्लूलाल, सदलमिश्र और सदासुखलाल के समय में मिली। भारतेन्दु के समय में तो इसने पूर्ण उर्वरता प्राप्त करली।

यह एक बड़ा रोचक प्रश्न है कि ब्रजभाषा और अवधी को लाँघ कर 'खड़ी बोली या हिन्दी' कैसे इतने बड़े भूभाग की भाषा बन गयी कि आज उसे 'राष्ट्रभाषा' का पद दिया गया। क्या यह एक संयोग की बात है? या इसके पीछे कोई वैज्ञानिक विकास है? अथवा कोई मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है?

दिल्ली-आगरे में मुसलमानों और मुग़लों की राजधानी थी। अतः यह कहना सर्वथैव मिथ्या सम्भवतः नहीं माना जा सकता कि "खड़ीबोली को अपने बोले जाने वाली दिल्ली-मेरठ के आस-पास के क्षेत्र की सीमा से निकाल कर दूर-दूर तक विस्तृत करने का श्रेय मुसलमानी साम्राज्य को है।" फिर भी ऐसे कथनों को गम्भीर परीक्षा के उपरान्त ही ग्रहण किया जा सकता है।

सबसे पहला प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या दिल्ली और मेरठ की भाषा एक है, और क्या दिल्ली में भी मेरठ की ही भाषा बोली जाती है? भाषा वैज्ञानिक परीक्षण से यह सिद्ध होगा कि दिल्ली के ओर-पास बोली जाने वाली भाषा मेरठ की बोली से भिन्न है। एक प्रश्न यह पैदा होता है कि 'दिल्ली' में हिन्दी के जिस रूप का प्रयोग होता है वह वहाँ मुसलमानों के कारण है, या मुसलमानों की भाषा का रूप दिल्ली की निजी भाषा के कारण है। मुसलमानों ने जिस समय दिल्ली पर अधिकार किया था उस समय दिल्ली चौहानों के हाथ में थी, अजमेर के चौहानों के। उससे पूर्व तोमरों के। किसी न किसी राजस्थानी शक्ति का, यहाँ, दिल्ली में अधिकार था। क्या दिल्ली की भाषा पर उनके शासन का प्रभाव नहीं था? उनकी वह व्यवहार-भाषा क्या थी जो यहाँ मिलती थी? यह प्रश्न भी बिना उठे नहीं रह सकता कि मुसलमानी साम्राज्य से पूर्व भी भारत राजनीतिक दृष्टि से कई बार एकता प्राप्त कर चुका था और उत्तर-दक्षिण तक में परस्पर गम्भीर व्यवहार था। उस समय समस्त भारत के आदान-प्रदान का माध्यम क्या था? यह भी कौन नहीं जानता कि भारत ने राजनीतिक ऐक्य की अपेक्षा सांस्कृतिक ऐक्य को प्रधानता दी। इस ऐक्य के आधार पर समस्त भारत में पारस्परिक विचार-विनिमय का माध्यम क्या था? धुर दक्षिण से धुर उत्तर तक के साहित्यिक कृतित्व में एक ही शास्त्र की व्यापकता किस माध्यम के कारण हुई? यह पूछना भी कम महत्त्व का नहीं माना जा सकता कि जिस हिन्दी की प्रशंसा में अमीर खुसरो ने इतने शब्द अपने इतिहास में लिखे, और जिस भाषा में उसने 'खिज्रखाँ' और 'देवलदेवी' की कहानी पढ़ी थी, जिसे स्वयं खिज्रखाँ ने लिखा था, वह क्या

मुसलमानी साम्राज्य के बूते पर दिल्ली में पनप रही थी, और इतना महत्त्व पाये हुए थी। फिर यह भी एक बड़ी गम्भीरता का प्रश्न है कि इस दिल्ली मेरठ वाली भाषा का प्रधान केन्द्र 'काशी' कैसे हो गया? कैसे काशी के लोग उस भाषा को नये रूप में ढालने वाले हुए, और कैसे काशी के द्वन्द्व ने हिन्दी के भाग्य को बनाया और बिगाड़ा? दिल्ली और आगरा में उस भाषा का निर्माण केन्द्र होता तो कुछ समझ में आने की बात थी, यद्यपि कुछ ही; क्योंकि इस बोली का जन्म स्थान तो मेरठ बताया जाता है, यथार्थतः तो इसे मेरठ में ही ढलना चाहिए था, पर 'दिल्ली-आगरा' को कुछ विद्वान् मेरठ का पर्याय मानकर हिन्दी को वहाँ की भाषा स्वीकार करते हैं, तो हिन्दी का यानी खड़ी बोली का गढ़ न तो दिल्ली बन सका, न आगरा; कलकत्ता भी एक गढ़ बना, तो यह समझ में आ सकता है कि अँग्रेजों ने इसे राजधानी बनाया था और हिन्दी सिखाने के प्रबन्ध के लिए यहीं उन्होंने कालेज खोला तो यह भी हिन्दी का गढ़ हो गया। यहाँ पर जो बात चुभती है वह यह कि आधुनिक विद्वान सदल मिश्र में आधुनिक हिन्दी के बीज देखते हैं; सदल मिश्र आरा के थे। आगरा वाले लल्लूलालजी की शैली में वह हिन्दीपन नहीं? यद्यपि मैं निजी रूप से यह सप्रमाण विश्वास करता हूँ कि लल्लूलाल की शैली ने ही आधुनिक हिन्दी का रूप ग्रहण किया। क्योंकि मेरठ की शैली की प्रतिनिधि माने जाने वाली आगरा की भाषा को आरा की शैली से हारना पड़ा। आरा तो मेरठ से बहुत दूर है। फोर्ट विलियम में हिन्दी पढ़ाने का प्रयत्न हुआ। यह मानकर मौलिक प्रश्न तो रह ही जाता है कि क्यों? साथ ही ईसाई मिशनरियों ने क्यों हिन्दी को अपनाया, वह भी कलकत्ते बैठकर! और क्यों हिन्दी का सबसे पहला समाचार-पत्र 'उदन्त-मार्तण्ड' कलकत्ते से निकला। यह भी कि 'बनारस' तो मुसलमानी काल में भी कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं रखता था। वहाँ हिन्दी क्यों पनपी? इस सम्बन्ध में ये प्रश्न यहीं नहीं समाप्त हो जाते, ये अगणित प्रश्न खड़े होते जाते हैं—और समाधान? विद्वानों ने जो भ्रम कथा (fiction) खड़ी की है उसको ध्वस्त करने में ही इसका समाधान है? वह हिन्दी जो आज राष्ट्रभाषा बनी है, वह किसी भी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है। वह इस भाषा के ध्वंस से पैदा हुई है जो कभी व्यवहार की भाषा थी, और इसी अभाव की पूर्ति ने उसी ध्वंस में से नया रूप ग्रहण कर लिया था। संस्कृत किस क्षेत्र-विशेष की भाषा थी? भाषाओं का इतिहास बताता है कि प्रत्येक क्षेत्र में अपनी जनपदीय प्राकृतें प्रचलित थीं। वस्तुतः 'हिन्दी' जो खड़ी बोली कहलाती है किसी प्रदेश विशेष की भाषा नहीं, यह उसके नाम से भी सिद्ध

है—जितनी भी बोलियाँ हैं उन सबके नाम अपने प्रदेश विशेष पर पड़े हैं—ब्रज की ब्रजभाषा, अवध की अवधी आदि पर 'खड़ी' बोली में 'खड़ी' किसी प्रदेश का नाम नहीं। लल्लूलाल और इंशा अल्ला ख़ाँ के समय यह कलकत्ते से पञ्जाब तक भली प्रकार व्याप्त थी। इस व्याप्ति का दायित्व किस पर था यह अभी अनुसंधान का विषय है। यह केवल किसी एक शक्ति का कार्य नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति को एक स्वरूप में ढालने और उसका प्रचार कराने में जिन तत्त्वों का हाथ रहा, उनका हाथ हिन्दी को भी व्यापक बनाने में रहा होगा। इनमें से एक वर्ग साधुओं का माना जा सकता है, जो अनवरत रूप से प्रयाण करता रहता है, दूसरे व्यवसायी। राम, कृष्ण की धार्मिक प्रवृत्तियाँ भी सहायक थीं और सबसे अधिक सहायता दी खड़ी बोली की संस्कृत से निकटता ने।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की सांस्कृतिक स्थिति ने ही हिन्दी को यह बल दिया और हिन्दी सार्वजनिक उपयोग के क्षेत्र में जीवित रही और बल ग्रहण करती रही, यहाँ तक कि हम भारतेन्दु युग में जा पहुँचे। भारतेन्दु ने घोषित किया कि हिन्दी नई चाल में ढली। हिन्दी की दो शैलियाँ आरम्भ से ही दिखायी पड़ती हैं। एक प्रादेशिक प्रभाव वाली, दूसरी शुद्ध। लल्लूलाल की भाषा आगरे की भाषा थी। सदल मिश्र की कहाँ की थी? क्या आरा की? आगरा की बोली में प्रादेशिक पुट था जिससे वह बहुत मधुर थी, वैसा ही मधुर विषय लल्लूलाल को मिला—प्रेमसागर। मधुरता काव्य-सौष्ठव से अन्वित हुई तो गद्य भी काव्यमय हो गयी। सदल मिश्र की भाषा इस गहरे प्रभाव से दूर थी। उसमें भाषा का सामान्य रूप ही व्यक्त हुआ। भारतेन्दुजी ने इस सत्य को समझा और उन्होंने जो नयी चाल हिन्दी को दी उसका मर्म यही था; किन्तु भाषा किसी के ढाले नहीं ढलती। वह तो स्वाभाविक नियमों से कोई रूप ग्रहण करती है। वह सामान्य रूप भारतेन्दुजी के समय में खड़ा हो चुका था, उन्होंने अपने व्यक्तित्व का बल प्रदान कर के, उसे प्रमुख कर दिया।

भारतेन्दुजी के समय तक हिन्दी गद्य के विकास में धर्म की प्रचारक भावना तथा सामान्य मनोरञ्जन की भावना काम कर रही थी। हिन्दी का नाम अमीर खुसरो के समय से ही हिन्दी था। फोर्ट विलियम के अंग्रेज जिज्ञासुओं ने उस नाम की भाषा को पहचानने का जो प्रयत्न किया, उसमें अवश्य बहुत कुछ भ्रम पैदा किया गया, किन्तु वास्तविकता उस समय भी पूर्णतः ज्ञात थी। यह गिलक्राइस्ट महोदय के इन शब्दों में विदित होगा—

"The real KHAREE BOLEE is distinguished by the general observence of Hindustanee grammar, and nearly a total exclusion of Arabic and Persian words." [The Oriental Falulist. P. V.

यह 'खड़ी बोली' और हिन्दी अभिन्न हैं यह इन पंक्तियों से सिद्ध होता है जो उसी काल में प्रोसीडिंग्ज ऑव दि कालेज ऑव फोर्ट विलियम, जिल्द ६, में मिलती हैं—

The great difference of Hindee and Hindoostanee consists in words—those of the former being almost all Sanskrit, and those of the latter being for the greater part Persian and Arabic.

भारतेन्दुजी ने भारतीय मानस के मर्म को समझ कर भाषा की प्रचलित विविध शैलियों में से सामान्य शैली को हिन्दी की नयी चाल का नाम दिया था। नये ज्ञान-विज्ञान का युग भारत से टकरा रहा था, यह भारतेन्दुजी को ज्ञात था; और उसके लिए जैसी सामर्थ्यवान भाषा की शैली चाहिए, उसका निरूपण उन्होंने किया। उस शैली को पुष्ट करने के लिए उन्होंने गद्य के प्रत्येक रूप में प्रयोग किये, और उन्होंने ऐसे बीज डाले कि आज इसका जो विकास प्रस्तुत हुआ है, वह श्लाघ्य और गर्व की वस्तु है।

हिन्दी गद्य की सम्पन्नता वहीं से आरम्भ होती है, और वह सम्पन्नता चमत्कारक है, गद्य का सम्बन्ध बौद्धिक विकास से है। कुछ लोगों के मत में गद्य व्यवसायात्मिकता लिये रहती है। गद्य की व्यवसायात्मिकता तो प्रेषणीयता के स्तर पर होती है, वस्तुतः उसका सम्बन्ध बौद्धिक सञ्चय से होता है और गद्य की शैलियों का विकास तथा उसके रूपों की समृद्धि और सम्पन्नता बौद्धिक सम्पन्नता की द्योतक है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इस सम्पन्नता की संक्षिप्त झाँकी करायी है, जो बड़ी उपयोगी है। उसमें हमें गद्य के प्रत्येक रूप में हिन्दी की उपलब्धि का कुछ अनुमान लग सकता है; किन्तु इस पुस्तक से उस उपलब्धि को समझने की चेष्टा का आरम्भ ही समझना चाहिये, क्योंकि अभी तक हिन्दी में ऐसी कोई रचना नहीं दिखायी पड़ती जो हिन्दी की उपलब्धि का बौद्धिक योगदान के महत्त्व के साथ कला-तत्त्वों के सौष्ठव के मूल्याङ्कन को निर्भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करती हो, जिसमें गद्य की शैलियों और रूपों के स्तर को नापा-जोखा गया हो, और भाव-सम्पत्ति के बौद्धिक

उपलब्धि के साथ खचित ऐश्वर्य को जिसमें आँका गया हो। यह पुस्तक इस दिशा में एक प्रयास है। गद्यकार एक व्यक्ति भी है, और उसी नाते सामाजिक समष्टि का अङ्ग भी, जिसमें और जिसकी अभिव्यक्ति के द्वारा, यह व्याप्ति अपना प्रकाश दिखाती है, और जिसके द्वारा ही केवल व्यक्तिगत ऐश्वर्य का ही नहीं सामाजिक समष्टि के साहित्यिक और कलात्मक ऐश्वर्य का निर्णय हो पाता है। हरिश्चन्द्र की गद्य का एक रूप किस प्रकार प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, प्रसाद, पन्त और महादेवी में विकसित हुआ है कि जिसमें गद्य की काव्यमय अनुभूतियाँ जीवन की यथार्थता को लेकर बौद्धिक उदारता को पावनता में स्नान करा के मानवता को स्थूल आध्यात्मिकता तक पहुँचा देती हैं; सबल या कोमल गद्य की शैली का यह स्वरूप अपनी महानता के लिए स्वयं एक कसौटी है। उपलब्धि के ऐसे योगदान को हमें अधिकाधिक देखने की आवश्यकता है। उपलब्धि की यह स्थिति हमें हिन्दी के प्रत्येक रूप में मिलेगी। हिन्दी के गद्य के कलाकारों ने अपनी भारतीय आत्मा के रस को अपनी रचनाओं में उँडेला है, उन रचनाओं के रस से उद्भूत सौन्दर्य और शक्ति के द्रष्टाओं की आज अपेक्षा है। इस पुस्तक के लेखक ने आज तक के प्रत्येक कोटि के प्रायः प्रत्येक लेखक को इस परिचय में समेटा है, और संक्षेप में उन उपलब्धियों की ओर संकेत किया है। पाठक उन संकेतों से उनके मूल योगदान के महत्त्व को समझने के लिए प्रेरणा प्राप्त करेंगे, और हिन्दी को आत्मा की महानता और उसकी मानवीय पावनता के बौद्धिक स्वरूप को अधिकाधिक समझने का प्रयत्न करते हुए, गद्यकारों की आत्मा के धर्म को पहिचानेंगे, जिससे साहित्य के यथार्थ ध्येय की सिद्धि हो सकेगी।

—सत्येन्द्र

(एम० ए०, पी-एच० डी०)

रीडर हिन्दी विद्यापीठ आगरा विश्व-विद्यालय,

भाग १

हिन्दी गद्य का विकास

हिन्दी-गद्य का पूर्व वृत्त

साहित्य अथवा किसी अन्य कला का कोई रूप अनायास ही एक दिन जन्म नहीं ले लेता, वरन् उसकी एक निश्चित परंपरा होती है। वह एक सतत् विकास का प्रतिफलन होता है, जो एक निश्चित पूर्वपीठिका के आधार पर क्रमशः विकास और परिवर्तन के आलोडन-प्रत्यालोडन द्वारा एक समय विशेष पर जा कर नितान्त नूतन और अभिनव रूप धारण कर लेता है, जो अपने पुरातन रूप से सर्वथा भिन्न और नवीन होता है। समस्त कलाओं के विकास की यही सतत् धारा है। अपनी परंपरा से हटाकर उसका अध्ययन भ्रममूलक होता है। उसके भावी विकास के बीज उसके पूर्व काल की स्थिति में खोजने चाहिए। तभी हम समय विशेष में उसके विकसित, नवीन-अभिनव रूप को सही रूप में समझ—परख सकते हैं, और उसकी गति का सही विवेचन कर सकते हैं। हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास का भी यही क्रम रहा है। वह एक समय विशेष की आकस्मिक उपज नहीं है।

किन्तु प्रायः हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवेचन में हिन्दी-गद्य-साहित्य से आधुनिक गद्य-साहित्य का ही बोध होता है, और हिन्दी गद्य को अंग्रेजों के भारत-आगमन के पश्चात् ही उनके प्रभाव-जन्य और उद्योग-जन्य उपज माना जाता रहा हैं। यह सत्य नहीं। हिन्दी-गद्य-साहित्य की भी निश्चित पूर्वपीठिका है, और वह निरंतर विकास करता हुआ भारतेन्दु काल में भाषा तथा साहित्य दोनों ही दृष्टियों से एक निश्चित और विकसित रूप को प्राप्त कर सका। तब से वह निरन्तर विकास-रत है। उसके इस विकास क्रम को भली भाँति समझने के लिए आवश्यक है उस पूर्व पीठिका का इतिवृत्त जान लेना।

इसमें सन्देह नहीं कि गद्य में साहित्य के विभिन्न अंगों, विविध विषयों तथा शैलियों का सम्यक रूप से आरम्भ भारतेन्दु के समय से होता है और उस पर निश्चित रूप से अंग्रेजी साहित्य तथा बंगला, मराठी आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव पड़ा था।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना भी ठीक होगा कि जिसे हम आधुनिक हिन्दी गद्य या खड़ी बोली का गद्य साहित्य कहते हैं वह निश्चित रूप से भारतेन्दु के समय से विकास करता है, क्योंकि पूर्वकालिक गद्य अपनी प्रान्तीय बोलियों में ही था और उसका साहित्यिक महत्व भी न था।

हिन्दी गद्य का रूप प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना हिन्दी पद्य का अर्थात् डिंगल-पिंगल काल (आदि काल) से ही विभिन्न बोलियों-राजस्थानी ब्रज, मैथिली, खड़ी बोली आदि का गद्य निरन्तर विकास करता रहा। किन्तु यह सत्य है कि वह मनुष्य की भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम न बनकर उसके व्यावहारिक विचारों की अभिव्यक्ति का ही माध्यम बना रहा। इसी कारण पद्य का साहित्यिक एवं कलात्मक रूप विकसित हो सका, किन्तु गद्य का नहीं। वह केवल मनुष्य के व्यावहारिक साहित्य का रूप होकर ही रह गया। चूंकि साहित्य वह कला है जिसमें मनुष्य के भावावेगों का चित्रण होता है, उसके नीरस, विचारों का नहीं। अस्तु गद्य में उस काल समाज में प्रचलित विभिन्न विचार धाराओं का चित्रण हुआ और वह एक प्रकार से सांप्रदायिक विचारों का माध्यम बन कर रह गया। इस प्रकार हम उस काल के गद्य-साहित्य को साम्प्रदायिक साहित्य कह सकते हैं।

उस साम्प्रदायिक गद्य-साहित्य में साधारणतः एक ही विषय हमें दृष्टिगोचर होता है—नैतिक, पौराणिक, जीवनी एवं ऐतिहासिक—धार्मिक उपदेश, और उसकी शैली थी—उपदेशात्मक—कथावाचक शैली जिसे पंडिताऊ शैली भी कह सकते हैं।

वास्तव में आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी पद्य का वर्ण्य-विषय भी कुछ उतना विविध न था। उसमें भी केवल वीर, भक्ति और शृंगार इन तीन विषयों की ही सामान्यतः कविताएँ होती आ रही थीं यद्यपि इनकी परिसीमा में मानव की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं और भाव-उर्मियों का चित्रण हमें उस काव्य में मिलता है; किन्तु विषय का क्षेत्र इस त्रिकोण में ही सीमित रहा। आधुनिक काल के आरम्भ में भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों के द्वारा इस त्रिकोण की सीमाएँ विस्तृत हुई और हिन्दी कविता जीवन-क्षेत्र के विस्तृत प्रांगण में मानव-मन, मानव-भावना, मानव-समस्याओं के प्रत्येक कोने में स्वच्छन्द विचरण करने लगी। साहित्य अपने सही अर्थों में जन-जीवन का साहित्य बन सका। उसमें विषयगत और शैलीगत विविधता आई।

हिन्दी के स्वर्ण काल—भक्तिकाल की हिन्दी कविता को यदि हम देखें तो वह भी वस्तुतः प्रचलित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही है। साम्प्रदायिक गद्य साहित्य से उसमें केवल अन्तर इतना है कि पद्य में साम्प्रदायिक विचार भावनाओं का आश्रय लेकर और जीवन के सम्पर्क में आकर मानव के मन-प्राण का स्पन्दन बन सके। विभिन्न धार्मिक-विचार अपने संस्कृत और संशोधित रूप में ही तत्कालीन साहित्य को अनुप्राणित

कर सके और साहित्य की अमूल्य निधि बन गए; जब कि उस काल का लिखा गया गद्य-साहित्य कोरा साम्प्रदायिक साहित्य ही रह गया।

अस्तु हिन्दी गद्य के पूर्व-वृत्त का अध्ययन भले ही साहित्यिक दृष्टि से उतना महत्व न रखता हो, किन्तु आधुनिक गद्य साहित्य के विकास क्रम को समझने-परखन के लिए उसे अनदेखा भी नहीं किया जा सकता, भले ही वह इतिवृत्त मात्र ही क्यों न हो।

हम यह ऊपर कह आये हैं कि सामान्य रूप से हिन्दी गद्य और पद्य का जन्म लगभग साथ-साथ ही हुआ था, परन्तु पद्य की अपेक्षा गद्य साहित्यिक रूप से उतना महत्व न ग्रहण कर सका जितना पद्य। अस्तु वह साहित्यिकों की दृष्टि से उपेक्षित ही रहा। आरम्भ में जब नागर तथा अवन्ती अपभ्रंशों से वीर-गाथाकालीन हिन्दी भाषा का जन्म हुआ और (अपभ्रंश-मिश्रित राजस्थानी) डिंगल और बाद में पिंगल (राजस्थानी-मिश्रित ब्रज भाषा) काव्य की भाषा बनी तो उस समय के चारण कवियों ने नीति, धर्म, पुराण, इतिहास, छन्द-शास्त्र, शालिहोत्र, वृष्टि-विज्ञान आदि विषयों पर गद्य में रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उस काल के जैन आदि सम्प्रदायों के लेखकों के साहित्य में भी गद्य का रूप देखने को मिल जाता है। लगभग ४०० वर्षों तक पद्य के साथ ही साथ इस भाषा में गद्य की रचना भी होती रही।

इसके पश्चात् लगभग चौदहवीं शताब्दी के मध्य में ब्रज भाषा साहित्य की प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी। उस काल ब्रज भाषा में भी पद्य के साथ-साथ गद्य-साहित्य की रचना लगभग पाँच सौ वर्षों तक होती रही। उस काल भी गद्य-साहित्य पद्य की समता न प्राप्त कर सका क्योंकि वह तत्कालीन धर्म-सम्प्रदायों के उद्देश्यों की अभिव्यक्ति का माध्यम ही बना रहा। पद्य की अपेक्षा मात्रा में भी गद्य-साहित्य अत्यन्त न्यून था। ब्रज भाषा गद्य में गोरखपंथी साहित्य की सर्व प्रथम रचना के चिन्ह प्राप्त होते हैं। किसी राजस्थानी लेखक ने गोरख-सम्प्रदाय की विचार-धारा पर तीन पुस्तकें लिखी थीं, जिनका विषय था ब्रह्मज्ञान और हठयोग—"गोरख-गणेश-गोष्ठी', 'महादेव-गोरख-संवाद', और "गोरखनाथ जी की सत्रह कला।" किन्तु इन पुस्तकों की प्राचीनता पर विवाद है। लेखक के सम्बन्ध में भी विवाद है कि वह राजस्थानी था या बंगाली।

इस गोरख-पंथी-गद्य-साहित्य के पश्चात् आचार्य वल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथ की ईसा के सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखित एक ब्रज भाषा-गद्य की पुस्तक—'शृंगार-रस-मंडन' प्राप्त हुई है। सत्रहवीं शताब्दी के

पूर्वार्ध में इसी सम्प्रदाय के भक्त गुसांई गोकुलनाथ द्वारा रचित 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' उपलब्ध होती हैं जिनमें वैष्णव-भक्तों और उनके आचार्यों की महिमा सम्बन्धी कथाएँ हैं। इनमें गोकुलनाथ जी का नाम भी बड़े आदर से लिया गया है। इसी साक्ष्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने गोकुलनाथ के इन पुस्तकों का रचयिता होने में सन्देह प्रकट किया है। यहाँ तक आते-आते गद्य की भाषा में एक व्यवस्था आ चली थी। यद्यपि शैली अब भी उपदेशात्मक, कथावाचक, और पंडिताऊ थी, तथापि भाषा में सुस्थिरता और निखार आने लगा था। लगभग उन्हीं दिनों में राम-भक्ति शाखा के भक्त-प्रवर नाभादास ने एक पुस्तक 'अष्टयाम' लिखी। इसमें राम की दिनचर्या का यथाविधि वर्णन किया गया है। लगभग सन् १६२३ के आस-पास ओरछा-नरेश श्री जसवन्तसिंह के एक दरबारी विद्वान वैकुण्ठ मणि ने 'अगहन माहात्म्य' तथा "वैशाख-माहात्म्य" नाम से दो छोटी-छोटी पुस्तकों की रचना की। इसी प्रकार की विषय और विचार प्रधान रचनाओं को हम प्राचीन निबन्ध का रूप कह सकते हैं। इसके पश्चात् के लिखे गये साहित्य को सामान्यतः हम दो वर्गों में बांट सकते हैं—साहित्यिक ग्रन्थों की टीकाएँ तथा स्वतंत्र ग्रन्थ।

इस काल तक आते-आते विद्वानों में गद्य में साहित्यिक रचनाएँ करने की अभिलाषा और रुचि उत्पन्न हो चली थी। यह काव्य-ग्रन्थों की टीकाओं से सिद्ध होता है। इन टीकाओं का साहित्यिक मूल्य भले हो न हो किन्तु इनसे यह बात निश्चित रूप से सिद्ध होती है कि गद्य-साहित्य साम्प्रदायिक-सीमाओं को तोड़कर साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए प्रयत्नशील हो चुका था। किन्तु भाषा की दृष्टि से उसका क्षेत्र सीमित ही रहा।

इसके पूर्व कि हम इस विषय पर आगे प्रकाश डाले यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि हिन्दी-पद्य की एक निश्चित भाषा का जैसा रूप हम साहित्य में देखते हैं वैसा हमें गद्य में नहीं मिलता। गद्य की भाषा विशेष कर बोल-चाल की भाषा ही है। और विभिन्न क्षेत्रों में रचित गद्य-साहित्य इसी लिए विभिन्न भाषाओं में लिखा गया, जब कि एक काल में समस्त हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र की काव्य-भाषा का रूप प्रायः एक ही रहा। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि गद्य धार्मिक उपदेशों और पारस्परिक व्यवहार का माध्यम भी था। इसलिए उपदेशकों ने जनता तक अपनी विचार धारा पहुंचाने के लिए जनता की विविध बोलियों को अपना माध्यम बनाया। किन्तु इस काल तक आते-आते गद्य की भाषा में भी एक निश्चितता आने लगी थी। पद्य की भाषा भी विशेषतः अपनी बोल-चाल के क्षेत्र की सीमा

में ही रही; भले ही साहित्यिक दृष्टि से उसका व्यापक महत्व स्थापित हो गया हो, हालाँकि यह बात भी पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि जिस समय ब्रज भाषा में हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य लिखा गया, उसी समय अवधी में तुलसी और जायसी ने रचना की। रीति काल में ब्रजभाषा में जिन कवियों ने रचना की वे प्रायः ब्रज भाषा क्षेत्र के ही थे या आकर बस गये थे और तब भी अन्य बोलियों में पद्य रचना होती रही, पर वह साहित्यिक महत्व नहीं प्राप्त कर सकी।

टीकाओं में हरिचरनदास-विरचित 'बिहारी-सतसई' की टीका (१७७७ ई०); 'कविप्रिया' की टीका (१७७८ ई०); प्रियादास विरचित 'हरिवंश के चौरासी पदों' की टीका; रामचरन के शिष्य (रामस्नेही पंथ के संस्थापक) रामजन की लिखी हुई 'दृष्टांत-सागर' की टीका और टीका-संयुगति वचनिका (१७८२ ई०); अयोध्या के महन्त रामचरन-विरचित 'रामचरित्-मानस' की टीका (१७८४–८७ ई०); रतनदास-विरचित नागरीदास के 'अष्टक' की टीका; असनी के दूसरे ठाकुर की लिखी हुई 'बिहारी-सतसई की 'देवकीनन्दन' नामक टीका (१८०४ ई०); जानकीप्रसाद की लिखी 'रामचन्द्रिका' की टीका (१८१५ ई०); लछमन-राव द्वारा रचित केशवदास की 'कविप्रिया' पर 'लच्छमन-चन्द्रिका' नाम की टीका (१८१६ ई०); लल्लूलाल की बिहारी-सतसई पर लिखी 'लाल-चन्द्रिका' नाम की टीका (१८१८ ई०); 'कृष्णलाल-विरचित 'बिहारी सतसई' पर 'कृष्ण-चन्द्रिका' नामक टीका; देवातिरथ या काष्टजिह्वा स्वामी की 'मानस-परिचय' नामक टीका (१८३८); काशीनरेश ईश्वरी नारायणसिंह की 'मानस-परिचय-परिशिष्ट' (१८५५ ई०); प्रतापसिंह की मतिराम के 'रसराज' की टीका (१८३६ ई०) और 'बिहारी-सतसई' की 'रत्न-चन्द्रिका' की टीका (१८३६ ई०); बलभद्र की नखशिख पर लिखी हुई टीका; सर्दार कवि की 'रसिकप्रिया' की टीका (१८४६ ई०); सूरदास के दृष्टि कूटों की टीका (१८४७) आदि-आदि उल्लेखनीय हैं। प्रायः उस काल में जितने भी प्रमुख पद्य-ग्रन्थ लिखे गए थे उन सब की गद्य में टीकाएँ प्रस्तुत हो गईं थीं। यद्यपि यह टीकाएँ संस्कृत की 'इत्थमर' और कथंभूत' वाली पद्धति पर लिखी गईं थीं। उनकी भाषा भी बड़ी अनगढ़ और शिथिल थी। न उनमें रचना की विवेचना मिलती है और न उन्हें हम गद्य शैली का प्रौढ़ उदाहरण मान सकते हैं; तथापि इन टीकाओं से यह तो स्पष्ट ही है कि पूर्वकाल में जहाँ साहित्य का अध्ययन भक्ति-भावना और धार्मिक सम्प्रदाय की दृष्टि से होता था, वहाँ अब सत्रहवीं शताब्दी के लगभग मध्य से साहित्यिक रचनाओं के साहित्यिक अध्ययन की प्रवृत्ति

आरम्भ हुई। इस प्रवृत्ति ने उस काल के लेखकों को इस सीमा तक प्रभावित किया कि उन्होंने काव्य में भी साहित्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी विवेचनात्मक पुस्तकों की रचना कर डाली। इससे एक बात और भी सिद्ध होती है कि गद्य अपनी साम्प्रदायिक सीमाओं को तोड़कर अधिक व्यापक रूप से शिक्षित समुदाय में साहित्यिक भावाभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भी जड़ें जमाने लगा।

जब एक ओर पद्य-ग्रन्थ की टीकाएँ गद्य में प्रस्तुत हो रही थीं, इसी समय स्वतन्त्र गद्य-ग्रन्थों की रचना भी सतत् गति से चल रही थी। ईसा की अठारहवीं शती के प्रारम्भ में ओरछा नरेश जसवन्तसिंह के दरबारी बैकुण्ठ-कवि ने "अगहन माहात्म्य" और "वैशाख माहात्म्य" नाम की दो छोटी पुस्तिकाएँ संस्कृत कथाओं के आधार पर लिखी थीं। किसी अज्ञात लेखक ने १७०३ के लगभग 'नासिकेतो पाख्यान' की रचना की। १७१० के लगभग सूरतमिश्र ने 'वैताल-पचीसी' की रचना की। लल्लूलाल ने बाद को खड़ी बोली में इसका रूपान्तर प्रस्तुत किया। प्रियादास-रचित 'सेवक-चन्द्रिका' (१७७९) तथा जयपुर नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से हीरालाल द्वारा लिखित 'आईने--अकबरी' की भाषा वचनिका (१७९५ ई०) आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य का रूप उस समय तक चलता रहा जब तक कि खड़ी बोली पूर्ण रूप से गद्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित न हो गई। यहाँ तक कि भारतेन्दु के समय तक गद्य में ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होता है। उनकी नाटिका चन्द्रावली की भाषा ब्रजभाषा ही है, किन्तु उसके बाद खड़ी बोली को निर्विवाद रूप से गद्य की भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया और ब्रजभाषा का गद्य के क्षेत्र से सर्वथा लोप हो गया।

खड़ी बोली का गद्य

खड़ी बोली में गद्य-ग्रन्थों की रचना के चिन्ह हमें काफी प्राचीन समय से मिलते हैं। वस्तुतः ब्रजभाषा की भाँति ही खड़ी बोली भी हिन्दी की एक प्रमुख बोली के रूप में विकसित होती रही और उसमें भी स्थानीय रूप से साहित्य की रचना होती रही। इसके अतिरिक्त अनेक घुमक्कड़ साधुओं की खिचड़ी भाषा में भी खड़ी बोली के शब्द मिलते हैं।

मुगल साम्राज्य की स्थापना के साथ दिल्ली और मेरठ के आसपास की भाषा ने जो रूप ग्रहण किया, उसे खड़ी बोली कहा जाने लगा। वस्तुतः इस खड़ी बोली के विकास के बीज तो उस समय से ही पड़ गए थे, जब इस क्षेत्र में मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना हुई थी। मुगल साम्राज्य के समय तक तो उसने अपना एक निश्चित् रूप ग्रहण कर लिया था और उसे खड़ी बोली

कहा जाने लगा था। आरम्भ में मुसलमान फकीरों और पीरों ने इस भाषा में गद्य की रचना की। कुछ विद्वान खड़ी बोली को मुसलमानों के सम्पर्क से जन्मी भाषा मानते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि इस बोली के चिन्ह हमें अपभ्रंश के ग्रन्थों में और उत्तर मध्यकाल के सन्तों की वाणी में मिल जाते हैं। मुगल साम्राज्य की स्थापना के साथ तो इस भाषा में निखार और विशेषता आई और यह शिष्ट-शिक्षित समुदाय के व्यवहार की भाषा बन गई। इस प्रकार हम खड़ी बोली को भी दसवीं शताब्दी के आसपास की उपज मान सकते हैं और उसका जन्म भी अपभ्रंश से ही हुआ था। जैन विद्वान हेमचन्द सूरी के व्याकरण के ग्रन्थ 'सिद्ध-हेमचन्द-शब्दानुशासन' (१०६३–११४२ ई०), कवि नरपति नाल्ह विरचित 'बीसलदेव रासो' (११५५ ई०), अमीर खुसरो की पहेलियों और कबीर की साखियों में हमें खड़ी बोली के शब्द और वाक्य-विन्यास का अस्तित्व मिल जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुगल काल में मुगल संस्कृति के प्रभाव से खड़ी बोली ने जो रूप ग्रहण किया, जिस रूप में वह शिष्ट-व्यवहार की भाषा बनी, उससे पूर्व अपने शुद्ध देशी रूप में उसका अस्तित्व था और उसमें भी गद्य-ग्रन्थों की रचना होती थी। खड़ी बोली का सर्व प्रथम उल्लेखनीय गद्य-ग्रन्थ 'चन्द-छन्द-वर्णन की महिमा' प्राप्त हुआ है, जो अकबर के दरबार के गंग कवि का कहा जाता है। इस ग्रन्थ की भाषा में हमें आधुनिक खड़ी बोली के कुछ प्राचीन रूपों के दर्शन प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त हुआ है। इसके पश्चात् एक लम्बे व्यवधान के बाद रामप्रसाद निरंजनी विरचित 'भाषा योग-वाशिष्ठ' (१७४१ ई०) प्राप्त होता है। इसकी भाषा परिमार्जित और पुष्ठ खड़ी बोली है। भारतेन्दु ने राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की 'आमफहम हिन्दी' और राजा लक्ष्मणसिंह की 'शुद्ध हिन्दी' के झगड़े में बीच के जिस शुद्ध हिन्दी के रूप को गद्य-भाषा का रूप प्रदान किया, उसका कुछ रूप हमें रामप्रसाद निरंजनी की भाषा में देखने को मिल जाता है—"हे रामजी ! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्टानिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। × × मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे और हर्ष-शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग भय क्रोध से रहित रहोगे।" इस भाषा में वाक्य-गठन, विरामादि चिन्हों का प्रयोग, शब्द-योजना सब कुछ आधुनिक खड़ी बोली का आरम्भिक रूप प्रस्तुत करते हैं। इस तथ्य से यह बात भी निर्विवाद रूप से सत्य सिद्ध होती है कि खड़ी बोली का गद्य अरबी-फारसी के प्रभाव से सर्वथा स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ था। उसका अपना वाक्य-

गठन था, उसके अपने शब्द थे, और उसकी अपनी शैली थी। यह अन्य बात है कि अरबी-फारसी के कुछ शब्दों का प्रयोग उसमें होने लगा था। वस्तुतः उर्दू उसी खड़ी बोली का फारसी गर्भित रूप है। यहीं से उसकी दो स्वतन्त्र धाराएँ विकसित हुईं—फारसी-गर्भित रूप—उर्दू; संस्कृत-गर्भित रूप—हिन्दी।

रामप्रसाद निरंजनी के पश्चात् पंडित दौलतराम ने रविषेणाचार्य के 'जैन पद्मपुराण' का भाषानुवाद (१७६१ ई०) किया, पर इनकी भाषा निरंजनी की भाषा से कुछ भिन्न थी। सन् १७७३–८३ के बीच राजस्थान के किसी अज्ञात लेखक ने 'मंडोवर का वर्णन' लिखा। इसकी भाषा साधारण बोलचाल की भाषा थी जिस पर उर्दू का प्रभाव था।

"अव्वल में यहाँ मण्डव्य ऋषी का आश्रम था। इसी सबब से इस जगह का नाम मण्डव्याश्रम हुआ। इस लफज को बिगाड़ कर मण्डोवर हुआ।"

मुग़ल साम्राज्य के विस्तार के साथ तथा दिल्ली के आस-पास के लोगों के साथ यह भाषा सुदूर प्रांतों में फैली। जब मुग़ल साम्राज्य का ह्रास हुआ तब दिल्ली और मेरठ के आसपास के धनिक, दरबारी तथा अनेक लोग इस क्षेत्र से पलायन कर दूर प्रदेशों में चले गए और वहाँ उनकी बस्तियाँ बस गईं। वहाँ यह खड़ी बोली ही अनेक पारस्परिक व्यवहार और फिर उस स्थान के अन्य लोगों से व्यावहारिक आदान-प्रदान की भाषा बनी। इस प्रकार खड़ी बोली ने अन्तर-प्रान्तीय व्यापकता प्राप्त की। यह भाषा स्थानीय न रहकर एक विस्तृत क्षेत्र में परस्पर आदान-प्रदान की भाषा हो गई। यद्यपि इस भाषा ने ब्रज भाषा के समान साहित्यिक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त की थी, तथापि शिष्ट समुदाय के व्यवहार की भाषा का गौरव इसे प्राप्त हो चला था। और यह आवश्यक न रहा था कि यह अपने बोलने-चालने वालों की मातृ भाषा रही हो। साथ ही मौखिक आदान-प्रदान के अतिरिक्त खड़ी बोली ने लिखित रूप में भी अन्तर्प्रान्तीय व्यापकता प्राप्त करली थी। जिन पं० दौलतराम का उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं, उन्होंने राजस्थानवासी होते हुए भी 'पद्मपुराण' की रचना की थी और 'मण्डोवर' की रचना भी एक अज्ञात राजस्थानी लेखक ने की थी।

इस प्रकार खड़ी बोली ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से ब्रज भाषा की अपेक्षा अधिक व्यापक क्षेत्र के गद्य-साहित्य का माध्यम बनी थी। जब भारत में अंग्रेजी-राज्य की स्थापना हुई थी, उस समय तक खड़ी बोली व्यापकता प्राप्त कर चुकी थी और वह प्रायः समस्त उत्तर-भारत के शिष्ट समुदाय की भाषा का रूप ले चुकी थी। अंग्रेजों ने भी अपनी राज्य-

स्थापना के बाद, अपने राज्य-संस्थापन के लिए एक व्यापक भाषा की आवश्यकता अनुभव की और खड़ी बोली को ही ग्रहण किया क्योंकि यही उपरोक्त वर्णित ऐतिहासिक एवं राजनैतिक कारणों से सर्वाधिक व्यापक भाषा थी।

यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि अंग्रेजों की राज्य-स्थापना के समय तक खड़ी बोली के दोनों रूप—फारसी मिश्रित उर्दू, संस्कृत गर्भित-हिन्दी—पूर्णतः विकसित हो चले थे और उत्तर भारत में यह दोनों ही रूप प्रचलित थे। अस्तु जब अपनी राजकीय आवश्यकताओं से प्रेरित होकर अंग्रेजों को यहाँ की भाषा सीखने-सिखाने की आवश्यकता पड़ी तो इन दोनों प्रचलित रूपों में ही उन्होंने पाठय-पुस्तकें तैयार कराने का कार्य किया। उसे हम पाठ्य-पुस्तकों का काल कह सकते हैं। सन् १६०३ फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के समय हिन्दी और उर्दू में पुस्तकें तैयार कराने का कार्य आरम्भ हुआ। अंग्रेजों ने पद्य की अपेक्षा गद्य को अधिक प्रश्रय दिया। यह यहाँ पर एक संगत और विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका हम यथास्थान आगे चलकर विवेचन करेंगे। यहाँ केवल इतना कह देना ही पर्याप्त है कि इस काल मनुष्य का जीवन अधिक व्यावहारिक, संकुल और विविध पक्षीय हो चला था जिसमें भावना की कोमलता को स्थान कम था, जीवन की ठोसता का महत्व अधिक था और गद्य ही उसका उपयुक्त माध्यम सिद्ध हुआ।

अंग्रेज़ और हिन्दी

जॉन गिल क्राईस्ट की प्रेरणा से मुंशी सदासुखलाल ने 'श्रीमद्भागवत्' का हिन्दी में स्वतंत्र अनुवाद 'सुखसागर' नाम से किया। सुखसागर का गद्य वैसा ही परिमार्जित और सुष्ठु है, जैसा रामप्रसाद निरंजनी के 'योग वाशिष्ठ' का था। शैली वैसी ही पंडिताऊ थी जैसे "होतभयो........" आदि। इंशाअल्लाखां ने 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' लिखी। इसको हिन्दी गद्य की प्रायः प्रथम मौलिक रचना होने का गौरव प्रदान किया जाता है और हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी होने का भी गौरव दिया जाता है। इंशाअल्ला ने 'ठेठ खड़ी बोली' में इस कहानी को लिखने का प्रयास किया था; किन्तु इसमें फारसी पद्धति के वाक्य-विन्यास का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। भाषा चलताऊ, मुहावरेदार और विनोदपूर्ण है। सदलमिश्र और लल्लूलाल ने अंग्रेजों की योजना के अनुसार अंग्रेजी से पाठ्य-पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया। लल्लूलाल ने भागवत् के दशम-स्कंध की

कथा के आधार पर 'प्रेमसागर' की रचना की। उन्होंने मूल भागवत को आधार न बनाकर चतुर्भुजदास कृत ब्रज भाषा में दशमस्कंध के पद्यानुवाद को अपना आधार बनाया, जिससे भाषा में ब्रज भाषा का प्रभाव स्पष्टतः दीख पड़ता है। शैली कथावाचक और पंडिताऊ है। भाषा भी अनगढ़ और अव्यवस्थित है। किन्तु आपके द्वारा ही अनुवादित 'बैताल-पचीसी', 'सिंहासन-बत्तीसी', 'शकुन्तला नाटक', और 'मधोनल' की भाषा अपेक्षतया सरल, मधुर चलताऊ और मुहावारेदार है। सदल मिश्र भी फोर्टविलियम कालेज में काम करते थे। उन्होंने 'चन्द्रवती' या नासिकेतोपाख्यान' की रचना खड़ी बोली गद्य में की। आपकी भाषा लल्लूलाल की भाषा की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और मुहावरेदार है, पर उसे भी सुगढ़ और सुथरी भाषा नहीं कहा जा सकता। यत्र-तत्र ब्रज भाषा और पूर्वी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इन दोनों की अपेक्षा मुंशी सदासुखलाल और इंशा अल्लाखाँ की भाषा अधिक व्यवस्थित, सुगढ़ और सुथरी है।

ईसाई पादरियों ने अपनी धर्म-पुस्तक बाइबिल का अनुवाद हिन्दी खड़ी बोली गद्य में करवाया था। उन्होंने मुन्शी सदासुखलाल की भाषा को आदर्श माना था। उसके बाद निरन्तर उनकी प्रचार-पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित होती रहीं, जिनके द्वारा हिन्दी गद्य का प्रचार-प्रसार होता रहा।

इन्हीं दिनों ईसाइयों के प्रचार की प्रतिक्रिया स्वरूप शुद्धि का आन्दोलन लेकर स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। उन्होंने भी अपने प्रचार के लिए खड़ी बोली के शुद्ध हिन्दी रूप को ही ग्रहण किया। उनके द्वारा भी हिन्दी का प्रचार—हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के बाहर दूर-दूर तक फैल गया।

अँग्रेजों द्वारा स्थापित स्कूलों में हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों की माँग पूर्ति के लिए पादरियों ने आगरे में लगभग सन् १८३३ में 'स्कूल बुक सोसायटी' की स्थापना की। इस सोसायटी की ओर से पं० रतनलाल ने सन् १८३९ में मार्शमैन कृत इँगलैण्ड के इतिहास का अनुवाद 'कथासार' के नाम से किया और सन् १८४० में पंडित ओंकार भट्ट ने 'भूगोलसार' तथा बद्रीलाल शर्मा ने "रसायन प्रकाश" पुस्तकों की रचना की।

इसी समय कानपुर से सन् १८३३ में पं० जुगुलकिशोर के सम्पादन में हिन्दी का प्रथम साप्ताहिक पत्र "उदंत-मार्तण्ड" निकला जो एक वर्ष चलकर अर्थाभाव के कारण बन्द हो गया।

इसी समय १८३५ ई० के लगभग अदालती भाषा का वाद-विवाद छिड़ गया और अन्ततोगत्वा उर्दू ही अदालत की भाषा ठहरी। इसकी प्रतिक्रिया

स्वरूप राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' 'आमफ़हम हिन्दी' अर्थात् उर्दू-बहुल हिन्दी के पक्षधर हो गए और राजा लक्ष्मणसिंह उनके विरोध में शुद्ध हिन्दी के। राजा शिवप्रसाद ने अँग्रेजी स्कूलों में हिन्दी को स्थान दिलाने में बड़ा प्रयत्न किया और वस्तुतः उन्हीं के प्रयत्नों से उसे उस समय स्कूलों में स्थान प्राप्त हुआ। आप अनेक विद्वानों से पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण भी करवाया था। राजा लक्ष्मणसिंह ने रामप्रसाद निरञ्जनी और मुन्शी सदासुखलाल की भाषा को आदर्श माना था। उन्होंने अपनी भाषा के प्रचार के लिए आगरा से 'प्रजा-हितैषी' (१८६१ ई०) नाम का एक पत्र भी निकाला था। राजा साहब ने कालीदास के रघुवंश तथा 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया जो आज भी अपना महत्व रखता है।

इसके पूर्व सन् १८४० में काशी से तारामोहन मित्र ने 'सुधाकर' नाम का एक पत्र निकाला और इसके दो वर्ष बाद आगरे से किसी मुन्शी सदासुखलाल ने 'बुद्धि प्रकाश' नाम का एक पत्र निकाला था। इन पत्रों ने भी हिन्दी प्रचार के कार्य में बड़ा काम किया।

जिन दिनों उत्तर भारत में राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी के प्रचार-कार्य में प्रयत्नशील थे लगभग उन्हीं दिनों पञ्जाब में बाबू नवीनचन्द्रराय ने समाज सुधार और स्त्री-शिक्षा का कार्य आरम्भ किया। उन्होंने पञ्जाब में ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए समय-समय पर हिन्दी में कई पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं और कई पुस्तकें भी लिखीं जो अनेक वर्षों तक स्कूलों में पाठ्य-पुस्तकों के रूप में पढ़ाई जाती रहीं। आपसे प्रेरित होकर पञ्जाब के 'प्राच्य महाविद्यालय' के अध्यापक पं० सुखदयालु शास्त्री ने 'न्याय बोधिनी' पुस्तक लिखी। इसी बीच पञ्जाब के अति प्रतिभावान लेखक श्रद्धाराम फिल्लोरी के व्याख्यान-कथाएँ प्रांत की जनता में नव-जीवन का सञ्चार कर रही थीं। अभी वहाँ आर्य-समाज की स्थापना नहीं हो पाई थी, इसके पहिले ही उन्होंने नवीन सामाजिक चेतना का सञ्चार का कार्य आरम्भ कर दिया था। आप संस्कृत के विद्वान् थे और पञ्जाबी, हिन्दी तथा उर्दू में भी लिखते थे। आपने 'सत्यामृतप्रवाह' नामी धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों पर विचारपूर्ण पुस्तक लिखी और आपके व्याख्यानों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए। आपने 'भाग्यवती' नामक एक सामाजिक उपन्यास भी सन् १८७६ में लिखा था, जो उन दिनों काफी प्रशंसित हुआ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु के हिन्दी साहित्य में प्रादुर्भूत होने से पहले हिन्दी गद्य एक व्यापक क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित कर चुका था और खड़ी बोली ही उस गद्य की सर्वसम्मत भाषा थी। खड़ी बोली ही

निर्विवाद रूप से गद्य की भाषा क्यों बनी इसके ऐतिहासिक कारण हैं जिनका हम यथास्थान आगे चल कर विवेचन करेंगे।

जिस समय भारतेन्दु ने हिन्दी में रचना आरम्भ की उस समय गद्य का साहित्यिक रूप नितान्त नगण्य था, जैसा कि हम उपरोक्त पूर्ववृत्ति से जान चुके हैं। यद्यपि खड़ी बोली निर्विवाद रूप से गद्य की भाषा मान ली गई थी, तथापि इसका रूप न तो स्थिर हो पाया था और न परिमार्जित ही। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह का विवाद भी अपनी जगह पर था। अस्तु भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों के सम्मुख प्रमुख रूप से तीन कार्य थे :—(१) गद्य के साहित्यिक रूपों का निर्माण और संवर्धन करना, (२) भाषा के रूप को सुस्थिरता और सुनिश्चतता प्रदान कर परिमार्जित करना तथा (३) साहित्य में जन-भावनाओं के यथार्थ सत्यों का चित्रण कर उसे वास्तविक अर्थों में जन-जीवन का साहित्य बनाना और उसे जनता तक ले जाकर नवीन राष्ट्रीय जागरण के लिए सबल और समर्थ अस्त्र बनाना। सामान्यतः प्रमुख रूप से इन्हीं तीन कार्यों से हिन्दी (खड़ी बोली) गद्य के युग के प्रथम चरण—भारतेन्दु काल का आरम्भ हुआ जिसे हम हिन्दी साहित्य का अभ्युदय काल भी कह सकते हैं।

गद्य और पद्य का सापेक्षिक महत्व

आज हिन्दी साहित्य में ही क्या विश्व के समस्त साहित्यों में गद्य और पद्य दोनों ही साहित्य की दो समर्थ प्राणवान धाराएँ हैं। यद्यपि गद्य साहित्य का स्रोत-उद्गम उतना प्राचीन नहीं जितना पद्य का है, किन्तु आज के इस संकुल-जटिल जीवन में गद्य का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है। पद्य यदि मनुष्य के भावुक आवेश के क्षणों की अभिव्यक्ति का रूप-विधान (Form) है, तो गद्य उसके बहुधन्धी एवं बहुव्यवहारी संकुल-जटिल जीवन के ठोस कठिन बौद्धिक चिन्तन-मनन की उपज है। पद्य में यदि भावना की अभिव्यक्ति का आधिक्य होता है, तो गद्य में विचारशील ठोस यथार्थ पर अधिक बल होता है। पद्य यदि मनुष्य की भावनाओं के चित्रण की सूक्ष्म पद्धति है तो गद्य उसकी भावनाओं के चित्रण की स्थूल और विस्तारपूर्ण प्रणाली है। हमारे इस कथन का अभिप्राय यह नहीं कि पद्य में भावना होती है तो यथार्थ नहीं और गद्य में विचारशीलता और ठोस यथार्थता होती है तो भावना नहीं, पद्य में यदि चित्रण की सूक्ष्म प्रणाली होती है तो चित्रण की विस्तारपूर्ण शैली नहीं होती। यहाँ हमारा तात्पर्य है प्रमुखता से। दोनों ही मानव जीवन के दो विभिन्न विकास-स्तरों के विभिन्न चरणों की उपज है। पद्य का जन्म पहले हुआ और गद्य का बाद में। विभिन्न युगों की आवश्यकताएँ ही दोनों की जननी हैं। अस्तु उनका महत्त्व भी उसी तरह भिन्नरूपी है। किसी का महत्त्व अपने रूप में एक दूसरे से घट-बढ़ कर नहीं है। अस्तु गद्य-पद्य के सापेक्षिक महत्त्व से यहाँ हमारा एक का दूसरे पर महत्त्व स्थापित करने का अभिप्राय नहीं और यह प्रयास भी निरर्थक, बेसूद और भ्रमात्मक होगा। दोनों का ही अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। यहाँ हमारे अध्ययन का अभिप्राय केवल इतना होगा कि हम जान सकें कि साहित्य की यह दोनों प्राण-वान धाराएँ किन-किन सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में जन्मी, उनका सामाजिक दायित्व और उपयोगिता क्या है और आज के सामाजिक जीवन में दोनों का क्या सापेक्षिक महत्त्व है ?

दोनों के उस स्वतन्त्र महत्व को समझने के लिए हमें उनके उद्गम और विकास क्रम पर नज़र डालनी होगी।

मनुष्य आदिम युग में किस माध्यम से अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति करता होगा उसका अनुमान लगा सकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है;

किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसने एक निश्चित् भाषा के अभाव में अपने मन के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए कुछ संकेत निश्चित् कर लिए होंगे। उन संकेतों में स्वर की प्रधानता रही होगी। मानव अपने स्वर के सुरीलेपन, कर्कशता, भारीपन आदि से तथा मुखाकृति और इंगितों से आह्लाद, क्रोध और हर्ष-विषाद आदि मनोभावों को अभिव्यक्त करता होगा। यह संकेत ही आरम्भ में पूर्ण वाक्य की अर्थ बोधकता की शक्ति रखते थे। कुछ दिनों बाद जब प्राणी कुछ शब्दों की रचना करने में समर्थ हुआ तो अनेक शब्द-समूह ही पूर्ण काव्य का बोध कराते थे, जिन्हें हम शब्द वाक्य कह सकते हैं। तीसरे स्तर में मानव ने अनेक शब्दों के समूह से खण्ड काव्य की रचना की और यह खण्ड वाक्य ही पूर्ण वाक्य के अर्थ की बोधकता रखते थे। भाषा विज्ञान से हमें यह तथ्य प्राप्त होता है कि इसी प्रकार संकेत-समूहों, शब्द-वाक्यों तथा खण्ड-वाक्यों से क्रमिक रूप से विकसित होकर पूर्ण वाक्यों का निर्माण हुआ है। यह शब्द-वाक्य और खण्ड-वाक्य भावावेश के आधिक्य में उच्चारण में कुछ पद्य की सी ध्वनि उत्पन्न करते होंगे और अनायास और अप्रयास ही पद्य का अनगढ़ रूप उपस्थित हो जाता होगा। आज भी हम जब वाक्यों को खण्डित कर उच्चरित करते हैं तो उनमें एक स्वरता और लय आ जाती है। आरम्भ के उन शब्द-वाक्यों और खण्ड-वाक्यों की स्वरपूर्ण अभिव्यक्ति को ही कालान्तर में संभवतः पद्य का नाम दिया गया होगा और उसके सुरीलेपन के कारण भी आरम्भिक मानव ने उसे अधिक अपनाया होगा। आरम्भ में मानव का जीवन अत्यन्त सरल और भावपूर्ण था। कालान्तर में मानव विकास के साथ जब उसका जीवन विविध और जटिल हो गया, समाज व्यवस्था, खेती-बाड़ी, उद्योग धन्धों आदि जीवन के व्यावहारिक पेशों का प्रसार हुआ; तब पद्य मानव की भावात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्थिर हो गई और खण्ड वाक्य से विकसित होकर पूर्ण वाक्य के रूप में गद्य उसके पारस्परिक विचार-विनिमय का माध्यम बन गया। इस तरह आदिम युग में सम्भवतः इन दो पृथक रूपों का दो पृथक आवश्यकताओं को लेकर जन्म हुआ था। इतिहास के किस चरण में यह सब हुआ होगा यह कह सकना सम्भव नहीं। यह सम्भवतः उस समय हुआ होगा जब लेखन कला का जन्म हुआ होगा। लेखन कला के जन्म के साथ गद्य साहित्य का आरम्भ होता है क्योंकि पद्य तो मौखिक रूप से अपने रूप को सुरक्षित रखते हुए जीवित रह सकता है किन्तु गद्य नहीं। मौखिक रूप से गद्य का रूप परिवर्तित हो जाता। अस्तु वह लेखन कला के आविष्कार के साथ ही उत्पन्न हुआ यह बात प्रायः निश्चित है।

पद्य मानव का अधिक प्रश्रय पा सका क्योंकि उस समय तक लेखन-प्रणाली का प्रचलन नहीं हो पाया था। श्रुति-परम्परा से ही बातें याद रखी जाती थीं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलती थीं। यही नहीं श्रुति-परम्परा से ही उस आदिम युग में मानव-सभ्यता, संस्कृति और विचार एक से दूसरे युग तक प्रसारित होते थे। इस लिए पद्य को उस काल में अधिक अपनाया गया था।

आरम्भिक मानव अधिक कल्पनाशील होता था, क्योंकि उसके जीवन में भौतिक संघर्ष का अभाव था और पद्य ही उसकी कल्पना-शील भावनाओं के लिए उपयुक्त माध्यम बना।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि :—

(१) शब्द-वाक्यों और खण्ड-वाक्यों के रूप में मानव ने प्रथमतः पद्य की समानता जैसी स्वरता तथा लय पूर्ण अभिव्यक्ति को, अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया होगा।

(२) पद्य में स्मरण किए जा सकने की सुगमता के कारण भी उसे अपनाया होगा।

(३) कर्ण-प्रियता और स्वर-प्रियता भी उसके अपनाए जाने का एक कारण हो सकता है।

(४) उस काल का मानव अधिक कल्पना-शील था इसलिए भी उसने अभिव्यक्ति की भावुकता-पूर्ण प्रणाली—पद्य ही को अपनाया होगा।

अतः संसार की समस्त भाषाओं का आरम्भिक साहित्य पद्य-बद्ध ही मिलता है। यह बात केबल प्राचीनतम मूल भाषाओं के सम्बन्ध में ही सत्य नहीं है, वरन् यह भी सत्य है कि एक भाषा के स्थान पर जब-जब दूसरी भाषा ने स्थान लिया तो उसका आरंभिक साहित्य भी पद्य-बद्ध ही रहा।

जैसे-जैसे मनुष्य सभ्यता की ओर विकास करता गया उसका जीवन विविधमुखी होता गया। उसने जीवन के तत्वों पर विचार करना आरम्भ किया। उसके यह सारे प्राथमिक विचार पद्य ही में हैं क्योंकि लिपि के अभाव में वह इन्हें इस रूप में सुगमता से याद रख सकता था। किन्तु पारस्परिक विचार-विनिमय तथा मनन वह गद्य में ही करता होगा। इस प्रकार मानव-विकास के आदिम चरण में यह दोनों रूप अपनी विभिन्न उपयोगिताओं और आवश्यकताओं की दृष्टि से विकसित हुए।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं, जब एक भाषा का स्थान दूसरी भाषा ने लिया तब उसका प्राथमिक साहित्य पद्य—बद्ध ही था। हिन्दी साहित्य का आरम्भ भी पद्य से ही होता है। इंगलैण्ड में भी जब लैटिन के बाद उसके स्थान पर अँग्रेजी साहित्य की भाषा बनी तो उसमें पहली रचना पद्य ही में हुई थी। भारत में ही पाली प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का आरम्भिक रूप भी प्रायः पद्य का ही रहा।

मानव की भौतिक समृद्धि के युग में ही संसार की समस्त भाषाओं में गद्य का विकास हुआ है। संस्कृत साहित्य में भी गद्य का जन्म उस समय हुआ, जब मानव जीवन भौतिक दृष्टि से अधिक संकुल और विविध पक्षी हो गया था।

संस्कृत में उत्तरवेद काल में गद्य व्यवहार की भाषा के रूप में मान्य हो चुका था और प्रथमतः यजुर्वेद में हमें उसका रूप देखने को मिलता है। उस काल का समस्त साहित्य प्रायः धार्मिक महत्व का ही था। रामायण और महाभारत काल से प्रायः शुद्ध साहित्य का काल आरम्भ होता है। गद्य का साहित्यिक रूप नाटकों से आरम्भ होता है और 'भास जो ईसा के पहले का कवि था, प्रायः संस्कृत का सबसे पहला साहित्यिक गद्य लेखक था। उसका चरम उत्कर्ष कालिदास और बाण के समय तक चलता है। यह भारतीय संस्कृति का स्वर्ण-युग था, जब कि सभ्यता, संस्कृति, भौतिक समृद्धि, शिक्षा, कला आदि सबका विकास हो रहा था और विचारों में एक वैज्ञानिक घनत्व और गांभीर्य आ चला था। अप्रभ्रंश के बाद जब हिन्दी का विकास आरंभ हुआ तो उसमें भी पद्य-साहित्य का ही जन्म पहले हुआ। उसके पृष्ठ पर जैनियों का अपभ्रंश साहित्य, सिद्धों और नाथों का साहित्य तथा वीर रस की कविताएँ थीं। यही परम्परा हिन्दी में भी आई। और वीर रस की कविताएँ अधिक रची गईं, क्योंकि उस काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों में उसके बीज विद्यमान थे। राजा परस्पर युद्ध करते थे और उनके दरबारों में चारण-भाटों द्वारा उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए वीर रस की कविता ही सबसे अधिक उपयुक्त थी। यह ह्रास का काल था। जीवन संकुचित हो गया था और मनुष्य का बिकास अवरुद्ध हो गया था। फलतः वह कल्पना-शील और भावुक अधिक हो गया था और पद्य के लिए भूमि तैय्यार थी। साम्प्रदायिक साहित्य के रूप में गद्य इस युग में भी विद्यमान था, इसका विवेचन हम पीछे कर आए हैं।

अंग्रेजी साहित्य को देखने से भी विकास का यही क्रम दृष्टिगोचर

होता है। वहाँ गद्य समज के चौमुखी विकास के समय की उपज है। अंग्रेजी का गद्य राजा एल्फ्रेड के काल में लैटिन के विरोध में अंग्रेजी को समृद्ध बनाने की भावना के साथ हुआ था और राजा ने स्वयं अनेक पुस्तकें लैटिन से अंग्रेजी गद्य में अनुवाद की थीं और दूसरों से भी कराई थीं। उस समय लैटिन देश पर छाई हुई थी। उसके विरोध में सांस्कृतिक सुधार और अपनी राष्ट्र-भाषा के उत्थान की राष्ट्रीय भावना ने गद्य को जन्म दिया था। रेनेसां के बाद राष्ट्रीय जागरण की व्यापक भावना के प्रसार के साथ युरोप में आधुनिक-गद्य-साहित्य का सूत्रपात होता है।

गत अध्याय में हम यह देख आए हैं कि यद्यपि हिन्दी गद्य का प्रचलन दसवीं शताब्दी से ही छुट-पुट रूप से आरम्भ हो गया था किन्तु साहित्यिक दृष्टि से उसकी प्रतिष्ठा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही हुई है। और उसका विकास भारतेन्दु से आरम्भ होता है। यहीं से हिन्दी के आधुनिक युग का भी आरम्भ होने लगता है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब एक बार संस्कृत में गद्य-साहित्य का निर्माण हो गया तो उसके बाद विकसित अन्य भाषाओं में साहित्य-सृजन का आरम्भ पद्य से ही क्यों हुआ? इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि आरम्भ से ही अपनी उपादेयता और उपयोगिता के कारण—जिन दो भिन्न आवश्यकताओं से गद्य और पद्य का विकास हुआ और परिणामतः पद्य में मानव-भावना की अभिव्यक्ति के माध्यम होने से अधिक मार्मिकता, संवेदनीयता आगई और उसने अधिक गौरव प्राप्त कर लिया था जब कि गद्य विशेषतः विचार-विनियम का माध्यम बना रहा। गद्य में यद्यपि साहित्य की रचना हुई तथापि वह पद्य के गौरव को प्राप्त न कर पाया और उस गद्य-साहित्य की वाक्य-रचना में कवित्व ही प्रधान रहा। सम्भवतः उसी लिए एक भाषा के स्थान पर जब दूसरी भाषा आई तो मानव-समाज के हृदयों पर अपना प्रभाव स्थापन के निमित्त उसने मानव-हृदय की अभिव्यक्ति के माध्यम पद्य को ही प्रथम अपनाया और बाद में गद्य में भी रचना होने लगी और वह भी केवल विचारात्मक नीरस साम्प्रदायिक गद्य का। गद्य पद्य की समानता में आधुनिक युग के आरम्भ से पहले कभी भी गौरव प्राप्त न कर सका।

आधुनिक युग में गद्य एक समर्थ, सशक्त और पद्य के समान ही गौरव-शाली, भावाभिव्यक्ति के माध्यम रूप में विकसित हुआ। अँग्रेजी साम्राज्यवाद और भारत में पूँजीवादी विकास व्यवसायिक और औद्योगिक संकुल और जटिल विविध पक्षी जीवन तथा देश में राष्ट्रीय चेतना के स्फुरण से इसका सीधा

सम्बन्ध है। अंग्रेज़ों के भारत आगमन के पश्चात् निस्सन्देह भारत में औद्योगिक आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा चेतना आदि सभी क्षेत्रों में विविध पक्षी विकास हुआ। जीवन अधिक संकुल व्यावहारिक और व्यस्त हो गया। उसमें व्यापकता के साथ-साथ घनत्व भी आया। मनुष्य की चेतना भावना के आकाश से नीचे उतर कर जीवन की यथार्थ वैविध्यपूर्ण जीवन-भूमि पर आई। फलतः गद्य के विभिन्न रूप-विधानों—उपन्यास, नाटक, कहानी, जीवन-चरित्र, आत्मकथा, रिपोर्ताज, पत्रकला, रेखाचित्र, गद्य काव्य, निबन्ध आदि का विकास हुआ। सभी देशों के साहित्यों में यह विकास स्थानीय रैनेसाँ के बाद आधुनिक पूँजीवादी युग में ही सम्भव हुआ। इस युग में आकर गद्य उपरोक्त वर्णित तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण पद्य की अपेक्षा गौरव और स्थायित्व को प्राप्त कर सका और ज्यों-ज्यों मनुष्य विज्ञान के विकास की ओर बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों गद्य भी अधिक स्थायित्व और महत्त्व ग्रहण करता जा रहा है। यहाँ यह प्रश्न उठना संगत है कि क्या पद्य का महत्त्व आज की स्थिति में घटता जा रहा है? इसमें सन्देह नहीं कि आज पद्य की ओर रुचि कम होती जा रही है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आज के युग में उसका महत्त्व कम है। यह हम आरम्भ में ही स्पष्ट कर आए हैं कि दोनों का ही महत्व अपने-अपने रूप में स्वतन्त्र है और किसी को घट नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहना संगत भी नहीं है। यह दोनों ही रूपविधान आज के युग में हमारी भावनाओं को गतिवान करने में समर्थ हैं और महत्वपूर्ण माध्यम हैं। दोनों का ही साहित्य महान गौरव को प्राप्त कर चुका है।

गद्य ने साहित्य को जीवन के अधिक निकट ला दिया है। गद्य में सामाजिक यथार्थ का चित्रण पद्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत और स्पष्ट रूप से होता है। पद्य अपने रूप विधानों की सीमा के कारण अधिक दुरूह और अस्पष्ट हो जाता है इस कारण भी राष्ट्रीय जागरण के इस काल में जनता तक जाने के लिए सरल और सहज माध्यम के रूप में गद्य की महत्ता अधिक प्रतिष्ठापित हुई। गद्य की इस जन-उपयोगिता ने पद्य के रूप विधान को भी इस युग में पर्याप्त प्रभावित किया है। पद्य में भी सरलता और जन-सुलभता लाने का प्रयास इसी प्रभाव का परिणाम है। पद्य के नए रूप विधान-अतुकान्त कविताएँ, छंदहीन कविताएँ, प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी कविताएँ तथा गद्यात्मक खण्ड काव्य (सिद्धराज आदि) इसीके प्रभाव के फल हैं। गद्य का क्षेत्र चूंकि अधिक व्यापक होता है, उसमें लेखक को अपनी बात कहने का अधिक क्षेत्र होता है, इसलिए उसमें पद्य की अपेक्षा

शैली और चित्रण की विविधता भी रहती ही है, और जीवन यथार्थता भी अपने पूर्ण रूप में व्यक्त होती है। उदाहरण के लिए हम कवि प्रसाद को ले सकते हैं। उनका काव्य जहाँ अस्पष्ट और दुरुह पलायनवादी है, वहाँ उनका गद्य-साहित्य सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करता है। आज काव्य में भी यथार्थ-चित्रण की महत्ता गद्य के इस महत्व का ही प्रभाव है। आज जब हम राष्ट्रीय-अभ्युत्थान और राष्ट्रीय निर्माण के संघर्ष में जुझ रहे हैं, गद्य हमारी चेतनाओं को अधिक व्यापक रूप में चित्रित कर हमें एक नई दिशा देने का महत्व रखता है। साथ ही पद्य भी हमें उस संघर्ष में जूझने के लिए हमारी हृदय-वीणा के तारों को झंकृत कर हमारे हृदयों में आगे बढ़ने के आवेगों और उत्साह की प्रेरणा उत्पन्न करने की सामर्थ्य पूर्ण महिमा रखता है। दोनों के प्रभाव-रूपों तथा क्षेत्रों में और उपयोगिताओं में अन्तर होते हुए भी दोनों का महत्व समान है और दोनों के ही समान विकास की आवश्यकता है।

गद्य की भाषा के रूप में खड़ी-बोली की उपयुक्तता

हिन्दी के विकास का अध्ययन करते समय यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि गद्य के लिए आधुनिक युग के आरम्भ होते ही खड़ी बोली को निर्विवाद रूप से क्यों और कैसे स्वीकार कर लिया गया। लगभग आरम्भ से ही हिन्दी-साहित्य में पद्य की भाषा प्रमुखतः व्रज भाषा रही। सभी कवियों ने उसी भाषा में अपने काव्यों की रचना की हो सो बात नहीं। तुलसी और जायसी ने अवधी को अपना माध्यम बनाया था। कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं का मिश्रण है, जिसमें खड़ी बोली के भी अनेक शब्द हैं। खुसरो के काव्य की भाषा अविकसित खड़ी बोली है। अस्तु भाषा के सम्बन्ध में कोई निश्चित् सिद्धान्त या सीमा नहीं बनाई जा सकती कि अमुक भाषा में ही साहित्य-सृजन होगा अन्य भाषाओं में नहीं। साहित्य-सृजन की दो धाराएँ प्रायः सदैव ही रहीं—एक तो शिष्ट-जनों की मान्य साहित्यिक भाषा में लिखा गया साहित्य और दूसरा प्रचलित बोलियों में लिखा गया साहित्य। यह मानना कि एक समय में एक ही भाषा में एक ही प्रकार का साहित्य रचा जाता है, नितान्त भ्रम है सदैव ही यदि एक ओर साहित्यिक भाषा में साहित्य-सृजन होता आ रहा है, तो साथ ही जन बोलियों में भी साहित्य-रचना होती रही है। यह बात अवश्य सत्य है कि साहित्यिक भाषा में लिखा गया साहित्य मान्य और प्रसिद्धि-प्राप्त होता है, और समस्त शिक्षित जनता के बीच समादृत होता है, और बोलियों का साहित्य जब तक तुलसी और जायसी जैसा प्रतिभावान, कलाकार उसमें न जन्मे अपने प्रदेश तक ही सीमित रहता है—चाहे वह मौखिक रूप में हो और चाहे लिखित रूप में। अस्तु निस्सन्देह खड़ी बोली में स्थानीय तौर पर उसके बोले जाने वाले प्रदेश की सीमा के भीतर साहित्य का सृजन किसी न किसी रूप में होता रहा है। इसका विवेचन हम पहले अध्याय में विस्तार के साथ कर आए हैं। खड़ी बोली के उस प्रादेशिक शब्द भाण्डार से ही कबीर, खुसरो आदि कवियों ने शब्द लिए। खड़ी बोली की गद्य रचनाओं का इतिवृत्त तो हम अपने पहले अध्याय में दे आए हैं, किन्तु गद्य की भाँति ही खड़ी बोली पद्य भी अपने जनरूप में अपने क्षेत्र की सीमा के भीतर प्रचलित रहा होगा। जब कोई भाषा अपनी अविकसित अवस्था में होती है उस समय के वह अनेक तत्व, जो उसकी विकास-नींव को दृढ़ करने का काम करते हैं, विनष्ट हो जाते हैं और विस्मृत रूप में भाषा के विकास में ही उनकी कहानी छिपी होती है। वैसे ही खड़ी बोली के इन तत्वों की कहानी भी छिपी पड़ी है। फिर भी जिस

समय से खड़ी बोली गद्य की रचना का इतिहास हमें किसी न किसी रूप में उपलब्ध होता है, वह भी कम पुराना नहीं, किन्तु वह प्राचीनता ही तो गद्य की भाषा के लिए उसकी उपयुक्तता सिद्ध करने में पर्याप्त नहीं।

सामान्यतः किसी भाषा के उद्भव और विकास के कारणों के मूल में सामाजिक एवं ऐतिहासिक कारण होते हैं।

हम संक्षेप में ऊपर यह कह आए हैं कि हमारा प्राचीन साहित्य पद्य-साहित्य है और प्रमुखतः उसकी भाषा रही है ब्रज। ब्रज भाषा में भी गद्य का सृजन होता रहा है जिसका इतिवृत्त हम गत अध्याय में दे आए हैं, पर वह केवल एक सम्प्रदायिक साहित्य ही था, उसे साहित्यिक महत्ता नहीं दी जा सकती। पद्य के साथ गद्य का विकास हमारे साहित्य में नहीं हुआ। हमारे ही यहाँ नहीं अँग्रेजी साहित्य में भी गद्य-साहित्य पद्य-साहित्य से बहुत बाद लगभग ईसा की चौदहवीं शताब्दी में आरम्भ होता है। अस्तु ब्रज भाषा गद्य आधुनिक युग के आरम्भ-समय तक जब से गद्य-युग का आरम्भ होता है, कोई साहित्यिक रूप नहीं ग्रहण कर पाया था, न उसकी भाषा में साहित्यिक दृष्टि से व्यवस्था आ पाई थी, न शब्दों में व्यंजकता, न वाक्यों में गठन और न उनमें भावों को अभिव्यक्त करने की क्षमता ही आ पाई थी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि खड़ी बोली गद्य में यह सब क्षमताएँ थी।

अस्तु जब हिन्दी गद्य के लिए आधुनिक युग के आरम्भ में भाषा चुनने का प्रश्न आया तो ब्रज पद्य की भाषा की तरह खड़ी बोली की प्रतिद्वन्द्वी बन कर खड़ी न हो सकी और खड़ी बोली में सर्वमान्य रूप से हिन्दी गद्य की रचना होने लगी। यदि ब्रज भाषा में भी गद्य साहित्य की रचना होने लगती तो निस्सन्देह पद्य की भाषा के विवाद के समान ही गद्य की भाषा के ऊपर भी एक विवाद खड़ा हो जाता; जो नहीं हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि जिस समय हिन्दी गद्य का सम्यक रूप से विकास आरम्भ हुआ उस समय ब्रज की अपेक्षा खड़ी बोली गद्य की भाषा के रूप में अधिक प्रचारित और मान्य हो चुकी थी। इसी कारण वह गद्य की भाषा के लिए निर्विवाद रूप से उपयुक्त समझी गई।

खड़ी बोली में गद्य-रचनाओं के इतिवृत्त का विवेचन करते समय हम पीछे देख आए हैं कि भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश काव्यों की जो भाषा चलती रही उसमें खड़ी बोली के प्राचीनतम रूप की झलक मिलती है। अकबर के समकालीन गंग कवि ने 'चन्द-छन्द-वर्णन की महिमा' नामक अपना ग्रन्थ और उनके पश्चात् १७४१ के लगभग रामप्रसाद निरंजनी

ने शुद्ध खड़ी बोली—फारसी शब्दों और वाक्य-विन्यास से नितान्त स्वतन्त्र भाषा में 'भाषा-योग-वाशिष्ठ' की रचना की जिससे स्पष्ट है कि हिन्दी खड़ी बोली सर्वथा मुसलमानी प्रभाव से स्वतन्त्र विकसित होती रही। किन्तु यह सत्य है कि खड़ी बोली को अपने बोले जाने वाले—दिल्ली मेरठ के आस-पास के क्षेत्र की सीमा से निकाल कर दूर-दूर तक विस्तृत करने का श्रेय मुसलमानी साम्राज्य को है।

गद्य की भाषा के रूप में खड़ी बोली की उपयुक्तता एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है, क्योंकि खड़ी बोली के रूप में गद्य का विकास एक ऐतिहासिक संयोग की ही बात है। दिल्ली के इर्द-गिर्द अगर खड़ी बोली न बोली जाती होती तो शायद फारसी-मिश्रित ब्रज भाषा ही उर्दू का रूप धारण करती और उसके जवाब में संस्कृत मिश्रित ब्रज भाषा आधुनिक हिन्दी का रूप लेती। यदि मुसलमानी साम्राज्य की राजधानी निरंतर रूप से आगरा ही रही होती तो भी संभवतः यही विकास-क्रम होता, किन्तु ऐतिहासिक परिस्थितियों ने ऐसा नहीं होने दिया। और तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों ने भाषा के रूप को भी भिन्न रूप से विकसित किया। अनेक विद्वानों ने खड़ी बोली का पक्ष लेते हुए गद्य की भाषा के रूप में उसकी उपयुक्तता सिद्ध करने के लिए व्याकरण और उच्चारण आदि के अनेक तर्क दिए किन्तु उनके यह तर्क केवल तर्क के लिए हैं समस्या पर उनसे स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। उसे तो हम ऐतिहासिक क्रम के वैज्ञानिक अध्ययन से ही जान-समझ सकते हैं। मनुष्य की कोई भी बोली गद्य की लिखित साहित्यिक भाषा के रूप में विकास कर सकती है। लिपि-चिन्हों, उच्चारणों और व्याकरण आदि की कठिनाइयों पर मनुष्य सदा ही विजय पा लेता है। और प्रतिभा-सम्पन्न लेखक भाषा को मांज-संवार कर संयत और सुगठित कर उसमें सूक्ष्मतम विचारों को अभिव्यक्त करने की शक्ति भी ला देता है। आखिर जो बोली बोली जाती है वह गद्य में ही तो, ब्रजवासी ब्रज भाषा को गद्य में ही बोलते हैं। ब्रज का ध्वनि-समूह इतना कठिन या दुरूह नहीं जितना कश्मीरी का या भारत की अन्य अनेक भाषाओं का है। और ब्रज नागरी लिपि में तो लिखी भी जाती रही है और उसमें गद्य का सृजन भी हुआ है। कश्मीरी की तो कोई चालू लिपि नहीं थी फिर भी अब कश्मीरी दोषपूर्ण फारसी लिपि में ही गद्य का विकास कर रही है। इसलिए कहना पड़ेगा कि केवल ऐतिहासिक संयोग की ही बात है कि खड़ी बोली गद्य-पद्य की भाषा बन गई, ब्रज नहीं बन सकी और न अवधी, बुन्देलखण्डी आदि अन्य बोलियाँ बन सकीं—आगे भी नहीं बनेंगी इसकी भी कोई गारन्टी नहीं दे सकता। अस्तु

पंडित रामचन्द्र शुक्ल आदि जैसे समर्थ विद्वानों ने खड़ी बोली की उपयुक्तता सिद्ध करने के लिए व्याकरण, उच्चारण और शब्द-शक्ति आदि के जो तर्क दिए हैं वह सब अवैज्ञानिक और लचर हैं। उन्हें मानकर साहित्य की भाषा के रूप में और आज राष्ट्र-भाषा के रूप में खड़ी बोली की उपयुक्तता के किसी सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। इसके लिए तो हमें ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का ही वैज्ञानिक अध्ययन करना पड़ेगा। यदि आज ऐतिहासिक और राजनीतिक संयोग साथ न होते तो संभवतः खड़ी बोली हिन्दी राष्ट्र भाषा न बन सकती। खड़ी-बोली गद्य-साहित्य की भाषा के रूप में और पद्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होकर आज राष्ट्रभाषा का गौरव पा सकी है यह कोई आकस्मिक और एक दिन के विकास का परिणाम नहीं। यह ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियों का संयोग है।

मुसलमान साम्राज्य का केन्द्र प्रायः दिल्ली ही रहा। अतः उसके आस-पास की भाषा खड़ी बोली को राज्याश्रय प्राप्त हो सका और वह देश के विभिन्न भागों में मुसलमानों के प्रसार के साथ अपने क्षेत्र से बाहर फैल चली। मुसलमानों ने भारत में बसने के पश्चात् इसी बोली को अपनाया था, क्योंकि यही उनके निकट सम्पर्क में आई थी। आरम्भ में तो उन्होंने इसे शुद्ध भारतीय रूप में ही अपनाया पर धीरे-धीरे वह इसमें फ़ारसी का पुट देते गए। औरंगजेब के समय तक फारसी मिश्रित खड़ी बोली या रेख़ता में शायरी भी आरम्भ हो गई और इसका प्रचार फ़ारसी पढ़े-लिखे लोगों में बढ़ चला। इस प्रकार एक ही खड़ी बोली के दो भिन्न रूप प्रादुर्भूत हो गए—फारसी मिश्रित खड़ी बोली उर्दू तथा संस्कृत के तत्सम तथा देशज शब्दों से युक्त—हिन्दी खड़ी बोली। हिन्दी खड़ी बोली का शुद्ध रूप उपरोक्त उर्दू के प्रादुर्भूत होने से बहुत पहले से अपने देशी रूप में चला आ रहा था। मुसलमानी साम्राज्य में यह दोनों ही भाषाएँ शिष्टजनों की भाषा के रूप में मान्य और प्रचलित हो गई थीं। दिल्ली के हिन्दू शासक और हिन्दू व्यापारी वर्ग अपने साथ शुद्ध हिन्दी खड़ी बोली को दूर-दूर प्रदेशों तक ले गए और होते करते यह देश के अनेक भागों में आदान-प्रदान की भाषा बन गई।

जहाँ मुसलमानी साम्राज्य के विस्तार ने खड़ी बोली के विकास में सहयोग दिया, वहाँ उसके पतन और विघटन ने भी उसके प्रसार में सहयोग प्रदान किया। दिल्ली-आगरे के दरबारों की छाया में पलने वाले व्यापारी वर्ग तथा कवियों और शायरों को मुगल साम्राज्य के ध्वंस के बाद इधर-

उधर बिखर जाना पड़ा और साथ में वह अपनी भाषा भी लेते गए। जगह-जगह उनकी बस्तियाँ बन गईं। जहां वह खड़ी बोली में परस्पर विचार-विनिमय तो करते ही थे, साथ ही उस प्रांत के निवासियों के साथ आदान-प्रदान की और व्यवहार की भाषा का भी स्थान प्राप्त कर लिया। इसका प्रभाव वहाँ के निवासियों पर भी पड़ा और उन्होंने भी खड़ी बोली सीखी। हिन्दी खड़ी बोली का यह प्रसार इतना व्यापक हुआ, कि अन्य प्रान्तों के रहने वाले सज्जन भी खड़ी बोली गद्य में विचार-विनिमय करने लगे। पंडित दौलतराम, जो राजस्थान के निवासी थे, ने सात सौ पृष्ठों का रविषेणाचार्य कृत 'जैन पद्मपुराण' का भाषानुवाद खड़ी बोली गद्य में किया था। १७७३–८३ के बीच राजस्थान के ही किसी लेखक ने मंडोवर का वर्णन खड़ी बोली में प्रस्तुत किया। थोड़े दिनों बाद ही इंशा अल्लाखाँ ने खड़ी बोली में अपनी रचना 'रानी केतकी की कहानी', आगरे के गुजराती ब्राह्मण श्री लल्लूलाल ने 'प्रेम सागर' तथा सदलमिश्र, जो बिहार के रहने वाले थे, ने खड़ी बोली में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि उपरोक्त ऐतिहासिक एवं राजनीतिक कारणों से खड़ी बोली अपनी सीमा-परिधि से बाहर निकलकर अन्तर्प्रान्तीय भाषा का रूप ग्रहण कर चुकी थी, जो ब्रज भाषा नहीं कर सकी थी। पद्य-क्षेत्र में भी ब्रज भाषा अधिकांशत: अपनी सीमा से बाहर नहीं जा पाई क्योंकि ऐतिहासिक और राजनीतिक कारण उसके साथ न थे। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि फ़ारसी मिश्रित उर्दू के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हिन्दी खड़ी बोली का विकास एक व्यापक क्षेत्र में हो रहा था और वह अन्तर्प्रान्तीय भाषा बन गई थी। उसकी बह व्यापकता ही आज की ऐतिहासिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में उसे राष्ट्र भाषा का गौरव प्राप्त कराने में एक कारण सिद्ध हुई।

इस प्रकार जब भारत में अंग्रेजी साम्राज्य प्रतिष्ठित हुआ, उस समय तक खड़ी बोली समस्त उत्तर भारत के शिष्ट-जनों के व्यवहार की भाषा ही नहीं बन गई थी, वरन वह हिन्दी गद्य की अन्तर्प्रान्तीय भाषा भी बन गई थी और अन्य प्रान्तवासी भी उसमें अपनी गद्य रचनाएँ करने लगे थे।

जब अंग्रेजी राज्य पूर्णतः भारत में स्थापित हो गया तो उन्हें अपने राज्य को सुचारुता तथा स्थायित्व देने के लिए देशी भाषा सीखने की आवश्यकता पड़ी। शिष्ट समाज के बीच उन्हें दो भाषाएँ ही समान महत्व की दीख पड़ीं, जो दूर-दूर तक व्यवहार में आती थीं—एक तो खड़ी बोली का हिन्दी रूप जो उर्दू और मुसलमानी प्रभाव से स्वतंत्र जनता में समादृत

और प्रचलित था और दूसरी फारसी साहित्य और इस्लामी संस्कृति से प्रभावित-उर्दू।

यहाँ पर हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध में एक आवश्यक किन्तु बेसूद भ्रम का निवारण कर देना आवश्यक है। कुछ लोग उर्दू को मूलतः एक अलग भाषा मानते हैं, यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या अब दिन पर दिन कम होती जा रही है। उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे हम उर्दू कहते हैं वह खड़ी बोली का ही एक रूप है, जो एक विदेशी भाषा के प्रभाव से पृथक् रूप में विकसित हो गई है। अस्तु उसे खड़ी बोली से अलग अस्तित्व प्रदान करना संगत नहीं। उसे खड़ी बोली की एक शैली अथवा शाखा जो विदेशी शब्दों और रचना शैली से प्रभावित है, कहना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं कि यह दोनों भाषाएँ समान रूप से जनता में प्रचलित थीं। अतः अँग्रेजों ने इन दोनों भाषाओं के सीखने-सिखाने की आवश्यकता अनुभव की और खड़ी बोली गद्य को उर्दू के साथ ही पुनः राज्याश्रय प्राप्त हो गया। यद्यपि अँग्रेजों ने क़भी उर्दू को तो कभी हिन्दी को बढ़ावा दिया और इस प्रकार झगड़े के बीज बोए, किन्तु हिन्दी को अपनाए बिना वे न रह सके। मुसलमानी राज्य की छत्र-छाया में तो वह अपने क्षेत्र से बाहर निकल कर फैली, पर अँग्रेजी राज्य में वह हिन्दी गद्य साहित्य की एकमात्र भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। ब्रज भाषा में गद्य-सृजन की रही-सही परम्परा का भी लोप हो गया। यद्यपि छुटपुट प्रयास भारतेन्दु के समय तक चलता रहा (चन्द्रावली नाटिका) किन्तु वह साहित्यिक महत्ता का अस्तित्व न प्राप्त कर सकी।

जब अँग्रेजों ने इन दोनों भाषाओं के सीखने-सिखाने की आवश्यकता का अनुभव किया, उस समय दोनों ही भाषाओं में शिक्षा के उपयुक्त तथा विशेष महत्व की गद्य पुस्तकों का अभाव था। खड़ी बोली हिन्दी में तो अनेक गद्य पुस्तकों की रचना हो भी गई थी, पर उर्दू में तो उनका सर्वथा अभाव था। फलतः फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना के साथ अँग्रेजों ने दोनों भाषाओं में गद्य-पुस्तकों की रचना की ओर ध्यान दिया।

यहाँ इस भ्रम का निवारण कर देना भी आवश्यक है, कि अँग्रेजों की प्रेरणा से हिन्दी खड़ी बोली गद्य की प्रतिष्ठा हुई। सदासुखलाल और इंशा अल्लाखाँ ने अँग्रेजों की प्रेरणा से पूर्व ही अपनी रचनाएँ की थीं, जो बाद में अँग्रेजों द्वारा प्रेरित गद्य पुस्तकों की अपेक्षा कहीं अधिक परिमार्जित और परिष्कृत थीं। इसमें सन्देह नहीं कि खड़ी बोली साहित्य की सतत् प्रवाहशील

धारा को अँग्रेजों की प्रेरणा से बल अवश्य मिला, किन्तु वह भी एक सीमा तक—केवल पाठ्य-पुस्तक की रचना में। उसके साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा तो अँग्रेजों की प्रेरणा से सर्वथा स्वतन्त्र, राष्ट्रीय जागरण की चेतना से प्रेरित, विदेशी साहित्य के सम्पर्क से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में भारतेन्दु और उनके समकालीन साहित्यकारों ने की। इसलिए हिन्दी गद्य-साहित्य की धारा के प्रवाह का श्रेय अँग्रेजों को देना एक भ्रम है।

इसी समय ईसाई मिशनरियों तथा उनकी प्रतिक्रिया से उठे भारतीय-सामाजिक सुधार आन्दोलन—ब्रह्म समाज और आर्यसमाज आदि के द्वारा खड़ी बोली समस्त देश में गद्य की एकमात्र भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई।

देश में उस समय अँग्रेजी संस्कृति एवं साहित्य के सम्पर्क से धर्म, समाज और राजनीति आदि विविध क्षेत्रों में सुधार आन्दोलनों की जो एक नई चेतना पूर्ण लहर आई थी, उसके व्यापक प्रचार के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी, जो अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा हो और जो अपने सीमित क्षेत्र से ऊपर हो, जिसे देश का अधिकाँश शिष्ट समाज बोलता हो। सौभाग्य से ऊपर विवेचित ऐतिहासिक संयोगों के कारण हिन्दी खड़ी बोली ही एक ऐसा माध्यम थी, जो साहित्य के क्षेत्र में नवीन विचारों और भावों का व्यापक क्षेत्र में समर्थ वाहन बन सकती थी और इसीलिए वह गद्य की भाषा के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई और आधुनिक काल के आरम्भ में गद्य की भाषा के रूप में वह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर ली गई।

हिन्दी गद्य के विकास की पूर्व पीठिका

प्रत्येक साहित्य और उसका विकास तात्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज होता है, जो विगत परम्पराओं के आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों से रस ग्रहण कर भावी संभावनाओं की प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर साहित्यिक गौरव प्राप्त करता है। वह कोई आकस्मिक मोड़ नहीं लेता और न एक दिन की ही उपज होता है, वरन्, उसकी एक सतत् प्रवाहमान गत्यात्मक धारा होती है, जो विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में आकर गुणात्मक और आमूल परिवर्तन को प्राप्त होता है। इसी को हम कहते हैं साहित्य का नया मोड़।

हिन्दी गद्य साहित्य का आरम्भ भारतेन्दु से होता है। उसके पूर्व का गद्य साहित्य साहित्यिक महत्व नहीं रखता। यद्यपि भाषाशैली की दृष्टि से वह पीठिका का कार्य सम्पन्न करता है। अपने एक गत अध्याय में हम उसे साम्प्रदायिक साहित्य का नाम दे आये हैं। भारतेन्दु के समय से हिन्दी गद्य साहित्य में जो नवीनोन्मेष हुआ—विषयगत, शैलीगत तथा चेतनागत; और साहित्य एक नई संजीवनी शक्ति लेकर आगे बढ़ा, उस शक्ति के बीज उस काल की राष्ट्रीय परिस्थिति में थे। वह राष्ट्रीय जागरण का काल था, और गद्य साहित्य उस राष्ट्रीय जागरण का समर्थ वाहन बना।

हिन्दी का गद्य साहित्य राष्ट्रीय जागरण के युग की उपज है। यह बात जितनी हिन्दी गद्य साहित्य के साथ सत्य है, उतनी ही देश की अन्य भाषाओं के गद्य साहित्य के साथ भी और विदेशी भाषाओं के साथ भी। अंगरेजी गद्य का विकास भी योरोपीय पुनर्जागरण के बाद ही हुआ। राष्ट्रीय जागरण ने न केवल हिन्दी गद्य साहित्य को ही प्रभावित किया, वरन् हिन्दी पद्य को भी एक नया रूप प्रदान किया है। चूंकि हिन्दी गद्य साहित्य की धारा पिछली अनेक सदियों से चली आ रही थी और उसकी अपनी एक गौरवशाली परम्परा बन गई थी, इसलिये इस राष्ट्रीय जागरण के काल में गद्य की अपेक्षा उसके परिवर्तन की गति थोड़ी मद्धिम रही। किन्तु गद्य मूलतः इसी युग की पैदावार है। इसलिये आरम्भ से ही वह राष्ट्रीय जागरण की चेतना का वाहन बना और इसी के अनुरूप उसकी भाषाशैली, विषय चयन तथा चेतना का विकास हुआ। और जैसे जैसे राष्ट्रीय जागरण में विकास हुआ और परिपक्वता, व्यापकता एवं सबलता तथा शबलता आती गई त्यों-त्यों हिन्दी गद्य साहित्य में भी यह समस्त गुण समाविष्ट होते गये।

जिस समय हिन्दी गद्य का साहित्य अपने विकास का प्रथम चरण उठा रहा था, उस समय देश पूर्णतः अँग्रेजी साम्राज्य की जकड़ में आ चुका था। सं० १८५७ का विद्रोह एक बार पुनः भारतीय रगों में लहू का संचार कर असफल हो चुका था और देश पर अँग्रेजी दमन, प्रतारणा और घनघोर हत्याकांडों के बाद श्मशान की सी शान्ति व्याप्त हो गई थी। सरकार की व्यवस्था कम्पनी के हाथों से निकलकर सम्राज्ञी विक्टोरिया के हाथों में चली गई थी और भारतवर्ष अब विशाल अँग्रेजी साम्राज्य का एक अंग बन गया था। कल भारत को सोने की चिड़िया समझ सौदागरी करने आया अँगरेज योरोपीय औद्योगीकरण से उत्पन्न अधिक प्रभावशाली हथियारों और अपनी कूटनीति के बल पर आज भारत का सम्राट बन चुका था। सारा भारत-धुर उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पच्छिम तक, विदेशी गुलामी के एक केन्द्रित शासन-सूत्र में बंध जान-बुल के कराल बूटों के नीचे कराह उठा था।

देश की जनता जाति-पाँति तथा धार्मिक सम्प्रदायों के बखेड़ों में बँटी थी, धार्मिक अन्ध-विश्वासों, गतानुगत रूढ़ियों, कुरीतियों आदि में ग्रस्त थी। पतनोन्मुख मुसलमानी राज्य से प्रताड़ित थी और देश छोटे-छोटे हिन्दू-मुसलमान राज्यों में जो परस्पर युद्ध करना ही अपना परम कर्त्तव्य समझते थे, विभक्त था। अस्तु, अँगरेजों को अपनी प्रभुता स्थापित करने का सुगम और खुला मार्ग मिल गया।

अँगरेजी राज्य ने जहाँ एक ओर भारत की शासन व्यवस्था में परिवर्तन किया वहाँ उनके सम्पर्क से देश के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी नवीन परिवर्तन शुरू हो गये थे। लंकाशायर और मैनचेस्टर का कपड़ा तथा अन्य विदेशी सामान भारत में आकर बिकने लगा था। भारत अब विदेशी माल के बिकने की मण्डी बन गया था और उसके अपने उद्योग धन्धे ठप हो रहे थे। भारतीय कला, दस्तकारी, व्यापार, उद्योग धन्धे आदि विनष्ट होने लगे थे, जिससे देश में आर्थिक बेकारी बढ़ने लगी थी।

अँगरेजों से पूर्व भी भारत में अनेक विदेशी आये और उन्होंने देश पर अपना शासन कायम किया। किन्तु उनमें और अँगरेजों में एक मौलिक अन्तर था कि वे सब देशवासी बन गये और उन्होंने देश की राज्य व्यवस्था, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को ज्यों का त्यों बना रहने दिया, जिसके कारण हमारे सांस्कृतिक एवं नैतिक मानदंडों और दृष्टिकोण में कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु अँगरेज भारत में विदेशी के रूप में आये और अन्त तक विदेशी ही बने रहे। भारतेन्दुकाल में ही 'धन बिदेश चलि जात' की चेतना राष्ट्रीय जागरण की मूलप्रेरणा बनी और समय की गति के साथ यह

चेतना विकास करती हुई भारत के अँग्रेजी साम्राज्यवादी गुलामी से मुक्त करने की स्पष्ट चेतना में प्रस्फुटित हुई। यह चेतना अपने क्रमिक विकास के साथ साहित्य के विकास में भी विभिन्न चरणों की जननी बनी।

वर्तमान युग के औद्योगीकरण के आधार पर अवलम्बित अँगरेजी साम्राज्यवाद ने जहाँ एक ओर भारत में वर्तमान पूँजीवाद को प्रवेश करवा कर भविष्य में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक प्रगति का ऐतिहासिक मार्ग खोल दिया, वहाँ भारत के पुराने स्थिर अर्थतन्त्र व सामाजिक ढाँचे को विघटित करके परम्परागत भारतीय सांस्कृतिक व नैतिक मानदण्डों को पूञ्जीवादी व साम्राज्यवाद के व्यवसायवादी साँचे में ढाल दिया। अँगरेजों ने सामन्तवाद और साम्राज्यवाद तथा पूञ्जीवाद का एक विचित्र और उच्छृङ्खल सम्मिश्रण किया, जिसके दो परस्पर विरोधी रूप विकसित हुये। एक तो था इसका प्रगतिशील रूप, जिसने भारत में नये औद्यौगिक सुधारों एवं सामाजिक सुधारों के रूप में प्रगतिशील कार्य किया और दूसरा था प्रतिक्रियावादी रूप जिसने भारत को गुलामी में जकड़ कर उसे कंकाल बना दिया और मानव जीवन की अनेकानेक समस्याओं को जन्म दिया।

अँगरेजों ने अपनी शासन व्यवस्था को सुचारिता तथा स्थायित्व देने की दृष्टि से शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की, जिससे एक नये बाबू वर्ग का जन्म हुआ। यह बाबू वर्ग देश में अँगरेजी शासन की जड़ जमाने का साधन बना तो उसके विरुद्ध विद्रोह की चिन्गारी फूँकने में भी आगे रहा। रेल, तार, डांक, सड़कों की स्थापना ने जहाँ एक ओर अँगरेजी शासन को सुविधा प्रदान की, वहाँ वह देश के विभिन्न भागों को एक दूसरे के सम्पर्क में लाकर राष्ट्रीयता को जगाने का माध्यम भी बनी।

अंगरेजी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य ने जहाँ एक ओर भारतीय मस्तिष्क, हृदय और चेतना को विषाक्त, विकृत और विकलांग बनाया, वहाँ राष्ट्रीय चेतना को भी उद्‌बुद्ध किया।

अंगरेजों ने देश में एक सबल केन्द्रीय शासन की स्थापना की और देश को गुलामी के मजबूत बन्धन में बांध दिया। किन्तु विदेशी साहित्य के सम्पर्क से वहाँ के उभरते जनवाद ने साम्राज्य विरोधी भावना को भी जन्म दिया।

अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यी हितों से देश में जो आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सुधार और परिवर्तन किए, इसमें सन्देह नहीं आगे चलकर अग्रेजी साम्राज्यवाद के लिए वही घातक भी सिद्ध हुए।

इस प्रकार एक ओर तो हमारे देश में उस समय एक नई राष्ट्रीय चेतना करवट ले रही थी, दूसरी ओर साम्राज्यवादी गुलामी और शोषण हमारे जन-जीवन में अपने पंजे गहराई से जमाता जा रहा था, और तीसरी ओर पुराने सामन्ती ढांचे में विघटन और नये साम्राज्यवादी और पूंजीवादी ढांचे के असम्बद्ध और विच्छृङ्खल मेल से नित नई सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हो रही थीं। यह एक संक्रान्ति एवं दुरभि-सन्धि का युग था। हमारे गद्य साहित्य ने अपना रूप-संवार इस संक्रान्ति-युगीन राष्ट्रीय जागरण की नवोन्मेषकारी चेतना के बीच किया। उसकी एक मात्र मूल शक्ति रही अंग्रेजी साम्राज्य के शोषक रूप से तथा देशी मानसिक गुलामी—सांस्कृतिक, धार्मिक अन्ध-विश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों आदि से मुक्तकामी संघर्ष की चेतना। इस चेतना में आरम्भ से ही अन्धविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक पाखण्डों, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, छुआछूत, सतीप्रथा, सामन्त, अंगरेजी शोषण और दमन, राजा नवाबों आदि के विरोधी तत्व मौजूद थे। भारतेन्दु ने इस मुक्तकामी चेतना का अंकन अपने गद्य साहित्य-निबन्ध और नाटकों में स्पष्ट रूप से किया है। 'भारतदुर्दशा', 'भारत जननी', ''वैदिकी हिंसा-हिंसा ना भवति', 'प्रेम जोगिनी' आदि नाटक तथा 'वैष्णवता और भारतवर्ष', 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है', 'जाति-विवेकिनी सभा' आदि निबन्धों में उपरोक्त सभी तत्व विद्यमान हैं, और उनमें राष्ट्रीय गौरव की स्थापना, समाज सुधार, मातृ भाषा प्रेम, देश प्रेम आदि राष्ट्रीय जागरण की भावनाओं का स्वर अपनी बुलन्दी पर मुखरित हुआ है। यह चेतना इस काल के सभी लेखकों में पाई जाती है।

भारतेन्दु-युगीन राष्ट्रीय चेतना में साम्राज्य विरोधी स्वर कुछ दबा सा रहा। इनका विशेष बल राष्ट्रीय गौरव के पुनरुत्थान पर था, किन्तु १६०५ के बंग-भंग के आन्दोलन से साम्राज्य विरोधी भावना ने एक स्पष्ट और जन व्यापी रूप धारण किया। भारतेन्दु ने और उनके समकालीन लेखकों ने साहित्य में जिस सामाजिक यथार्थ का बीजारोपण किया था, उसमें और व्यापकता, ठोसपन और गहराई आई। जयशंकरप्रसाद, प्रेमचन्द्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने अपने उपन्यासों और कहानियों में राष्ट्रीय जागरण की परिपक्व और जन व्यापी भावना से प्रेरित होकर समाज सुधार और सामाजिक क्रान्ति के नये यथार्थ रूपों को चित्रित किया। उन्होंने इतिहास और पुराण से ऐसे आदर्श चरित्रों की अवतारणा की, जो आज के संघर्ष में मानव को एक दिशा देसकें। उन्होंने वर्तमान समाज के पुरातन अन्ध विश्वासों, सामाजिक कुरीतियों एवं रुढ़ियों से संघर्षशील नये मानव

का चित्रण किया। उनके साहित्य में हमें विकास के प्रति एक दृढ़ आस्था और विश्वास मिलता है। किन्तु अभी भी राष्ट्रीय मुक्ति की भावना में एक धुंधलापन था, वह हमारे साहित्य में भी रहा।

१९२०–२१ के असहयोग आन्दोलन ने राष्ट्रीय जगारण की चेतना को गाँव-गाँव तक फैला दिया, उसमें एक विशालता और निश्चित दिशा आई, मजदूर और किसानों में भी जागरण के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे। इस राष्ट्रीय चेतना की नई करवट ने तत्कालीन गद्य साहित्य को भी प्रभावित किया, जिसका प्रभाव हम कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सभी गद्य रूपों में देखते हैं। साहित्य में किसान, मजदूर और निम्न वर्ग का चित्रण भी होने लगा। प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि' इसके उदाहरण हैं।

सन् १९३० में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का नारा दिया और संघर्ष का वातावरण गरम हो उठा। राष्ट्रीय चेतना दिन पर दिन अभूतपूर्व व्यापक रूप धारण करती हुई साम्राज्य सामन्त और पूंजीवाद विरोधी हो चली। देहातों में किसान संघर्ष और नगरों में मजदूर और मध्यम वर्ग के संघर्ष तेजी के साथ उभरने लगे। नई सामाजिक व्यवस्था की चेतना के साथ-साथ इन संघर्षों का चित्रण भी होने लगा। १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। किसान, मजदूर और मध्यम वर्ग के संघर्ष उपन्यास, कहानी और नाटक के विषय-वस्तु बन गये।

अगस्त १९४७ से अँगरेजों के हाथ से शासन व्यवस्था हटकर देश-वासियों के हाथ में आई। शासन संचालकों में तो परिवर्तन हुआ, किन्तु समाज और शासन का ढाँचा वैसा का वैसा ही रहा। देश में एक ओर तो देशवासी शासन संचालकों—जो राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधार रहे—के प्रति एक आस्था और विश्वास की भावना है तथा दूसरी ओर देश में बढ़ती बेकारी, भुखमरी, भ्रष्टाचार और अनैतिकता की समस्याओं ने एक विचित्र उलझी हुई परस्पर विरोधी भावनाओं को जन्म दिया। एक ओर तो इस शासन को जनता अपना शासन कहती है, किन्तु दूसरी ओर उसके जीवन की विषम-ताओं और विडम्बनाओं के, जिसे यह शासन हल करने में लगा हुआ है, झकझोर से इसके प्रति इसका विश्वास कभी-कभी डिगने लगता है। फिर भी देश ने जो करवट बदली है, जीवन का नया पथ प्रशस्त किया है, जिससे जनता में पुनः अपनी संगठित शक्ति के प्रति आस्था उत्पन्न होने लगी है। जीवन के कटु अनुभव ने भी उसे अपनी संगठित शक्ति के प्रति सजग किया है और स्वतः स्फूर्त, संगठित संघर्ष की ओर बढ़ रही है, जिसे वह १९४७ के

बाद भूलती सी जा रही थी। आज देश में एक सर्वव्यापी सर्व मान्य एकमत राष्ट्रीय आन्दोलन का अभाव है। देश की विभिन्न पार्टियाँ अनेक मत की हैं और समग्र जनता का विश्वास प्राप्त कर वैसा व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन संगठित करने में असमर्थ है जैसा अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध था। फलतः साहित्य में भी अनेक मत और धाराएँ हैं। वर्तमान समय की इस राष्ट्रीय उलझन का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा है और लगभग १९५०-५१ तक उसमें एक उलझनपूर्ण स्थिरिता आई, किन्तु अब फिर वह एक नई करवट लेने का प्रयास कर रहा है, जिसमें जन संघर्ष, जनशक्ति, जनवाद, मानव स्वातन्त्र, मानव समानता, मानव समृद्धि, सामाजिक यथार्थ, सामाजिक क्रान्ति और मानव-प्रेम तथा विश्वशान्ति का सबल स्वर मुखरित हो उठा है। किन्तु अभी उसके सामने वर्तमान जीवन की समस्याओं का सही सुलझाव और भावी दिशा उतनी स्पष्ट नहीं, जितनी अँग्रेजी शासन के समय थी, क्योंकि उस समय देश की आजादी का लक्ष्य स्पष्ट था और समस्त देश एकमत-एकप्राण हो देश की मुक्ति के संघर्ष में लगा हुआ था। राष्ट्रीय आन्दोलन की उस एक ध्येयता ने साहित्य में भी ध्येयपूर्ण सबलता, आस्था और प्राणवानता उत्पन्न की थी। उसके स्वर में एक शक्ति थी जिसका आज के साहित्य में अभाव सा है। आज के गद्य साहित्य में उस लक्ष्य की स्पष्टता का अभाव सा है। किन्तु उस लक्ष्य की खोज में प्रयत्नशील मानव और उसके जीवन का कलाकार दोनों ही संलग्न हैं। विशेषकर आज के प्रायः सभी गद्य लेखकों में हम यह चेतना पाते हैं, निःसन्देह यह भावी विकास के चिन्ह हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी गद्य साहित्य राष्ट्रीय जागरण की परिस्थितियों में जन्मा, अँगरेजी साम्राज्य से मुक्तकामी संघर्ष की चेतना में विकसित हुआ और पूर्ण आर्थिक व राजनैतिक जनसत्ता, मानवप्रेम और स्थाई विश्वशान्ति के लक्ष्य की ओर बढ़ता जा रहा है। यशपाल, कृष्णचन्द्र, जैनेन्द्रकुमार, रांगेय राघव, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त, चन्द्रकिरण सोनरिक्सा, विष्णु प्रभाकर, अमृताप्रीतम, अश्क, सत्येन्द्रशरत, जनार्दन, नागार्जुन आदि के उपन्यास, कहानी, नाटक, रिपोर्ताज आदि इस चेतना के प्रतीक हैं।

इस चेतनागत विकास क्रम के साथ ही साथ भाषाशैली का भी क्रमिक विकास हुआ है। भारतेन्दु ने जनता तक अपने साहित्य को ले जाने के लिए सीधी-साधी सरल जन सुलभ भाषा और सरल शैली को चुना। उन्होंने अपने नाटकों के द्वारा राष्ट्रीय जागरण की चेतना को प्रत्यक्ष प्रदर्शन के रूप में जनता तक पहुँचाया। निबन्धों में विविध शैलियों का विकास करते समय भी उनका ध्यान विशेषकर इसी बात पर रहा। चूँकि उस काल स्पष्ट और सीधे

रूप में शासन के विरुद्ध कह सकना सम्भव न था और सामाजिक कुरीतियों पर भी चोट करनी थी, इसलिये व्यंगात्मकता शैलीगत प्रमुख विशेषता है। द्विवेदीकालीन भाषा शैली में परिष्कार और परिमार्जन आया और निश्चित् रूप से हिन्दी गद्य के विभिन्न रूप-विधानों की शैली स्थिर हुई। हिन्दी साहित्य और भाषा के विकास और गौरव स्थापन की भावना इस समय तक व्यापक रूप धारण कर चुकी थी। प्रसाद, प्रेमचन्द आदि ने नाटकों, उपन्यासों, कहानियों आदि में जो शैलियाँ दीं वे हिन्दी गद्य शैली का विशिष्ट रूप हैं। सामाजिक विषय-वस्तु का अंकन करने वाले नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्य की भाषा जन सुलभ रही और ऐतिहासिक एवं पौराणिक विषय-वस्तु-प्रधान रचनाओं की भाषा संस्कृत गर्भित, भाषा शैली में यथार्थतः और घनत्व आने लगा। उसके बाद के गद्य साहित्य में भी जन सुलभता का तत्व प्रधान रूप से रहा। बहुमुखी जीवन ने विविध शैलियों को जन्म दिया और अन्य नई-नई शैलियों के प्रयोग नाटक—छाया चित्र, मूक नृत्य, गीत नाट्य, एकांकी आदि; कहानी, उपन्यास (धर्मवीर भारती का, 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', राजेन्द्र यादव का 'प्रेत बोलते हैं' आदि) में शैली के नये प्रयोग हो रहे हैं। संक्षेप में हम हिन्दी गद्य साहित्य में दो प्रकार की भाषा शैली देखते हैं। एक रोमान्टिक, भावुकतापूर्ण, कवित्वमय, संस्कृत गर्भित शैली और दूसरी जन-साधारण सुलभ भाषा में यथार्थवादी शैली, जिन्हें क्रमशः संश्लिष्ट और बोझिल तथा हल्की और सरल शैली कह सकते हैं। इनके निर्माण में लेखक की प्रवृत्ति और चेतना का योग रहता है। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना के विकास की आवश्यकता ने नई नई शैलियों तथा रूप-विधानों को जन्म दिया।

राष्ट्रीय चेतना की आवश्यकता ने विभिन्न प्रवृत्तियों को भी जन्म दिया है। किसी ने मानव जीवन की उलझनों का सुलझाव फ्रायड के मनोविश्लेषण में देखा (इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, अंचल, अज्ञेय आदि), तो किसी ने सामाजिक जीवन के नग्न चित्रण में (उग्र), तो किसी ने सामाजिक यथार्थ के चित्रण में, तो किसी ने मजदूर, किसान और मध्यम वर्ग के संघर्ष के चित्रण में (प्रेमचन्द्र, यशपाल, श्री कृष्णदास, नागार्जुन आदि)। इस प्रकार अनेक प्रवृत्तियों का गद्य साहित्य रचा गया, जिसे हम मोटे तौर पर प्रगतिवादी, फ्रायडवादी, प्रकृतवादी, यथार्थवादी आदि कह सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी गद्य साहित्य की चेतना, प्रवृत्ति और भाषा शैली के क्रमिक विकास की पीठिका में राष्ट्रीय जागरण की प्रेरणा मुख्य रूप से कार्य करती रही है और उसे दिशा देती रही है। हिन्दी गद्य साहित्य के विकास की इस निसर्ग पीठिका की सही समझ के आधार पर ही हम हिन्दी गद्य साहित्य की आत्मा को सही रूप में समझ सकते हैं।

भाग २

— हिन्दी गद्य की विविध-विधाओं का शास्त्रीय विवेचन

— हिन्दी नाटक

हिन्दी गद्य की विविध-विधाओं का शास्त्रीय विवेचन

आज हिन्दी गद्य का चतुर्मुखी विकास हो रहा है और उसकी विविध विधाओं—नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि में नित नई नई शैलियों का प्रयोग हो रहा है। शैलियों के नये-नये प्रयोग आज कला के सभी रूपों—चित्रकला, संगीतकला, वास्तुकला आदि में हो रहे हैं। यह प्रयोग विकास के द्योतक हैं।

हिन्दी गद्य की प्रमुख प्रचलित विधाएँ हैं—नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, गद्य-गीत, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रिपोर्ताज और रेखाचित्र। इन सब प्रमुख विधाओं की अलग अलग अनेक शैलियाँ हैं। इन शैलियों की परिवर्तन एवं विकास-गति इतनी तीव्र है कि उन्हें परिभाषा की सीमा में बाँधना अत्यन्त कठिन है। शायद ही किन्हीं दो लेखकों की शैली में पूर्णतः साम्य हो। अस्तु शैलीगत विवेचन शैलियों के स्थूल रूपों पर ही आधारित हो सकता है। साहित्य निर्माण के बाद ही आलोचक उस रचना के रचनातन्त्र या विधा का विवेचन कर उसके रूपों का निर्देशन करता है। आदि कवि वाल्मीक द्वारा रामायण की रचना के काफी बाद ही महाकाव्यों की कसौटी का निर्माण किया गया। महाकाव्यों की कसौटी का निर्माण हो जाने के बाद भी कोई महाकाव्य पूर्णतः शास्त्रीय कसौटी पर प्रायः खरा नहीं उतरता। यही बात साहित्य की अन्य विधाओं के सम्बन्ध में भी सत्य है। लेखक केवल विधाओं—नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास आदि के स्थूल रूपाधार को ग्रहण कर नाटक, निबन्ध, कहानी आदि की रचना विविध शैलियों में करता है और उन विविध शैलियों के चयन और निर्माण में वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होता है। अतः यह दो भिन्न वस्तुएँ हैं—विधा और विधागत शैली या रचना-प्रकार। आज विधा और विधागत-शैली दोनों में ही नये प्रयोग हो रहे हैं, और नई-नई विधाओं तथा नई-नई विधागत शैलियों का निर्माण हो रहा है। हमने अगले पृष्ठों में विभिन्न विधाओं के साहित्य के विकास, उनके निर्माताओं और उनकी विधागत शैलियों का पृथक-पृथक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस अध्याय में तो हम केवल प्रमुख विधाओं का तात्विक विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

नाटक

नाटक गद्य साहित्य की वह विधा है जिसमें कल्पित या वास्तविक, घटित या अघटित, सामाजिक, ऐतिहासिक या पौराणिक घटना या कथा का रंगमंच पर पात्रों के द्वारा अभिनय से प्रत्यक्ष प्रदर्शन किया जाता है।

नाटक रंगमंच पर दिखाए जाने के उद्देश्य से ही लिखे जाते हैं। घटना या कथा का प्रदर्शन रंगमंच पर अभिनय, नृत्य गीत, दृश्य योजना और परस्पर संवाद आदि प्रमुख उपकरणों द्वारा होता है। आजकल कुछ नाटक ऐसे भी होते हैं, जिनमें नृत्य-गीतादि नहीं होते और दृश्य योजना में भी विविधता नहीं होती। उपरोक्त उपकरणों में अभिनय या अनुकरण ही नाटक का प्रधान उपकरण होता है।

प्राचीन भारतीय-नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से संवाद, गीत, अनुकरण और रस नाटक के चार प्रमुख उपकरण माने गए हैं। कथा ख्यात अथवा इतिहास-प्रसिद्ध होनी चाहिए। किन्तु आज कथा सम्बन्धी ऐसी कोई सीमिति मान्यता स्वीकृत नहीं है। हर प्रकार की कथा—सामाजिक, काल्पनिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, नाटक की कथा हो सकती है। पूर्ण नाटक में कथा दो प्रकार की होती है आधिकारिक और प्रांसगिक। आधिकारिक कथा एक होती है और प्रासंगिक कथा एक या एक से अधिक भी हो सकती हैं। प्रासंगिक कथा आधिकारिक कथा के साथ गुम्फित होती है और उसकी पूर्ण परिणति में सहायक का काम करती है। एकांकियों में केवल एक ही प्रमुख कथा होती है।

पूर्ण नाटकों की कथा वस्तु सामान्यतः अनेक अंकों में विभाजित होती है और एक अंक अनेक दृश्यों में। उनमें घटना अथवा कथा का तथा पात्रों के चरित्र का सर्वाङ्गीण चित्रण होता है और एकांकी में जीवन का खंड चित्र, एक घटना अथवा किसी पात्र के चरित्र का एक अंश चित्रित होता है। किन्तु आज पूर्ण नाटकों तथा एकांकियों की कला में भी नए प्रयोग हो रहे हैं। ऐसे छोटे नाटकों का निर्माण भी आज हो रहा है जो विस्तार में लघु होते हुए भी अपने पात्रों की ऐसी चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण प्रस्तुत करते हैं जिससे उनका सम्पूर्ण जीवन उद्भासित हो जाता है। 'अश्क' के 'कैद', 'उड़ान', अंजोदीदी आदि अनेक ऐसे नाटकों के उदाहरण हैं।

प्राचीन आचार्यों ने अभिनय का भी शास्त्रीय विवेचन किया था। अभिनय चार प्रकार के माने जाते थे—(१) आँगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य, (४) सात्विक। आज अभिनय के सम्बन्ध में भी ऐसी कोई शास्त्रीय मान्यता नहीं है; यद्यपि अभिनय प्राचीन परिभाषा आज भी खरी उतरती है।

आज नाटकों के छः तत्व माने जाते हैं—वस्तु, पात्र, कथोपकथन देशकाल, शैली और उद्देश्य। वस्तु दो प्रकार की होती हैं—आधिकारिक, और प्रासंगिक। सभी प्रकार की वस्तु नाटक की कथा का रूप ग्रहण कर सकती हैं। पात्रों में नायक, नायिका, उपनायक तथा अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण पर कथा की गति आधारित होती है। पात्र-योजना इस लाघव से

होती है कि पात्रों के तथा घटनाओं के सम्मिलित घात-प्रतिघात से पात्रों का चरित्र स्वाभाविक रूप से स्पष्ट होता जाता है। प्राचीन कसौटी के आधारपर नायक और नायिका उत्तम-गुण वाले आदर्श व्यक्ति ही होने चाहिए। किन्तु आज सामान्य और अधम व्यक्ति भी नाटक के नायक-नायिका बन सकते हैं। प्राचीन शास्त्रीय विवेचन में नायिकाओं के भी अनेक भेद-उपभेद किए गए हैं; किन्तु आज नायिका का चित्रण भी भेद-उपभेद की शास्त्रीय दृष्टि से नहीं वरन् जीवन में वास्तविकता की दृष्टि से किया जाता है। कथोपकथन पर नाटक का समस्त ढाँचा आधारित होता है। संवादों के द्वारा ही कथा अन्त की ओर अग्रसर होती है और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। संस्कृत नाटकों में स्वगत कथनों की अधिकता होती थी। हिन्दी के अनेक नाटकों में भी स्वगत कथनों का उपयोग हुआ है; किन्तु अब यह प्रवृत्ति कम होती जाती है और स्वगत कथनों का प्रायः लोप होता जाता है। उद्देश्य की दृष्टि से प्राचीन नाटकों में आदर्श से युक्त मनोरंजन का गुण होता था; किन्तु आज के नाटक कोरे मनोरंजन की दृष्टि से ही नहीं लिखे जाते वरन् उनमें जीवन के यथार्थ और सजीव चित्रण के आधार पर कोई-न-कोई जीवन-सन्देश और प्रेरणा होती है। रस निष्पत्ति भी नाटक का अब प्रधान गुण नहीं माना जाता।

प्रधान रूप से आज नाटक दो प्रकार के होते हैं—पूर्ण नाटक और एकांकी। इनके अतिरिक्त छाया नाट्य, नृत्य नाट्य, गीतनाट्य, ध्वनिरूपक आदि अनेक नाटक-रचनातन्त्र प्रचलित हैं।

रचना को दृष्टि से नाटक की कथा-वस्तु पाँच कार्य की अवस्थाओं—प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम; पाँच अर्थ-प्रकृतियों—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य तथा पाँच सन्धियों—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण में विन्यसित होती है। इस प्रकार संस्कृत नाटक-कला की परम्परा से आज की नाटक-कला में मौलिक अन्तर आ गया है और हिन्दी नाट्यकला अपने मौलिक रूप में शास्त्रीय परिभाषाओं की सीमाओं से सर्वथा स्वतन्त्र विकास कर रही है।

निबन्ध

चुस्त कसी हुई मंजी शैली में विचारों एवं भावों की तथ्यपूर्ण अभिव्यक्ति को निबन्ध कहते हैं। सामान्यतः निबन्ध शब्द अँग्रेजी के 'ऐसे' शब्द का पर्याय माना जाता है। सर्व प्रथम फ्रांसीसी दार्शनिक मोन्टेन ने अपने विचार-पूर्ण दार्शनिक लेखों को 'ऐसे' की संज्ञा दी थी। किन्तु आज निबन्ध के विषय न केवल दार्शनिक विचार ही हो सकते हैं, अपितु हर प्रकार के विचार हो सकते हैं। शुक्लजी ने निबन्ध को गम्भीर विचार-प्रकाशन का माध्यम माना है।

जिस रूप में आज निबन्ध की परिभाषा की जाती है उस रूप की परम्परा संस्कृत साहित्य में न थी। हिन्दी के निबन्ध साहित्य का स्रोत प्राचीन साहित्य नहीं है अपितु पाश्चात्य साहित्य एवं सामयिक परिस्थितियाँ हैं। भारतेन्दु ने सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप जन-जागरण के अस्त्र के रूप में निबन्धों का आरम्भ किया था।

निबन्ध को विद्वानों ने गद्य की कसौटी माना है। सभी प्रकार के विषय—इतिहास, विज्ञान, साहित्य, दर्शन, पुरातत्व आदि निबन्ध के विषय होते हैं। निबन्ध में विचारों के साथ-साथ लेखक के निजीपन और व्यक्तित्व की भी छाप होती है। वह विषय का पूर्ण वर्णन न करता हुआ भी अपने में पूर्ण होता है। उसकी भाषा मंजी हुई और चुस्त होती है—बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।" विषय और शैली की दृष्टि से विद्वानों ने निबन्ध के अनेक भेद किए हैं; किन्तु स्थूल रूप से चार भेद किए जा सकते हैं—वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक तथा भावात्मक। इनमें से शैलियों के परस्पर मिश्रण से लिखे गये निबन्धों के और भी भेद हो सकते हैं।

उपन्यास

उपन्यासों के भी छः तत्व होते हैं—कथानक, कथोपकथन, चरित्रचित्रण, वातावरण सृजन, शैली और उद्देश्य। सभी प्रकार की कल्पित और वास्तविक, घटित अथवा अघटित, ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा पौराणिक कथा, उपन्यास की कथा बन सकती है। कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यास के तीन भेद किये जा सकते हैं—ऐतिहासिक, सामाजिक और पौराणिक।

उपन्यास में विस्तार से जीवन का चित्रण होता है। वह जन-जीवन के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत कर प्रेरणा देने का भी काम करता है। उपन्यासकार काल्पनिक अथवा वास्तविक घटना को अपनी भावना के अनुरूप चित्रित कर उसमें मानव-मनोभावों, सामाजिक-यथार्थ और समाज तथा मानव-जीवन के भावी-रूप की दिशा चित्रित करता है।

जिस उपन्यास में कथा और पात्र घटनाओं तथा पात्रों के परस्पर घात-प्रतिघात से स्वतः विकसित होते जाते हैं, लेखक को अपनी ओर से उन्हें संचालित नहीं करना होता, वह उपन्यास श्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है।

उपन्यास में इतिहास, जीवनी, आत्मकथा, नाटक, कहानी, रिपोर्ताज आदि सभी विधाओं के गुण विद्यमान होते हैं और सभी से मिलकर एक

प्रकार से उपन्यास की कला का निर्माण होता है। इन सब विधाओं के मिश्रित रूप से बनी विधा को उपन्यास कला का नाम देना असंगत न होगा।

यद्यपि भारत में कथा साहित्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और साहित्य के इस अंग का शास्त्रीय विवेचन भी विद्वानों ने करके इसके दो विभाग किये हैं—उपाख्यान और कथा साहित्य; किन्तु प्राचीन कथा साहित्य-दण्डी का 'दशकुमारचरित', बाण की 'कादम्बरी' तथा प्राकृत बृहत्कथा आदि हिन्दी उपन्यास साहित्य का प्रेरणा स्रोत न बन सका। उसके उद्भव पर पाश्चात्य उपन्यास साहित्य का प्रभाव अधिक है और उसका विकास राष्ट्रीय जागरण की आवश्यकताओं को लेकर हुआ है।

उपन्यास को बाबू गुलाबराय के शब्दों में मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा कह सकते हैं। प्रेमचन्द ने इसी बात को दूसरे ढंग से कहा है—कि 'उपन्यास मानव चरित्र का चरित्र मात्र' है। 'मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।'

कहानी

कहानी की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं—कहानी वह है जो एक घंटे में पढ़ी जा सके। कहानी में जीवन के किसी अंश या खंड का चित्र होता है। कहानी उपन्यास का संक्षिप्त रूप है।

कहानी एक ऐसी छोटी कथा है जो एक बैठक में पढ़ी जा सके। जो पाठक पर एक प्रभाव डाले। उसमें उन-उन बातों को ही चुनकर रखा जाता है जो प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हों; शेष का उसमें से बहिष्कार कर दिया जाता है। कहानी में घटित होने वाली कथा आकस्मिकता से पूर्ण हो, उसमें गति की तीव्रता हो और एक जिज्ञासा का तत्व हो जो पाठक को कहानी से बाँधे रहे और चरमविकास तथा अन्त तक उसके मन में कौतूहल उत्पन्न होता रहे। श्यामसुन्दरदास के शब्दों में कहानी आख्यायिका का एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है। इस प्रकार कहानी की अनेक परिभाषाएँ हैं।

गद्य-गीत

अज्ञात प्रियतम को मधुर सरस शब्दों में भावना पूर्ण आत्म समर्पण गद्य-गीत कहा जा सकता है। रहस्यवादी काव्य की ही भाँति उसमें भी रहस्य शक्ति को प्रियतम रूप में सम्बोधन कर हृदय के भावों की अभिव्यक्ति होती है। उसमें गीत की सी मधुरता, लघुता, एकभाव पूर्णता तथा स्वरता और सरसता होती है। उसमें वैयक्तिकता अधिक होती है। ईश्वर या पार्थिव प्रिय के प्रति प्रेमपूर्ण भावों का समर्पण ही उसका एक मात्र विषय होता है।

जीवनी

जब कोई दूसरा व्यक्ति किसी की जीवन गाथा को उसके सत्य रूप में प्रस्तुत करता है तो वह कृति जीवनी का रूप धारण करती है। जीवनी में चरित नायक के जीवन की तथा उससे सम्बन्धित घटनाओं का इतिहास होता है; किन्तु वह इतिहास साधारण इतिहास से अलग होता है उसमें कल्पना और सहृदयता का पुट होता हैं जिससे उसमें उपन्यास की सी रोचकता और मार्मिकता तथा सम्बेदनीयता आ जाती है। जीवनी में चरित नायक का व्यक्तित्व प्रधान होता है अतः वह उपन्यास भी नहीं है। जीवनी शैली में उपन्यास लिखने की प्रथा भी चल पड़ी है, जैसे—'शेखर : एक जीवनी'।

आत्मकथा

आत्मकथा जीवनी से ही मिलती-जुलती एक विधा है। इसमें लेखक स्वयं अपने विषय में लिखता है। वह उसकी अपनी जीवनी ही होती है व्यक्तिगत और सार्वजनिक। शेष सभी तत्व जीवनी के ही इसमें भी होते हैं।

संस्मरण

लेखक किसी स्थान, किसी घटना, किसी महापुरुष के साथ कुछ दिन, किसी यात्रा आदि की मधुर स्मृतियों का वर्णन जब करता है तो संस्मरण साहित्य का निर्माण होता है। इसमें लेखक दूसरों के वर्णन के साथ-साथ अपने हृदय की भावनाओं और अनुभूतियों का भी चित्रण करता है।

रेखा-चित्र

जिस प्रकार एक चित्रकार कुछ रेखाओं के द्वारा ही विना सम्पूर्ण चित्र बनाए पूरा भाव स्पष्ट कर देता है उसी प्रकार रेखा-चित्रकार घटना, पात्र, वातावरण या किसी कथा का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किए विना ही रेखा चित्र द्वारा भाव को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। उसकी कला अत्यन्त सूक्ष्म होती है। शब्द चयन और गुम्फन में बड़े लाघव की बाँछा होती है।

रिपोर्ताज

रिपोर्ट का ही साहित्यिक और कलात्मक रूप रिपोर्ताज कहा जा सकता है। एक अखबार की रिपोर्ट ही जब भावनाओं और संवेदनाओं, सुन्दर शब्दों आदि के कला कलेवर से अलंकृत हो जाती है तो उसे गद्य साहित्य की एक विधा को रिपोर्ताज की संज्ञा दे दी जाती है।

हिन्दी नाटक

हिन्दी गद्य साहित्य का प्रारम्भ प्रायः नाटकों से ही हुआ। इसका एक कारण है—साहित्य के अन्य रूप-विधानों—कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि के विकास की परम्परा एवं संस्कृति साहित्य में प्रायः नहीं है। जो है उसे शुद्ध रूप से हम इन कला रूपों का साहित्य नहीं कह सकते। नाटकों की विकास-परम्परा हिन्दी को विरासत के रूप में संस्कृत से प्राप्त हुई। अश्वघोष, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत नाटककारों ने अनुपम कलात्मक सौन्दर्य का नाटक-साहित्य प्रस्तुत किया और जब कालान्तर में हर्ष के बाद साहित्यिक नाटकों का ह्रास आरम्भ हुआ तब भी पुरानी लोक-नाट्यों की परम्परा—रासलीला, रामलीला, यात्रा, कठपुतली, स्वाँग, नकल आदि में जनता के बीच जीवित रही। अस्तु, राष्ट्रीय जागरण के उषःकाल में जब साहित्यकारों का ध्यान अपने गद्य साहित्य के सम्वर्धन की ओर गया और उन्होंने जन-जन में नव-चेतना के संचार के निमित्त साहित्य को एक सबल और समर्थ माध्यम बनाने की आवश्यकता का अनुभव किया तो उनकी सबसे पहिली दृष्टि नाटकों पर गई जिनकी जड़ें लोक-नाट्यों के रूप में जनता में गड़ी थीं। दूसरा कारण सामयिक है। राष्ट्रीय जागरण के उषःकाल में जबकि देश को सामाजिक, धार्मिक अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, कुरीतियों एवं राजनैतिक शोषण के विरुद्ध तथा अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रति सजग चेतना उत्पन्न करने की आवश्यकता हुई तो कलाकारों में जन जीवन की इस यथार्थ तस्वीर को जनता की आँखों के सामने प्रस्तुत करने के लिए नाटकों तथा रंगमंच को माध्यम बनाया। भारतेन्दु का तथा प्रायः हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" इसी चेतना का नाटक है। उस काल के नाटकों में दो प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं—एक तो उनकी रंगमंचीयता, दूसरी जन-जीवन से उनकी निकटता। तीखे व्यंग नाटकों के प्राण हैं। भारतेन्दु और उनके समकालीन सभी नाटककारों में यह विशेषता दीख पड़ती है।

उस समय जनता की मानसिक स्थिति किसी गम्भीर बात को गम्भीर ढंग से सुनने-समझने के उपयुक्त न थी। अस्तु मेले-ठेलों में खेले जाने वाले तथा त्यौहारों पर किये जाने वाले नौटंकी, स्वाँग, रासलीला, रामलीला आदि, जोकि जनता के मनोरंजन के माध्यम थे, को माध्यम बनाकर शिष्ट शिक्षित तथा अशिक्षित जन साधारण तक जागरण की चेतना को पहुँचाना ही उस समय के साहित्यकारों के सामने सबसे सुलभ मार्ग था।

उस काल के नाटकों में विषयगत एवं भाषा शैलीगत निम्न विशेषतायें थीं।

(१) उस काल के समस्त नाटकों की चेतना भारतेन्दु के शब्दों में "देश वत्सल तथा समाज सुधार" की है। सभी नाटक उद्देश्य पूरक हैं और उनका उद्देश्य है—सोई जनता को जगाना, उसमें राष्ट्रीय गौरव की भावना उत्पन्न करना, अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और आडम्बरों के घने अन्धकारों से उसे मुक्त करना तथा उसमें एकता और देशोन्नति की नई स्फूर्ति उत्पन्न करना। सभी नाटकों की कथा वस्तु या तो सीधे-सीधे तत्कालीन यथार्थ-जीवन से ली गई है और यदि कथा वस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक है तो प्रस्तावनों और भरतवाक्यों द्वारा तत्कालीन जीवन के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित कर जागृति का सन्देश दिया गया है, जैसे भारतेन्दु के नाटक "सत्य हरिश्चन्द्र", "नीलदेवी" आदि में। इस प्रकार नाटकों को नई चेतना के व्यापक प्रसार का सशक्त साधन बनाया गया।

(२) उस काल के प्रायः सभी नाटकों की भाषा बोलचाल की सरल, सरस, मुहावरेदार है और पात्रोनुकूल है। सभी नाटक रंगमंचीय हैं और उनमें नाटक के शास्त्रीय नियमों, लोक नाट्यों की परम्परा तथा पाश्चात्य नाटकों की शैली का अपूर्व मिश्रण है। नाटक की रचना शैली में अनेक प्रयोग किये गये जैसे नाट्य-रासक, काव्य नाट्य, प्रहसन, भाँड आदि, जिनमें नवीन और प्राचीन दोनों शैलियों का सामयिक आवश्यकता की दृष्टि से मिश्रण कर एक नवीन 'हिन्दी नाट्य शैली' का सूत्रपात किया गया।

(३) सभी नाटकों में जन-जीवन को चेतना की दिशा देने की सांकेतिकता है। भारतेन्दु के अधिकाँश नाटकों की कथा अपने प्रतीक रूप में विन्यास की गई हैं जैसे "भारत दुर्दशा", "भारत जननी" आदि तथा पात्रों में वर्ग प्रतिनिधित्व की व्यापकता है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करने के लिये मूर्त तथा अमूर्त कथाओं का आधार ले सांकेतिक शैली का सूत्रपात किया गया।

(४) सभी नाटकों में भाषा तथा वस्तु में व्यंगात्मकता है।

उस काल के नाटकों में कला का निखार विशेष नहीं हो पाया। उस युग की परिस्थितियों में इसकी इतनी सम्भावना भी न थी। नई चेतना का प्रचार उनका मुख्य लक्ष्य था और उन्होंने जिस नई साहित्यिक एवं राजनैतिक चेतना को जन्म दिया उसके लिए वे हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास की अमर निधि हैं। वे हिन्दी नाटकों की वह सबल आधार शिला हैं, जिस पर नाटकों

का भावी भवन निर्मित हुआ है। वस्तुतः भारतेन्दु तथा उनकी पीढ़ी के नाटककारों ने नाट्य शिल्प में जो देन दी वह उपेक्षणीय तो बिल्कुल नहीं है वरन् आज भी अनेक रूपों में नाटकों में रंगमंचथिता जन-जीवन से निकटता, व्यंगात्मकता तथा जनता को चेतन करने के सबल अस्त्र के रूप में—वह हमारे लिए आदर्श स्वरूप है।

उस काल को हम नाटक साहित्य का प्रथम चरण कह सकते हैं। उस काल के प्रमुख नाटककार हैं—भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी और राधाकृष्णदास आदि।

भारतेन्दु पीढ़ी के बाद जयशंकर प्रसाद से पूर्व यों नाटक रचना होती रही, पर कोई विशेष प्रतिभा का नाटककार नहीं जन्मा, जिसने शिल्प-तन्त्र, विषयचयन, चेतना या प्रवृत्ति की दृष्टि से कोई नई देन दी हो। नाटक रचना में यह ठहराव लगभग १९०० से १९१४ तक चलता है, यद्यपि प्रसाद ने अपना पहिला नाटक "सज्जन" १९१०–११ में लिखा था। इस ठहराव काल में दो प्रकार की नाटक रचना देखने में आती है। पारसी कम्पनियों के रंगमंच के लिये नाटक, जिनमें अब पहिले की अपेक्षा कलापरिष्क होता था तथा सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक समस्याओं पर व्यंगात्मक प्रहसन! पहले वर्ग के नाटककार थे, नारायणप्रसाद 'बेताब', आगा हश्र 'काश्मीरी', हरिकृष्ण 'जौहर', तुलसीदत्त 'शैदा' इत्यादि। दूसरे वर्ग के नाटककार हैं बदरीनाथ भट्ट, ('कुरुवन दहन', "दुर्गावती" तथा "चन्द्रगुप्त") पंडित माधव शुक्ल ("महाभारत"), मिश्रबन्धु ("नेत्रोन्मीलन"), पांडेय लोचन शर्मा ("प्रेम-प्रशंसा"), आनन्दप्रसाद खत्री ("संसार स्वप्न"), राधेश्याम मिश्र ("कौंसिल की मेम्बरी"), सुदर्शन ("आनरेरी मजिस्ट्रेट"), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ("उज्वक" और "चार बेचारे"), जी० पी० श्रीवास्तव ("मार मार कर हकीम") और राधेश्याम कथावाचक ("साहब बहादुर उर्फ चड्ढा गुलखैरु")। दूसरे वर्ग के नाटककारों के नाटकों का साहित्यिक मूल्य आज भी है।

नाटक साहित्य का द्वितीय चरण प्रसाद के नाटकों से आरम्भ होता है। इस समय तक देश का राष्ट्रीय आन्दोलन पुष्ट हो चला था। जनता की राष्ट्रीय चेतना सबल, गहरी और व्यापक हो चली थी, तथा उसमें एक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय गौरव की भावना जग चुकी थी। जनता राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित हो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा सांस्कृतिक उत्थान के एक निश्चित

लक्ष्य की ओर बढ़ रही थी। गद्य साहित्य के प्रथम चरण में जो राष्ट्रीय चेतना प्रेरणा का काम कर रही थी उसने अब एक निश्चित् रूप ग्रहण कर लिया था। उस काल में पाश्चात्य साहित्य और जनवादी विचारों का हमारे मुक्ति आन्दोलन तथा साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। फलतः साहित्यगत मान-मूल्यों, रूपों, प्रवृत्तियों, शैलियों आदि में नवीन परिवर्तन आये। हिन्दी में द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बंगला नाटकों का अनुवाद तेजी से हो रहा था। उनके द्वारा पाश्चात्य शैली की विकसित परम्परा हमारे साहित्य में आई। आरम्भ में यह पाश्चात्य प्रभाव स्वस्थ, अस्वस्थ दोनों ही प्रकार का था, किन्तु प्रसाद ने दोहन-मन्थन कर हिन्दी नाटकों के रचनातन्त्र का नितान्त मौलिक रूप में विकास किया। नान्दीपाठ, मंगलाचरण, प्रस्तावना, भरतवाक्य का बहिष्कार, घटनाओं का अन्तर्द्वन्द, उच्चवर्ग की अपेक्षा जीवन से नाटक ग्रहण करने और वर्जित दृश्य भी रंचमंच पर दिखाने की परम्परा का बीजारोपण हम भारतेन्दु के नाटकों में पाते है। पर उस समय शैली की खिचड़ी सी चल रही थी। प्रसाद के हाथों में आकर शैली का एक निश्चित रूप स्थिर हो गया। संस्कृत की इन नाट्य-परम्पराओं से निश्चित रूप से नाता तोड़ लिया गया। विदूषक के समावेश में भी परिवर्तन आया। संस्कृत नाटकों में विदूषक कथा प्रसंग से प्रथक राजदरबार का एक व्यक्ति होता था, जिसका काम केवल नायक का मनोरंजन करना ही होता था। अब विदूषक कथा प्रसंग में अन्य पात्रों जैसा ही एक पात्र होने लगा, जिसकी चरित्रगत विशेषता हास्योपादक होती थी। इन सबके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों से एक मौलिक परिवर्तन भी इस काल के नाटकों में आया। संस्कृत में नाटकों का मूल उद्देश्य रस उत्पत्ति माना गया है, पर पाश्चात्य नाटकों तथा तत्कालीन परिस्थितियों से अनुप्राणित होकर हिन्दी नाटकों के कथा विन्यास में घटनाओं तथा पात्रों के बाह्य तथा आन्तरिक अन्तर्द्वन्दों द्वारा कथा विकास, चरित्र-चित्रण तथा जीवन के प्रति प्रयोजनीयता के तत्वों का समावेश हुआ। फलतः नाटकों में स्वाभाविकता और जन-जीवन से निकटता आई। इन शैलीगत परिवर्तनों के होते हुए भी नाटकों की आत्मा और आदर्श भारतीय रहा। इस प्रकार इस काल में एक अनूठी शैली का रूप-संचार हुआ जो संस्कृत नाट्य-परम्परा और पाश्चात्य शैलो दोनों से मुक्त, तत्कालीन परिस्थिति जन्य आवश्यकताओं के आधार पर विकसित हुई है।

भारतेन्दु काल में वस्तुचयन का क्षेत्र पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक था। इस काल में भी वस्तुचयन के क्षेत्र यह तीनों ही रहे, पर विशेष बल सामाजिक और ऐतिहासिक पर रहा। प्रसाद के प्रायः सभी नाटक ऐति-

हासिक हैं। प्रसाद ने वर्तमान की समस्याओं का समाधान ऐतिहासिक पृष्ठों में खोजा और इतिहास से उन गौरवशाली कथाओं को चुनकर नाटक रचना की जो आज के जीवन संघर्ष में हमें प्रेरणा प्रदान करते हैं। उनके ऐतिहासिक चरित्र तत्कालीन मानव जीवन को महान् और उदात्त मानवीय सांस्कृतिक प्रेरणा देने में समर्थ हैं।

तीन अथवा अधिक अंकों के नाटकों के अतिरिक्त इस काल में एकांकी नाटकों का विशेष रूप से प्रचलन हुआ। एकांकी नाटकों की टेकनीक का एक धुंधला सा रूप हमें भारतेन्दु के "अन्धेर नगरी", "भारत दुर्दशा", "भारत जननी" आदि नाटकों में देखने को मिल जाता है। पर इस शैली का सम्यक विकास इसी काल में आकर हुआ। संस्कृत में भी एक अंक के नाटकों का प्रचलन मिलता है, किन्तु उनकी और आधुनिक एकांकियों की शैली में तात्विक अन्तर है। हिन्दी एकांकी संस्कृत एकांकियों से अनुप्राणित एवं पाश्चात्य एकांकियों से प्रभावित तत्कालीन व्यस्त जीवन की आवश्यकताओं की उपज है। संस्कृत के प्राचीन लक्षण ग्रन्थों में भांड, व्यायोग, अंक, बीथी और प्रहसन—यह पांच प्रकार के एकांकी रूपक दिखाये गये हैं। संस्कृत में इस प्रकार के नाटकों की टेकनीक स्वतंत्र थी और वे अपने में पूर्ण होते थे, किन्तु अंगरेज़ी में एकांकी मुख्य नाटक के आरम्भ या बाद में दर्शकों का समय काटने के लिये दिखाये जाते थे। इसीलिये उन्हें (curtain raiser) कर्टेन रेज़र या (after pieces) आफटर पीसेज़ कहा गया है। भारतेन्दु ने संस्कृत एकांकियों की परम्परा पर अनेक एकांकी लिखे—"विषस्य विषमौषधम", भांड; "धनन्जय विजय", व्यायोग; "अन्धेर नगरी" तथा "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवतिः", प्रहसन और "भारत दुर्दशा", रूपक शैली में। श्रीनिवासदास, प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि उस काल के प्रायः सभी नाटककारों ने अपने लघु नाटकों के रूप में एकांकी कला का बीजारोपण किया था, जो आगे चलकर पाश्चात्य कला का योग पाकर विशिष्ठ कला रूप में विकसित हुए! आधुनिक एकांकियों में कला सम्बन्धी जिस विशेषता के दर्शन होते हैं वह काफी हद तक पाश्चात्य एकांकी कला के प्रभाव का परिणाम है।

एकांकी कला के विकास का प्रथम चरण हम भारतेन्दु के प्रथम एकांकी "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" (१८७३) से लेकर प्रसाद के "एक घूंट" (१९२९) तक मान सकते हैं। "एक घूंट" में आकर एकांकी कला अपना एक निश्चित और निखरा हुआ रूप ग्रहण करती है। हिन्दी के कुछ समालोचक इतिहासकार "एक घूंट" को ही हिन्दी का प्रथम एकांकी मानने

की भूल करते हैं। किन्तु यह सत्य है कि भारतेन्दु से लेकर प्रसाद तक नाटक रचना में पूर्ण नाटक और एकांकियों का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था जो "एक घूंट" के बाद ही हुआ।

"एक घूंट" के बाद हिन्दी में एकांकियों की बाढ़ सी आ गई और अनेक प्रतिभाशाली एकांकीकारों का जन्म हुआ। वस्तु विन्यास, रंगमंच तथा रचनातंत्र सम्बन्धी नये नये प्रयोग हुये और प्रायः सभी नाटककारों ने पूर्ण नाटकों के साथ साथ एकांकियों का भी सृजन किया। विकास क्रम की दृष्टि से हम इधर २५ वर्षों में रचे गये एकांकी साहित्य के तीन पौद देख सकते हैं। पहिली पौद के उल्लेखनीय कलाकार हैं—सूर्यकरण पारीख, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पं० गोविन्द बल्लभ पन्त आदि। इनके एकांकी विकास क्रम की एक सीढ़ी अवश्य प्रस्तुत करते हैं पर शैली और कला की शिथिलता के कारण हिन्दी साहित्य में वे अपना विशेष स्थान नहीं बना पाये। पाश्चात्य नाटककार इबसन और बर्नार्ड शा से प्रभावित होकर भुवनेश्वर और रामकुमार वर्मा आदि ने विशिष्ठ कलापूर्ण एकांकियों का सृजन किया, इसे हम दूसरी पौद कह सकते हैं। तीसरी पौद में अश्क, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर आदि अनेक नये-पुराने एकांकीकार नये प्रयोग कर रहे हैं।

प्रसाद के नाटकों की दो विशिष्ट धारायें आरम्भ हो जाती हैं—एक पूर्ण नाटकों की और दूसरी एकांकियों की। यद्यपि प्रसाद के 'एक घूंट' से एकांकी नाटकों की धारा अबाध गति से विकसित हो चली, जिसका हम ऊपर विवेचन कर आये हैं, किन्तु प्रसाद फलतः पूर्ण नाटककार या अनेकांकीकार रहे। उनके नाटकों में सब से बड़ा दोष उनकी रंगमंच के लिये अनुपयुक्तता पाया जाता है। भारतेन्दु ने नाटक रचना के साथ रंगमंच की जिस परम्परा का सूत्रपात किया था वह प्रसाद में आकर समाप्त हो गई। प्रसाद ने रंगमंच को दृष्टि में रखकर अपने नाटकों की रचना नहीं की। उनके नाटक अर्थगाम्भीर्य, सूक्ष्म सांस्कृतिक चित्रण और साहित्यक सौन्दर्य के लिये ही हिन्दी साहित्य में अमर हैं। यह कहना तो ठीक न होगा कि प्रसाद के नाटक रंगमंच के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं, बल्कि रंगमंच ही उनके नाटकों के उपयुक्त विकास नहीं कर पाया।

प्रसाद तथा उनके समकालीन तथा उनके बाद के लेखकों ने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना का क्रम जारी रक्खा। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समाजिक समस्याओं को लेकर समस्यामूलक नाटक लिखे। गोविन्दबल्लभ पन्त ने राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामाजिक संघर्षों की कथा

वस्तु पर नाटक लिखे हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने भी ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना की, जिनमें राष्ट्रीय चेतना ही मूल रूप से कथा चयन और वस्तु विन्यास की प्रेरणा शक्ति बनी। उदयशंकर भट्ट ने अपने ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक नाटकों में तत्कालीन जन जीवन का या तो यथार्थ चित्रण किया है या उनकी अनरूपता में इतिहास और पुराण से कथावस्तु को लाकर प्रस्तुत किया है। हरिकृष्ण प्रेमी ने अपने नाटकों के लिये राष्ट्रीय संघर्ष से कथा ली है। उपेन्द्र नाथ अश्क ने अपने नाटकों में पुनः भारतेन्दु की व्यंगात्मक शैली को सजीव किया है। प्रसाद के बाद के नाटककारों में चेतना और शैली दोनों ही दृष्टियों से जनता के साथ अधिकतम निकटता स्थापित हुई। प्रसाद के नाटक जहाँ केवल शिक्षित और सांस्कृतिक रुचि सम्पन्न वर्ग के उपयुक्त होकर रह गये, वहाँ उनके बाद के नाटककारों ने अधिक सजगता के साथ जनता से सम्पर्क स्थापित किया, उसके संघर्ष, मनोभावों और उसकी समस्याओं को नाटक का विषय बनाया और साथ ही नाटकों को अधिक से अधिक रंगमंच के उपयुक्त बनाने का भी प्रयास किया। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक लिखने की प्रवृति भी कम होती गई और सामाजिक नाटकों पर विशेष बल दिया जाने लगा। किन्तु भारतेन्दु तथा उनकी पीढ़ी के नाटककारों में जितनी व्यापक सामाजिक चेतना दिखाई देती है, उतनी व्यापक सामाजिक चेतना प्रसाद और उनके बाद के नाटककारों में कम देखने को मिलती है। जन जीवन में आज जो असन्तोष, वैषम्य, और निराशा तथा संघर्ष की प्रवृति है उसका कलात्मक चित्रण आज के नाटकों में कम देखने को मिलता है। नाटकों में पात्रों का चरित्र चित्रण एकांगी होता है—सद अथवा असद। उनमें किसी पात्र के चरित्रगत अन्तर्विरोध कलात्मक रूप में नहीं उभर पाते। इस प्रकार वे जनजीवन के प्रतिनिधि चरित्र नहीं बन पाते। फलतः वे प्रकृतिवादी चित्रण ही रह जाते हैं। इस प्रकार आज दो प्रकार के नाटक देखने को मिलते हैं प्रकृतवादी और यथार्थवादी! कला की दृष्टि से आज के नाटकों ने निश्चित रूप से विकास किया है और नाटक रचना की अनेक टेकनीक आज विकसित हो गई हैं जिन्हें हम निम्न रूप में वर्गीकृत कर सकते हैं।

(१) जीवन का पूर्ण चित्र उपस्थित करने वाले तीन या अधिक अंकों की अपेक्षा एक अंक के लघु नाटकों का सृजन जो एक अंक के होते हुये भी एकांकी नहीं हैं, वरन् चरित्र चित्रण की व्यापकता और सर्वाङ्गीणता के कारण पूर्ण नाटकों की कोटि में आते हैं, जैसे अश्क के नाटक "क़ैद और उड़ान"।

(२) एक नाटक में एक लम्बे कार्यक्रम का तारतम्य स्थापित करने के लिये बीच में छाया चित्रण (Shadow play) का प्रयोग।

(३) मिश्रित शैली के नाटक जिसमें मूक नृत्य, अभिनय, संवाद तथा छाया चित्र और नैपथ्य से उद्घोषण (Commentary) का प्रयोग एक साथ होता है। भारतीय जन नाट्य संघ तथा पृथ्वी थियेटर्स ने इस टेकनीक के अनेक नाटक उपस्थित किये हैं।

(४) छाया नाटक (Shadow play)।

(५) मूक नृत्य नाटक जिनमें गद्य या पद्य में उद्घोषण (Commentary) होती है और किसी-किसी में इसके साथ छाया का भी प्रयोग होता है।

(६) रेडियो नाटक।

(७) खुले रंगमंच (Open Theatre) के नाटक।

(८) भावरूपक जैसे पन्त का 'ज्योत्सना' और उदयशंकर भट्ट के 'विश्वामित्र' और 'राधा'।

(९) सूत्रधार तथा छाया की सहायता से सम्बन्ध स्थापित करते हुये अनेक युगों की कथा के नाटक।

इस प्रकार आज अनेक शैलियों का प्रयोग पूर्ण और एकांकी नाटकों में चल रहा है। यद्यपि लगभग पिछले ५० वर्षों में नाटक साहित्य में आशातीत उन्नति हुई है, किन्तु यह विकास अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वर्तमान नाटकों में विषयगत दोषों का संक्षिप्त विवेचन हम ऊपर कर आये हैं। टेकनीक की दृष्टि से भी उनमें अनेक दोष हैं। इन दोषों का मूल कारण है हिन्दी के अपने रंगमंच का न होना है। इसीलिये नाटककार रंगमंच की दृष्टि से स्वाभाविकता लाने का प्रयास करते हुये भी सफल नहीं हो पाते। इधर कुछ नाटकों में सिनेमा के प्रभाव से दृश्यविधान इतना दुस्तर और जटिल तथा अस्वाभाविक होने लगा है कि उसका रंगमंच पर प्रस्तुत करना असम्भव है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी का नाट्य साहित्य अनेक दोषों के होते हुये भी विकास के पथ पर आगे बढ़ रहा है।

नाटककार

(१)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु ने साहित्य की अन्य विधाओं के सृजन के साथ नाटक रचना पर विशेष ध्यान दिया था। क्योंकि उन्होंने नाटकों को जन-जीवन में नयी चेतना के संचार का एक सार्थक एवं सबल साधन समझा था, और उनके समस्त नाटक—अनुवादित एवं मौलिक—जन-जीवन में राष्ट्रीय जागरण की चेतना उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही निर्मित हुए हैं।

उनकी नाट्य साधना के पीछे हमें साधारणतः दो उद्देश्य परिलक्षित होते हैं:—(१) नाटकों के द्वारा जनता को जीवन की यथार्थ झाँकी तथा नया पथ प्रत्यक्ष दिखाया जा सकता है और दर्शक प्रत्यक्षतः उनसे प्रभावित हो सकते हैं, अस्तु उन्हें राष्ट्रीय जागरण का सशक्त साधन बनाना; तथा (२) साहित्य संवर्धन और नाट्यकला का विकास करना।

इन दोनों उद्देश्यों ने ही प्रमुख रूप से उनकी नाट्यकला को प्रभावित किया है। इन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर ही उन्होंने अपने समस्त नाटकों को यथासम्भव अभिनेय बनाया था। उन्होंने नाटक की अभिनेयता पर विशेष बल दिया था और उसके लिए एक रंगमंच का भी उन्होंने निर्माण किया था। रंगमंच के सम्बन्ध में उस समय एक ओर पारसी नाटक कम्पनियों का विकृत रूप था जिसमें कला का अभाव था। दूसरी ओर संस्कृत की नाट्य परम्परा थी जो उस समय निर्जीव हो चुकी थी और परम्परा की वस्तु बनकर रह गई थी। भारतेन्दु ने इन दोनों रूपों से सर्वथा भिन्न नाट्य-कला का विकास किया था। नाटक रचना की शास्त्रीय मान्यताओं का नवीनीकरण किया और उन्हें विदेशी साहित्य के स्वस्थ सम्पर्क से समयानुकूल रूप प्रदान किया। वे नाटक रचना की शास्त्रीय मान्यताओं को ज्यों का त्यों अपनाने के पक्षपाती न थे, और जो कुछ प्राचीन है, वह सब सड़ा-गला है कहकर उसे ठुकराने वाले भी न थे। उन्होंने वस्तुतः नाटक रचना की स्वस्थ परम्परा के आधार पर नवीन का समावेश कर अभिनव-कला का सृजन किया था, जिस कला के निखार-विकास एवं सृजन के पीछे सतत् रूप से शास्त्रीय चेतना कार्य कर रही थी। इस चेतना ने उनके नाटकों के वस्तुचयन, वस्तुगठन एवं भाषा शैली को जो

रूप प्रदान किया था, वही उस काल के नाटककारों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना।

उन्होंने अपने नाटकों की कथा-वस्तु का चयन संस्कृत नाट्य परम्परा से हटकर उच्चवर्ग के साथ मध्यम तथा सामान्य जीवन से किया। अस्तु नाटकों की कथा में जन-जीवन से अधिक निकटता, स्वाभाविकता प्रभावशीलता एवं यथार्थता आई। उनके नाटकों के नायक एवं पात्र तथा उनके जीवन की घटनाएँ—चाहे वे पौराणिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक हों—अधिक मानवीय हैं। 'राजा हरिश्चन्द्र' पौराणिक व्यक्ति होते हुए भी मानव, एक संघर्षशील मानव है जो अपनी परिस्थितियों के संघर्ष में जूझता रहता है; पर हारता नहीं।

वस्तु-गठन में उन्होंने वस्तु-चयन के अनुकूल ही परिवर्तन किए, और प्राचीन रचना तन्त्र के समयानुकूल तत्वों के साथ नवीन रूपों का समावेश कर सर्वथा स्वतन्त्र हिन्दी नाट्य-कला को जन्म दिया। उनके दृश्य विधान अत्यन्त सरल हैं, कथा का आरम्भ, विकास और अन्त अत्यन्त स्वाभाविक रूप से कथा लक्ष्य को कथा की घटनाओं के घात-प्रतिघात से उद्घाटित करता हुआ चलता है। समस्त नाटक में दर्शक की मनः चेतना को झकझोर कर उसमें एक नए आलोक के स्फुरण करने की शक्ति है।

जन-जीवन से राष्ट्रीय उन्मेष की चेतना ने वस्तुचयन, वस्तुगठन के साथ ही उनकी भाषा शैली को भी प्रभावित किया था। उनके सम्मुख हिन्दी नाट्य-कला के रूप-निर्माण के साथ ही भाषा संस्कार का भी प्रश्न था। भाषा संस्कार में उनके सम्मुख मुख्यतः दो प्रश्न थे :—(१) भाषा को ऐसा रूप देना जो जन-साधारण में चेतना उद्बुद्ध करने का माध्यम बन सके, तथा (२) भाषा का एक रूप निश्चित कर उसको परिमार्जित करना। अस्तु उन्होंने सरल, मुहाविरेदार, प्रवाहशील भाषा को अपनाया और जनता में प्रचलित अन्य भाषाओं के शब्दों को भी ग्रहण किया। साथ ही उसे एक निश्चित रूप देकर यथासम्भव परिमार्जित भी किया। उनके नाटकों में अधिकांशतः हमें सरल मुहाविरेदार चलताऊ प्रवाहशील भाषा ही देखने को मिलती है, जिसमें ओज तथा प्रभावशीलता है। व्यंग उसका एक विशेष गुण है। उसी कारण उनके नाटक जन-साधारण में अपना स्थान बना सके थे।

उनके नाटकों की भाषा के हम तीन वर्ग कर सकते हैं :—(१) सरल मुहाविरेदार-भाषा, प्रवाहमय और भावपूर्ण, (२) संस्कृत गर्भित भाषा तथा (३) पात्रोनुकूल भाषा।

उन्होंने अपने नाटकों की चेतना के अनुकूल ही अपनी शैली का रूप भी स्थिर किया था और उसे वस्तु अभीष्ट तथा वस्तु-गठन की दृष्टि से ही

विविधता प्रदान की थी। उनके नाटकों में हमें निम्न शैलियों के दर्शन होते हैं:—

(१) भावपूर्ण शैली :—इस शैली का प्रयोग उन अवसरों पर हुआ है जहाँ हृदय के आवेश—दुख, शोक, क्षोभ, क्रोध, स्नेह, प्रेम आदि का प्रसंग है। 'भारत जननी', 'भारत दुर्दशा', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली' तथा नीलदेवी में विशेष रूप से इस शैली का प्रयोग हुआ है, वैसे तो प्रायः सभी नाटकों में भावपूर्ण शैली के स्थल हैं। 'चन्द्रावली' नाटिका तो सम्पूर्णतः इसी शैली में निर्मित है। (२) व्यंगात्मक शैली :—प्रायः सभी नाटकों में हमें यह शैली देखने को मिलती है। कथा प्रसंग के बीच में तो व्यंग सभी नाटकों में किसी न किसी अंश में है, पर 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अन्धेर नगरी', 'विषस्य विषमौषधम' तो समस्त रूप से व्यंगात्मक शैली में ही लिखे गए नाटक हैं। (३) सांकेतिक शैली :—उनके समस्त नाटकों में एक नई चेतना का संकेत विद्यमान है, किन्तु 'भारत जननी', एवं 'भारतदुर्दशा' का तो कथा आधार ही सांकेतिक है। अधिकांश पात्र काल्पनिक एवं अमूर्त हैं जिन्हें मूर्त आधार देकर सांकेतिक रूप तथा अन्योक्ति से भारत की तत्कालीन यथार्थ दशा का चित्रण किया गया है। जो मूर्त पात्र हैं वे भी प्रतिनिधि चरित्र हैं। उस नाटक में लेखक ने उन तमाम बातों को पात्र का रूप दिया है जो भारत की दुर्दशा का कारण रही हैं, जैसे—मदिरा, आलस्य, आदि। (४) अलंकारिक शैली:—अनेक स्थलों पर भाषा कवित्वपूर्ण हो गई है और उसमें उपमा, रूपक, अनुप्रास तथा उत्प्रेक्षा आदि का स्वाभाविक समावेश हो गया है। सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, नीलदेवी आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। (५) विश्लेषणात्मक शैली:—जहाँ गम्भीर एवं दार्शनिक विचारों की स्थापना की गई है, वहाँ इस शैली का उपयोग हुआ है, पर उसमें दुरुहता तथा शिथिलता नहीं आने पाई है। सरसता और सरलता का गुण उसमें भी है।

इस प्रकार भारतेन्दु ने नाट्य कला को वस्तुगत, प्रवृत्तिगत एवं शैलीगत एक नवीन विकास पथ पर अग्रसर कर दिया था जिसकी विशेषताएँ थीं :—

(१) नाट्य-वस्तु का यथार्थ आधार, स्वाभाविकता तथा जीवन से अधिक निकटता।

(२) अन्धविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों, राजनैतिक एवं आर्थिक शोषण एवं धार्मिक रूढ़ियों से मुक्तकामी राष्ट्रीय जागरण की चेतना प्रदान करना।

(३) अभिनेयता।

(४) नवीन नाट्यकला का रूप निखार।

(५) भाषा को एक निश्चित् रूप देना तथा भाषा की सरलता, मुहाविरेदानी, सजीवता एवं प्रभावशीलता।

उपरोक्त सारी विशेषताएँ हमें भारतेन्दु के नाटकों में दृष्टिगोचर होती हैं। उन्होंने अनुवाद के लिए भी जो नाटक चुने उनके चुनाव में भी उनकी दृष्टि वर्तमान की आवश्यकताओं पर ही रही है। उनकी नाटक रचनाएँ हैं—

मौलिक :—(१) 'विद्यासुन्दर' (१८६८); (२) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३); (३) 'प्रेमजोगिनी' (१८७५, अपूर्ण), (४) 'विषस्य विषमौषधम' (१८७५); (५) 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५); (६) 'श्रीचन्द्रावली' (१८७५); (७) 'भारत दुर्दशा' (१८७५); (८) 'भारत जननी' (१८७७); (९) 'नीलदेवी' (१८८०); (१०) 'अन्धेर नगरी' (१८८१); (११) 'सती प्रताप' (१८८४, अपूर्ण); अनुवादित :—(१२) 'रत्नावली' (१८६८, अपूर्ण); (१३) 'पाखण्ड विडम्बन' (१८७२), (१४) 'धनंजय विजय' (१८७३); (१५) 'मुद्राराक्षस' (१८७५), (१६) 'कर्पूरमंजरी' (१८७६); (१७) 'दुर्लभबन्धु' (१८८०)

---

(२)
प्रसाद

भारतेन्दु ने नाटकों में जिस राष्ट्रीय जागरण की चेतना नाट्य-कला एवं रचनातन्त्र का बीजारोपण किया था, उसमें 'प्रसाद' के समय तक आते-आते अंकुर प्रस्फुटित हो चले थे। प्रसाद के हाथों नाट्यकला का पूर्ण प्रस्फुटन एवं विकास हुआ और भारतेन्दु ने जिस हिन्दी नाट्यकला का सूत्रपात किया था उसने एक निश्चित् आधार ग्रहण किया।

भारतेन्दु कालीन राष्ट्रीय जागरण की चेतना जागरण की स्थिति से ऊपर उठकर अब परिपक्व हो चली थी। देश में राष्ट्रीय आन्दोलन की मुक्त-कामी चेतना तीव्रतर होती जा रही थी और जनता में एक विशेष सजगता आ गई थी। मजदूर किसान जैसे सामान्य पिछड़े समझे जाने वाले वर्गों में यह चेतना प्रवेश कर गई थी। राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय मुक्ति की चेतना के साथ ही साहित्य में सांस्कृतिक जागरण की चेतना बल पा रही थी। प्रसाद के समस्त नाटकों में उसी सांस्कृतिक जागरण का सन्देश व्यंजित होता है। उन्होंने भारत की स्वर्णकालीन संस्कृति के चित्र अपने नाटकों द्वारा प्रस्तुत किए हैं। हमें उनके नाटकों में तीन प्रवृत्तियों का सुसंयोग मिलता है—भार-

तीय संस्कृति, भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग तथा राष्ट्रीय चेतना। तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय उत्थान की दृष्टि से ही उन्होंने प्राचीन संस्कृति और इतिहास की ओर दृष्टि फेरी थी। उन्होंने वर्तमान समस्याओं का समाधान इतिहास में देखा था। उस समय की राष्ट्रीय जागरण की परिस्थितियों में देश की चेतना को बल प्रदान करने के लिए इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों को देखना स्वाभाविक ही है। यह प्रवृत्ति हमारे ही यहाँ नहीं वरन् विश्व के समस्त साहित्य में रही है और जिस साहित्य का इतिहास और प्राचीन संस्कृति जितनी गौरवशाली रही है, उसने उतना ही उससे युग-संकट में प्रेरणा, साहस और बल प्राप्त किया है। प्रसाद ने वर्तमान की समस्याओं को समझने उन्हें सुलझाने और उनका सामना करने योग्य साहस, मनोबल और प्रेरणा प्राप्त करने के लिए ही अतीत के गौरवशाली ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्रों की उद्भावना की है। उनके नाटक हमें वर्तमान को बदलने की प्रेरणा देते हैं उससे पलायन की नहीं। अस्तु इतिहास के प्रति उनकी दृष्टि प्रगतिशील दृष्टि है।

यद्यपि प्रसाद से पूर्व ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा चल पड़ी थी; किन्तु वास्तव में ऐतिहासिक नाटकों का आरम्भ प्रसाद से ही होता है। उन्होंने वर्तमान जीवन के प्रसंग में इतिहास की गम्भीर खोज और अध्ययन के द्वारा इतिहास से उन वीर पुरुषों के जीवन वृत्तों को मूर्तरूप प्रदान किया जो जीवन भर अपने देश के लिए जूझते रहे और जो आज भी जब हम अपनी राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष में जूझ रहे हैं हमें साहस, मनोबल और प्रेरणा प्रदान करते हैं, हमारी भावना को उदात्त बनाते हैं। इसीलिए उनके पात्र सदियों पुराने होते हुए भी सजीव प्रेरक से लगते हैं। प्रसाद ने स्वयं अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए 'विशाख' की भूमिका में लिखा है—"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंक में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराना है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।

प्रसाद के सभी नाटकों में ऐतिहासिक कथा वस्तु के बीच वर्त्तमान की समस्याओं के समाधान की सांकेतित व्यंजना अपने सजीव रूप में विद्यमान है; जैसे—'स्कन्दगुप्त' में देशभक्ति, राष्ट्रप्रेम, बौद्ध ब्राह्मण एकता के द्वारा हिन्दू मुसलिम एकता तथा 'ध्रव स्वामिनी' में नायक द्वारा दूसरे विवाह, 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में आर्य अनार्य का समझौता आदि इसके कुछ उदाहरण है। प्रायः सभी गीतों में राष्ट्रीय उत्थान, राष्ट्र प्रेम आदि की भावनाएं कूट कूट कर भरी हुई हैं—'अरुण यह मधुमय देश हमारा।'

हमारा देश भौतिक रूप से तो इस काल में पिछड़ा ही हुआ था। उसमें

पुनः प्राण प्रतिष्ठा और आत्मबल के संचार के लिए देश के गौरवशाली सांस्कृतिक चरमोत्कर्ष तथा वैभव का उद्घाटन करना नितान्त आवश्यक और प्रगतिशील कार्य था। इस कारण प्रसाद ने सजग रूप से भौतिक हीनता की भावना को दूर करने के लिए सांस्कृतिक गौरव का चित्र उपस्थित किया था। उनके नाटकों में पुनः उत्थान का ही संकेत हमें कहीं नहीं प्राप्त होते।

प्रसाद के नाटकों में डी० एल० राय की राष्ट्र-प्रेम से प्रेरित ऐतिहासिकता तथा रविन्द्र की राष्ट्र-प्रेम से सिक्त भावुकता का अपूर्व मिश्रण था।

प्रसाद की इस चेतना ने उनकी नाट्य कला तथा भाषा-शैली को विशेष रूप से प्रभावित किया था। काल क्रम के अनुसार उन्होंने निम्न नाटकों की रचना की है:—

(१) 'सज्जन' (सन् १९१०), (२) 'कल्याणी परिणय' (१९१२), (३) करुणालय (१९१२), (४) 'प्रायश्चित' (१९१३), (५) 'राज्यश्री' (१९१४), (६) 'विशाख' (१९२१), (७) 'अजात शत्रु' (१९२२), (८) 'कामना' (१९२४), (९) 'जन्मेजय का नागयज्ञ' (१९२६), (१०) 'स्कन्दगुप्त' (१९२८), (११) 'एक घूँट' (१९२९), (१२ 'चन्द्रगुप्त' (१९३१), (१३) 'ध्रुव स्वामिनी' (१९३३)

विषय-वस्तु की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों को निम्न रूप से वर्गीकृत कर सकते हैं:—

(१) पौराणिक :—सज्जन, करुणालय, और जनमेजय का नागयज्ञ (२) ऐतिहासिक—कल्याणी परिणय, प्रायश्चित, राज्यश्री, विशाख, अजात शत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त एवं ध्रुव स्वामिनी। (३) दार्शनिक—कामना और एक घूँट।

शैली की दृष्टि से निम्न भेद किए जा सकते हैं:—

(१) नाटक :—राज्यश्री, विशाख, अजात शत्रु, जन्मेजय का नाग यज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त एवं ध्रुव स्वामिनी। (२) गीति नाट्य—करुणालय। (३) एकांकी—सज्जन, कल्याणी परिणय, और प्रायश्चित। (४) प्रतीकात्मक एकांकी—कामना और एक घूँट।

नाटकों की रचना के काल-क्रम को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने अपने प्रथम पाँच नाटक सन् १९१० से १९१४ तक लिखे और फिर छः वर्ष के बाद १९२१ से १९३३ तक उनका सतत् रूप से रचना क्रम चलता है। प्रथम पांच नाटकों में उनकी कला का प्रयोगात्मक रूप है और बाद के

नाटकों में उनकी कला ने एक निश्चित रूप धारण कर लिया था। इस प्रकार उनकी नाट्य-कला में हम विकास का एक सतत् क्रम पाते हैं। इस क्रमशः विकास में सामान्यतः पाँच स्रोत थे—(१) संस्कृत नाट्य-कला (२) पाश्चात्य नाट्य कला, (३) बंगला के नाटक, (४) भारतेन्दु के तथा उस पीढ़ी के नाटककारों के नाटक, (५) पारसी कम्पनियों की नाट्य कला। प्रसाद की नाट्य कला उन सभी के प्रभावों को ग्रहण करती हुई अपने स्वतन्त्र रूप में विकसित हुई है। उनके आरम्भिक नाटकों पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। 'सज्जन' में सूत्रधार और नये आयोजन है और अन्त में मंगल-कामना है। इसमें स्वगत कथन भी हैं। 'प्रायश्चित' में केवल स्वगत कथन है और साथ ही आकाशवाणी का भी विधान है। 'कल्याणी' में संस्कृत नाट्य कला के प्रभाव ने एक नई मोड़ ली और प्रसाद ने नाटक के आरम्भ में नान्दीपाठ तथा अन्त में भरत वाक्य की योजना नवीन ढंग से करने का प्रयोग किया। प्रसंगानुकूल गीतों का भी समावेश हुआ। 'करुणालय' में गीत नाट्य की टेकनीक का प्रयोग किया और अतुकान्त छन्दों का प्रयोग किया। साथ ही कथा-वस्तु और चरित्र चित्रण पर अंग्रेज़ी नाट्य कला का प्रभाव पड़ा। रस निरूपण के स्थान पर पाश्चात्य नाट्य-कला के अनुसार उद्देश्य सिद्धि का स्थान प्रमुख हो गया और मनोभावों तथा परिस्थितियों का द्वन्द्व ही नाटक की कथा का आधार बन गया। आरम्भिक नाटकों के कथोपकथन पर पारसी कम्पनियों का प्रभाव स्पष्ट है। आरम्भिक नाटकों में पारसी कम्पनियों की तरह पद्यमय संवादों का प्रयोग हुआ है। संस्कृत तथा पाश्चात्य नाट्य-कला के स्वस्थ संयोग की विरासत उन्हें भारतेन्दु से प्राप्त हुई थी।

इस प्रकार प्रसाद की नाट्य कला इन उपरोक्त स्रोतों से प्रभाव ग्रहण करती हुई विकास क्रम के द्वितीय चरण में आकर परिपक्व हो गई थी और उसने एक निश्चित रूप धारण कर लिया था; जिसमें संस्कृत नाट्य कला तथा पाश्चात्य नाट्य कला का सुन्दर समन्वय हुआ है। उन्होंने वस्तु योजना में संस्कृत नाट्य कला के साथ साथ पाश्चात्य नाट्य-कला के तत्वों का समावेश किया। नायक तथा प्रतिनायक संस्कृत नाट्य शास्त्र की मान्यताओं के अनुकूल होते हुए भी उनमें विरोधी भावनाओं का अन्तर्द्वन्द्व तथा द्वन्द्व के द्वारा ही कथा विकास और चरित्र विकास पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों के अनुसार ही दिखाया गया है। संस्कृत में अनेक वर्जित प्रसंगों को रंगमच पर प्रस्तुत न करने का विधान है जैसे मृत्यु, हत्या आदि। किन्तु प्रसाद ने अपने नाटकों में उनका प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त प्रसाद ने नाटकों के अन्त में भी भारतीय और पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्त का अपूर्व मिश्रण किया है। उनके नाटक

प्रायः प्रसादान्त है। 'अजातशत्र' का अन्त यद्यपि बिम्बसार की मृत्यु से होता है पर उसका प्रभाव प्रसादपूर्ण होता है। यही बात सभी नाटकों में है। अन्त में यदि कोई बात दुःख पैदा करने की है तो दूसरी बात सुखोत्पादक भी है। इस प्रकार प्रसाद ने वस्तु योजना, चरित्र-चित्रण, दृश्य विधान, आदि में नाटकीय कला तत्त्वों में संस्कृत एवं पाश्चात्य नाट्य-कला का सुन्दर समन्वय कर हिन्दी नाट्य कला को नितान्त मौलिक रूप में विकसित किया है।

उनके नाटकों की भाषा नाटकों की कथा वस्तु की गम्भीरता के अनुकूल ही संस्कृत प्रधान है। उनकी भाषा में गहन विचारों के पूर्णाभिव्यक्ति की शक्ति है और वह अर्थ की समर्थ वाहन है। इनके पूर्वकालीन नाटकों में भाषा का परिमार्जन नहीं हो पाया था। द्विवेदी जी ने भाषा व्याकरण के चौखटे में कसकर उसे चौकस करना चाहा था पर प्रसाद की भाषा द्विवेदी जी के नियमों की अवहेलना करती हुई नितान्त स्वच्छन्द रूप से विकसित हुई है। यद्यपि प्रसाद की भाषा में भारतेन्दु की सी स्वच्छन्दता, सजीवता और सरल, सरस, मुहाविरेदानी नहीं है, पर उसमें विकास का गाम्भीर्य है, सौष्ठव और परिष्कार है। भारतेन्दु की भाषा में शिशु की चंचलता है तो प्रसाद की भाषा में यौवन का गाम्भीर्य, ओज, स्निग्धता तथा मसृणता। प्रसाद की भाषा भावों के अनुकूल कोमल स्निग्ध मधुर और ओजपूर्ण बनी है। संवादों की भाषा में नाटकीय तत्व अपार हैं।

प्रसाद की भाषा शैली की दुरुहता तथा नाट्य कला की अरंगमंचीयता की बात साधारणतः सभी आलोचक कहते हैं और सामान्यतः देखने पर बात सत्य भी है। पर हमें उनकी रचनाओं के अर्थ प्रसंग में अपनी स्थापना करनी होगी। उनकी भाषा-शैली नाटकों के अर्थ गाम्भीर्य को स्पष्ट करने में समर्थ, और नितान्त उपयुक्त है। भारतेन्दुकालीन राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना में जो हल्कापन था उसमें अब स्थायित्व और गम्भीरता आ गई थी। पाठक-वर्ग भी अब अधिक गम्भीर हो चला था और साहित्य में अधिक गम्भीर विषय नाटकों के कथा-आधार बनने लगे थे। प्रसाद ने विशेषरूप से अपने नाटकों की कथाएँ गम्भीर ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सन्देश की प्रसंग-भूमिका में प्रस्तुत की हैं अस्तु उनकी भाषा अरङ्गमंचीय और जन-सुलभ न होते हुए भी नाटकों के सर्वथा उपयुक्त है। उसने नाटकों में कलात्मकता का निखार किया है।

उनके नाटकों में रंगमंच की दृष्टि से अनेक दोष हैं। यह सत्य है, कि उन्होंने रंगमंच के लिए ही अपने नाटकों की रचना की है और विकसित रंगमंच पर उनका अभिनय सफलता से किया जा सकता है। उस समय उतना विकसित रंगमंच न था, इस कारण उनके नाटकों में यत्र-तत्र

रंगमंचीय दोष आ गए हैं, और यह दोष तो आज भी नाटककारों में हैं और उस समय तक रहेंगे जब तक हिन्दी रंगमंच का विकास नहीं हो जाता। निस्सन्देह यह बात कही जा सकती है कि यदि प्रसाद ने नाटक रचना के साथ रंगमंच के विकास पर भी थोड़ा ध्यान दिया होता तो रंगमंच भी विकास करता और जो यत्र-तत्र दोष उनके नाटकों में हैं वे भी न आए होते।

---

[३]
गोविन्द वल्लभ पन्त

पन्त जी का नाटक-रचना-क्रम प्रसाद के नाटक-रचना-क्रम के द्वितीय चरण 'विशाख' (१६२१) के बाद से आरम्भ होता है और तब से हिन्दी साहित्य को आपने सात सुन्दर नाटकों की देन दी है। संख्या में कम होते हुए भी कला की दृष्टि से उनका महत्व विशेष है। यद्यपि आपने कहानी आदि भी लिखी हैं, पर आप हिन्दी साहित्य में अपने इस अल्प किन्तु महत्व-पूर्ण नाट्य साहित्य से ही महत्तम कलाकार का स्थान रखते हैं। नाटक रचना में आपका विशेष बल नाट्यकला और नाटक निर्माण पर रहा है, पर यही उनकी प्रेरणा का स्रोत नहीं था। राष्ट्रीय चेतना की सतत् धारा उनके नाटकों में प्रवाहित है। उन्होंने अपने नाटकों का वस्तु चयन इतिहास, समाज और पुराण से किया है। इतिहास और पुराण से कथा वस्तु लेने में उनकी दृष्टि निश्चय ही ऐसे प्रसंगों और पात्रों की अवतारणा करने की रही है जो वर्तमान राष्ट्रीय संघर्ष में, जन-जीवन में राष्ट्रीय भावना का संचार कर उसे संघर्षशीलता प्रदान कर सके। अपने सामाजिक नाटकों की कथा तो उन्होंने सीधे-सीधे तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन से ग्रहण की है।

उनके नाटकों का रचना-क्रम इस प्रकार है :—

(१) 'कंजूस की खोपड़ी' (१६२३), (२) 'वरमाला' (१६२५), (३) 'राजमुकुट' (१६३५), (४) 'अंगूर की बेटी' (१६३७), (५) 'अन्तःपुर का छिद्र' (१६४०), (६) 'सिन्दुर बिन्दी' (१६४३), (७) 'ययाति' (१६५१)

विषय वस्तु की दृष्टि से इन नाटकों का क्रम इस प्रकार है :—

(१) ऐतिहासिक—'राजमुकुट' और 'अन्तःपुर का छिद्र'। (२) पौराणिक—'वरमाला' और 'ययाति'। (३) सामाजिक—'अंगूर की बेटी' और 'सिन्दूर बिन्दी।'

शैली की दृष्टि से इनका वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है :—

(१) नाटक—'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी', 'सिन्दूर बिन्दी, और 'ययाति'। (२) भावनाट्य—'वरमाला' और 'अन्तःपुर का छिद्र'। (३) प्रहसन—'कंजूस की खोपड़ी'।

पन्तजी के सम्मुख नाट्य-कला के चार रूप थे—(१) संस्कृत नाट्य-कला, (२) अंग्रेजी नाट्य-कला, (३) पारसी नाट्य-कला तथा (४) भारतेन्दु और प्रसाद द्वारा प्रस्तुत हिन्दी नाट्य-कला। पन्त ने इन सब नाट्य कलाओं से प्रभाव ग्रहण कर अपने ढंग से अपनी नाट्य-कला को विकसित किया है। यद्यपि उनकी नाट्य-कला में संस्कृत, पाश्चात्य और पारसी नाट्य-कला का भारतेन्दु और प्रसाद के समान ही समन्वय है पर उनकी नाट्य-कला भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्य-कला से सर्वथा भिन्न है। उसमें विकास का एक नया स्तर है। पन्त ने अपने कला समन्वय में संस्कृत नाटकों की शास्त्रीय मान्यताओं पर विशेष बल दिया है। उनके अधिकांश नाटकों का आरम्भ मंगलाचरण से होता है। 'राजमुकुट' का अन्त भरतवाक्य से होता है और स्वगत कथन भी अधिकांश नाटकों में है। पात्र योजना में भी संस्कृत नाट्यकला का ही प्रभाव विशेष है, विशेषकर ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के पात्र कुलीन एवं राजबंशीय हैं। सामाजिक नाटकों की पात्र योजना का आधार यथार्थवादी है, जो पाश्चात्य से प्रभावित है।

किन्तु प्रायः सभी नाटकों की वस्तु योजना अंग्रेजी नाट्यकला से प्रभावित है। इसकी अपेक्षा उद्देश्य प्राप्ति पर विशेष बल है। किन्तु कथा-विकास तथा पात्रों के चरित्र-विकास में द्वन्द्व का नितान्त अभाव है। कथा गति अत्यन्त ही सीधी और सरल रूप से चलती है। चरित्र-विकास भी समरूप से ही होता है और सारे पात्र एक उद्देश्य और एक लक्ष्य की प्राप्ति में सतत् प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं। अंक और दृश्य विधान पर भी अँग्रेजी प्रभाव है।

नाटकों में संगीत योजना की अधिकता पारसी रंगमंच का प्रभाव माना जा सकता है।

प्रसाद की अपेक्षा पन्त की नाट्य-कला में रंगमचीयता अधिक है। उन्होंने रंगमंच के तत्कालीन विकास को ध्यान में रखकर अपने नाटकों की रचना की थी। उनकी कला में सरलता और सहजता है, पर उनमें वह साहित्यिक और सांस्कृतिक उच्चता नहीं है जो प्रसाद के नाटकों में है।

पन्त जी ने अपने ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों की वस्तुयोजना में कल्पना का समावेश अत्यन्त स्वाभाविक और कलात्मक रूप से किया है।

समाजिक नाटकों की वस्तुयोजना तो यथार्थ आधार पर चलती है। 'अंगूर की बेटी' में मदिरा पान के बुरे परिणामों का यथार्थ चित्र है और शराब बन्दी आंदोलन की चेतना उसका निर्माणाधार है। 'सिन्दूर बिन्दी' में तत्कालीन नारी समस्या का चित्रण है और नारी जीवन में सुधार की चेतना का सन्देश दिया गया है।

उनके नाटकों में दर्शकों को कार्य व्यापार की छिप्रता और आकस्मिकता, कौतूहल और विस्मय से भर देने की अपूर्व शक्ति है। दर्शक दम साधे अगली घटना को देखने की प्रतीक्षा में बैठा रहता है और क्षण-क्षण पर उसकी जिज्ञासा तीव्रतर होती जाती है। नाटकीय घटनाओं और प्रसंगों को इस रूप में गठित करने की उनकी कला अपूर्व है। संवाद तथा दृश्य-संयोजन और दृश्य-विधान उसमें सहायक होता है। इन सब तत्त्वों का कलात्मक समन्वय उनके नाटकों में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न कर देता है जो दर्शकों के मन-प्राण को अपने से बाँध लेता है। 'वरमाला' के प्रथम अंक का दूसरा दृश्य दर्शकों को विस्मय से भर देता है। तीसरा दृश्य उसमें और भी आश्चर्य और कौतूहल उत्पन्न करता है और एक साथ दर्शकों में भय, विस्मय, आशा, निराशा और जिज्ञासा की सृष्टि करता है।

पन्तजी की नाट्यकला में 'रहस्य ग्रन्थि' का भी एक महत्त्व है। यह रहस्य ग्रन्थि वस्तु-पात्र तथा चरित्र सभी में है। कला का यह तत्त्व पन्तजी का अपना अनूठा है, जिससे दर्शकों में ही नहीं नाटक के पात्रों में भी परस्पर जिज्ञासा और कौतूहल का भाव जाग्रत रहता है। कहीं पात्र एक दूसरे को नहीं पहचानते तो दर्शक उन्हें पहचानते हैं जैसे 'वरमाला' के तीसरे अंक के तीसरे दृश्य में वैशालिनी और अवीक्षित एक दूसरे को नहीं पहचानते; और कहीं पात्र एक दूसरे को पहचानते हैं तो दर्शकों के लिए वे अपरिचित होते हैं।

संवादों में सजीवता और नाटकीयता है। उनमें कथा अभीष्ट को उद्घाटित करने, कथा को गति देने, चरित्र विकास करने आदि के नाटकीय कला-तत्त्व विद्यमान है; पर स्वगत कथन कहीं-कहीं अस्वाभाविक हो गए हैं। किन्तु पन्तजी के संवादों में मनोभावों का वैसा गहन चित्रण नहीं है, जैसा प्रसाद के संवादों में है। वे हृदय का सतह तक ही मंथन कर पाते हैं, अधिक गहराई में नहीं जा पाते।

संवादों की भाषा अत्यन्त शुद्ध, संयत, सरल प्रवाहपूर्ण है। यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों का उसमें प्रचुर प्रयोग हुआ है, पर प्रसाद की भाषा की तरह वह क्लिष्ट नहीं हो पाई है। मुहाविरों का प्रयोग

भी उन्होंने किया है। उनकी भाषा में सरल शब्दों में गम्भीर भावों को भरने की शक्ति है, जो प्रसाद में न थी। आपने संवादों में भावात्मक, वर्णनात्मक और व्यंगात्मक आदि शैलियों का प्रयोग किया है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य में आपके नाटकों का एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

(४)

लक्ष्मीनारायण मिश्र

मिश्रजी मुख्यतः समस्यामूलक नाटककार हैं। वर्तमान की समस्याओं का समाधान खोजने के लिए इतिहास के पृष्ठों की खोज करने का समय समाप्त हो रहा था। हमारी राष्ट्रीय चेतना अधिक यथार्थवादी होती जा रही थी और वर्तमान जीवन की समस्याएँ अधिक बहुमुखी और गहन होती जा रही थीं। उनके समाधान के लिए वर्तमान जीवन से ही अधिक ठोस अवतारणाओं की आवश्यकता थी। ऐतिहासिक प्रसंग अधिक से अधिक प्रेरणा देने का काम कर सकते हैं समस्या का सही सुलझाव नहीं प्रस्तुत कर सकते और न आज के समस्या-ग्रस्त मानव और उसके संघर्ष का सत्य चित्र ही उपस्थित कर सकते हैं।

हिन्दी साहित्य में मिश्रजी ने ही सर्वप्रथम राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया और वर्तमान की यथार्थता को चित्रित करने का प्रयास किया। यह प्रयास भारतेन्दु एवं भारतेन्दु कालीन नाटककारों ने भी किया था। उनके नाटक भी अधिकांशतः सामाजिक ही हैं, किन्तु उनमें और मिश्रजी के सामाजिक नाटकों में आधारभूत अन्तर है। भारतेन्दु एवं भारतेन्दु-कालीन नाटकों में सामाजिक चित्रण एक समस्या का रूप लेकर नहीं हुआ वरन् अपने प्रकृत रूप में हुआ है। उस समय तक चेतना इतनी प्रबुद्ध नहीं हो पाई थी कि सामाजिक यथार्थ में किसी समस्या की अवतारणा कर उस पर बौद्धिक मनन-चिन्तन के द्वारा एक दिशा का निर्देश किया जा सकता। मिश्रजी के नाटकों में यह विशेषता है। उनमें सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ बौद्धिक चिन्तन है।

निःसन्देह ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा सामाजिक नाटकों का निर्माण कठिन है। ऐतिहासिक नाटकों में कथा का आधार बना बनाया होता है। उसे

अधिक से अधिक कल्पना द्वारा मंडित कर वर्तमान की प्रसंग भूमिका में प्रस्तुत कर देना होता है। सामाजिक नाटक में नाटककार को वर्तमान जीवन के संघर्ष का दोहन मंथन कर एक गतिशील दिशा का निर्माण करना होता है, जिसमें अधिक सचेत चेतना की अपेक्षा है। वर्तमान का चित्रण दर्शक को अधिक प्रभावित करता है, क्योंकि उस परिस्थिति से आज वह गुजर रहा है। मिश्रजी ने अपने युग की इस आवश्यकता को समझा था और वस्तु चयन की दृष्टि से नाटकों की दिशा को आमूलरूप से एक नई मोड़ प्रदान की।

कला क्षेत्र में भी मिश्रजी ने एक नये चरण का सूत्रपात किया। इनसे पूर्व संस्कृत, अँग्रेजी तथा पारसी नाट्यकला का समन्वित रूप ही भारतेन्दु, प्रसाद और पन्त की नाट्यकला में हमें देखने को मिला। पर मिश्रजी ने नितान्त अँग्रेजी नाट्यकला को अपनी नाट्यकला का आधार बनाया। कला रूप तो अवश्य उनका पाश्चात्य रहा पर यह कहना कि उनके चिन्तन में भी पाश्चात्य का अनुकरण है, उचित नहीं है। उनके चिन्तन में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का पुट है।

उन्होंने इब्सन और बर्नार्डशॉ की टेकनीक को अपनाया है और उस टेकनीक में भारतीय प्रसंगों और चरित्रों की अवतारणा की है।

उनकी रचनाओं का क्रम इस प्रकार है :—(१) 'अशोक' (१९२७), (२) 'संन्यासी' (१९३१), (३) 'राक्षस का मन्दिर' (१९३१), (४) 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२), (५) 'राजयोग' (१९३४), (६) 'सिन्दूर की होली' (१९३४), (७) 'आधी रात' (१९३५), (८) 'गरुड़ध्वज' (१९४०), (९) 'नारद की वीणा' (१९४२), (१०) 'वत्सराज' (१९५०), (११) 'दशाश्वमेध' (१९५०), (१२) 'अशोक बन' (१९५०), एकांकी संग्रह), (१३) 'वितस्ता की लहरें' (१९५४)। इनके अतिरिक्त मिश्र जी ने इब्सन के नाटकों 'समाज के स्तम्भ' (१९०२) तथा 'गुड़ियों का घर' का अनुवाद भी किया है।

विषय की दृष्टि से उपरोक्त नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार होगा :—

(१) ऐतिहासिक—'अशोक', 'गरुड़ध्वज', 'वत्सराज', 'दशाश्वमेध' और 'वितस्ता की लहरें'। (२) सामाजिक—'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' और 'आधी रात'। (३) पौराणिक—'नारद की वीणा'।

शैली की दृष्टि से मिश्र जी ने केवल नाटकों और एकांकियों का ही सृजन किया है। आपके एकांकियों का संग्रह 'अशोक वन' नाम से प्रकाशित

है। उसमें पाँच एकांकी संग्रहीत हैं जिनमें 'अशोक वन' पौराणिक, और तीन 'कौशाम्बी', विदिशा' और 'दशाश्वमेध' ऐतिहासिक हैं और 'भविष्य का गर्व' सामाजिक है। 'कौशाम्बी' और 'दशाश्वमेध' एकांकियों का विस्तृत रूप ही वास्तव में क्रमशः 'वत्सराज' और 'दशाश्वमेध' नाटकों का मूल आधार है।

उपरोक्त समस्त नाटकों में बुद्धिवाद का विशेष आग्रह है, किन्तु वह योरुप का कोरा बुद्धिवाद नहीं है, उसमें जीवन के प्रति आस्था है किन्तु वह आस्था परिस्थितियों से समझौते का रूप धारण करके ही रह गई है। पात्र अपने जीवन में आई समस्याओं में जूझते हैं अवश्य, पर अन्त में उनसे बुद्धि के आग्रह से समझौता कर लेते हैं। परिस्थितियाँ उन पर हावी हो जाती हैं और वे परिस्थितियों के सम्मुख नत मस्तक। 'मुक्ति का रहस्य' में आशा देवी परिस्थितियों से विवश हो त्रिभुवननाथ द्वारा उपभोग की जाती है, वह उसका विरोध नहीं कर पाती। यद्यपि वह उमाशंकर से प्रेम करती है, पर परिस्थितियों से समझौता कर त्रिभुवननाथ के साथ चली जाती है। 'राजयोग' में चम्पा यद्यपि नरेन्द्र से प्रेम करती है, पर परिस्थितियों से समझौता कर अन्त में शत्रुसूदन का वरण कर लेती है। 'संन्यासी' में भी मालती समझौता परस्त नारी का ही रूप है। इसी प्रकार सारे नाटकों में परिस्थितियों से हार कर समझौते का ही चित्रण है। परिस्थितियों के सामने मानव की इस हार पर बौद्धिक आवरण डालने के लिए नाटककार ने हृदय परिवर्तन का बौद्धिक सुलझाव प्रस्तुत किया है। 'राजयोग' में नरेन्द्र चम्पा को न प्राप्त कर सकने के बाद चम्पा को समझाते हुए कहता है—'मैं........तुम्हारे रास्ते से हट जाऊँ। तुम नया उत्साह और नये जीवन-बल से जीवन आरम्भ करते। ....बस इसी क्षण—इसी क्षण तुम्हें अपना हृदय बदल देना होगा।"

मिश्रजी के नाटकों में केवल एक ही समस्या जीवन की मूल समस्या का रूप धारण करके आई है—यौन समस्या। यौन समस्या ही उन्हें जीवन का समस्त समस्याओं की मूल प्रतीत होती है। यह उन पर फ्रायड के यौनवाद का प्रभाव है। किन्तु यद्यपि समस्या के मूल में यौन समस्या को लेकर चल कर भी उन्होंने भारतीय आदर्श को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जैसे सिन्दूर की होली में कथा की केन्द्रीय समस्या यौन समस्या है पर उनके साथ जीवन की अनेक समस्याएँ भी लेखक ने ली हैं और नायिका का प्रेम एक निष्टप्रेम भारतीय आदर्श से मण्डित है। रोटी कपड़े की समस्या, देश की मुक्ति की समस्या, समाज के नये मान मूलों की स्थापना की समस्या, समाज को रूढ़ियों से मुक्त करने की समस्या आदि समस्याओं की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। इसमें सन्देह नहीं कि वे समस्या

मूलक नाटककार हैं, पर इसमें भी सन्देह नहीं कि उनकी दृष्टि व्यापक नहीं है और न उसमें जुझारु संघर्षशीलता है, जो सारे अवरोधों को मार्ग से हटाती आगे बढ़ती है, समझौता नहीं करती। इसलिये वे अपने नाटकों में युग-समस्या का समग्र चित्र नहीं उपस्थित कर पाए और न युग समस्या के प्रतिनिधि नाटककार ही बन पाए। उनके नाटक जीवन की सिर्फ एक समस्या—यौन समस्या को प्रस्तुत भर करते हैं समस्या की गहराई में बैठ कर उसका समाधान प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं होते और इसीलिये वे बौद्धिक आत्म-सन्तोष दे सके जो जीवन की यौन-गुत्थियों को नहीं सुलझाता और विकृत यौनवाद से ऊपर नहीं उठ पाता, क्योंकि पात्र विवशताजन्य समझौता करते हैं और उसके पक्ष में बौद्धिक तर्क पीछे ढूँढ़ कर आत्मसन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। 'सिन्दूर की होली' में कई समस्याएँ उपस्थित होती हैं पर नाटक का अन्त हो जाता है और समस्याएँ समस्याएँ ही बनी रह जाती हैं। यही बात अन्य नाटकों में भी हैं।

नाट्यकला की दृष्टि से मिश्र जी ने हिन्दी में नया प्रयोग प्रस्तुत किया है। आपकी नाट्य-कला एक रूप से पाश्चात्य का सफल अनुकरण है और उसने आपके हाथों हिन्दी रंगमंच की अनुकूलता में हिन्दी नाट्यकला का रूप ग्रहण कर लिया है।

आपके अधिकांश नाटकों में तीन अङ्क हैं और अङ्क ही दृश्य हैं। पर किसी-किसी नाटक में अङ्कों के बीच में अनायास दृश्य परिवर्तित हो जाता है। इससे दृश्य विधान की गड़बड़ी हो जाती है और नाटक में अरंगमंचीयता आ जाती है, जैसे—'संन्यासी' में और 'राक्षस का मन्दिर' में। 'राक्षस का मन्दिर' में दूसरा अङ्क नदी के किनारे से आरम्भ होता है, जिसमें नाव है और मल्लाह तथा अन्य पात्र हैं। एकाएक पर्दा उठता है और दृश्य परिवर्तित हो जाता है, जो रंगमंच की दृष्टि से भयङ्कर दोष है।

आधिकारिक कथा के साथ-साथ प्रासंगिक कथाओं का गुम्फन सुन्दर है। उनकी नाट्यकला में पाश्चात्य नाट्यकला के सारे तत्वों का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

आपकी भाषा बड़ी दोषपूर्ण है। उनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग, व्याकरण तथा लिंग भेद के दोष अनेक हैं, जो प्रायः सभी नाटकों में पाये जाते हैं। इसी प्रकार अंग्रेज़ी का प्रयोग भी कहीं-कहीं बड़ा ही अस्वाभाविक हो गया है। कहीं-कहीं तो दो-तीन संवाद एक साथ अंग्रेज़ी में ही चलते हैं। जैसे—'सिन्दूर की होली' में। हो सकता है यह मिश्र जी ने यथार्थता के आग्रह से ही किया हो, पर यह एक दोष ही हो गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि मिश्र जी ने नाट्यकला के विकास में विषयगत प्रवृत्तिगत, चेतनागत एवं शैलीगत एक नये विकास मोड़ की स्थापना की है जहाँ से नाट्य साहित्य एक नयी मोड़ ग्रहण करता है। आपकी नाटक-रचना का क्रम आज भी जारी है।

---

[५]
हरिकृष्ण 'प्रेमी'

रचना क्रम :—

(१) 'स्वर्ण विहान' (१९३३), (२) 'रक्षाबन्धन' (१९३४), (३) 'पाताल विजय' (१९३६), (४) 'शिवासाधना' (१९३७), (५) 'प्रतिशोध' (१९३७), (६) 'आहुति' (१९४०), (७) 'स्वप्नभंग' (१९४०), (८) 'बन्धन' (१९४१), (९) 'छाया' (१९४१), (१०) 'मित्र' (१९४१), (११) 'मन्दिर' (१९४२ एकांकी), (१२) 'विषपान' (१९४५), (१३) 'उद्धार' (१९४९), (१४) 'शपथ' (१९५१), (१५) 'बादलों के पार' (१९५२ एकांकी संग्रह), (१६) 'प्रथम जौहर' (१९५२), (१७) 'शतरंज के खिलाड़ी' (१९५२)।

विषयगत वर्गीकरण :—

(१) पौराणिक—'पाताल विजय'। (२) ऐतिहासिक—'शपथ', 'रक्षा बन्धन', 'शिवासाधना', 'प्रतिशोध', 'आहुति', 'स्वप्नभंग', 'मित्र', 'उद्धार', 'विषपान', और 'प्रथम जौहर' (३) सामाजिक—'बन्धन' और 'छाया'।

शैलीगत वर्गीकरण :—

(१) गीतिनाटिका—'स्वर्ण विहान' (२) एकांकी—'बादलों के पार' और 'मन्दिर' में संग्रहीत नाटक, (३) पूर्ण नाटक—शेष सभी।

चेतना की दृष्टि से 'प्रेमी' जी राष्ट्रीय मुक्ति की चेतना के कलाकार हैं। उनके नाटकों में गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन से लेकर हिन्दू मुसलिम एकता और पूंजीपतियों और मज़दूर-किसानों की समस्याओं तक का चित्रण हुआ है। सारे नाटक राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हैं।

'प्रेमी' जी के नाटकों के उपरोक्त विषयगत वर्गीकरण से प्रतीत होता है कि उनके अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं और इस दृष्टि से वे प्रसाद

की परम्परा के नाटककार ठहरते हैं, किन्तु प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में और 'प्रेमी' जी के ऐतिहासिक नाटकों में मौलिक अन्तर है। 'प्रेमी' जी ने जिस समय नाटक रचना आरम्भ की उस समय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, हिन्दु मुस्लिम एकता, गरीब अमीरी का संघर्ष तथा मानव समानता के प्रश्न जन-जीवन के मूल प्रश्न बन गए थे और समस्त भारत पूर्णतः राष्ट्रीय चेतना के एक सूत्र में बंध चुका था; देश स्वतन्त्रता के दो वृहद् व्यापक संघर्ष लड़ चुका था और पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा हो चुकी थी। हिन्दू-मुसलमानों की अटूट एकता तथा मज़दूर-किसानों की जागृति उनकी दशा में सुधार राष्ट्रीय आन्दोलन की धुरी बन गए थे। प्रेमी जी स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन के एक सैनिक रहे हैं। अस्तु उनके ऐतिहासिक नाटकों में वर्तमान का चित्रण प्रसाद की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। यद्यपि प्रसाद और प्रेमी जी दोनों ने ही वर्तमान की दृष्टि से अतीत को देखा, पर प्रेमी जी की दृष्टि अधिक स्पष्ट है। समय का तकाजा भी था। उनके नाटकों में ऐतिहासिक प्रसंगों के बीच वर्तमान का स्वर अधिक स्पष्ट एवं सफल है। कर्मवती के कथन में वर्तमान की देश भक्ति की मांग मुखरित हो उठी है—"जब तक हम अपने व्यक्तित्व को सुख-दुख और मानापमान को देश के मानापमान में निमग्न न कर देंगे, तब तक उसके गौरव की रक्षा असम्भव है। तब तक हम मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हो सकते।" शिवा, हुमायुँ और दारा के स्वर में भी यह यही भावना मुखरित है और अंग्रेजों से देश को आजाद करने के लिए कटिबद्ध होने की चेतना समासोक्ति के द्वारा स्पष्टतः व्यंजित होती है। दारा के कथन में व्यक्ति-समानता की चेतना स्पष्ट है—"मैं धनी-निर्धन, विद्वान-अविद्वान, छोटे-बड़े का भेद मिटाना चाहता हूँ कि एक मज़दूर के पुत्र की मृत्यु का दुख भी उतना ही अनुभव हो जितना कि वह शाहजहाँ की पत्नी की मृत्यु का करता है।" शिवाजी के संवाद में स्वाधीनता-संग्राम में जनता के व्यापक सहयोग की भावना मुखरित है—"मैं दरिद्र किसानों, अभाव ग्रस्त श्रम-जीवियों और मध्यम वर्ग के साधन-हीन व्यक्तियों को लेकर स्वाधीनता की साधना कर रहा हूँ।" हमीर के स्वर में विधवा विवाह का समर्थन है—"दुधमुँही बच्चियों का विवाह कर देना और उनके विधवा हो जाने पर उन्हें सभी सुखों से बंचित रखना—इसे तुम समाज की मर्यादा कहती हो। नहीं, कमला! यह घोर अत्याचार है। हमें समाज के पाखंडों के विरुद्ध विद्रोह करना है।" यह उक्तियाँ इतिहास की कालगत चेतना के प्रसंगानुकूल भले ही न हों पर और इनसे 'प्रेमी' जी के नाटकों की ऐतिहासिकता दोषपूर्ण हो गई हो, पर इतिहास की भूमि पर वर्तमान का चित्रण स्पष्ट हुआ है उसमें सन्देह नहीं। यह स्पष्टता प्रसाद के नाटकों में न थी। यदि 'प्रेमी' जी इन्हीं चेतनाओं को वर्तमान जीवन

के कथा सूत्र में पिरो कर नाटक का रूप देते तो निःसन्देह और अधिक सबल नाटकों की रचना हो सकी होती।

'प्रेमी' जी के नाटकों में साहित्यिकता और रंगमंच का सुन्दर संयोग हुआ है। प्रसाद में साहित्यिकता अधिक है तो रंगमंच की उपेक्षा है, पन्त जी में भी दोनों का संयोग हुआ है। मिश्र जी में साहित्यिकता का अभाव है पर प्रेमी जी में दोनों का अति अपूर्व संयोग हुआ है, जिससे उनकी नाट्य-कला में अपूर्व सौष्ठव और परिष्कार आ गया है। उनकी कला का क्रमिक विकास लक्षित होता है और उनकी कला में नाट्य-कला का भी क्रमिक विकास लक्षित होता है। उनके प्रायः समस्त नाटक संस्कृत नाट्य परम्परा से मुक्त हैं। उनमें न प्रस्तावना है, न नान्दीपाठ और न भरत वाक्य ही। उनके सभी नाटकों की वस्तु योजना पाश्चात्य नाट्य-कला के अनुसार अंक और दृश्यों में हुई है। दृश्य विधान सरल है और विधान में तथा दृश्य योजना में रंगमंच का विशेष ध्यान रखा गया है, जिससे मिश्र जी के दृश्य विधान की सी अस्वाभाविकता के दोष से वह मुक्त हैं। अंक और दृश्यों के आयोजन में घटना, कार्य और प्रभाव की एकता का सफलता से निर्वाह हुआ है। स्वगत कथन की अस्वाभाविकता से भी आपके नाटक सर्वथा मुक्त हैं। यदि कहीं स्वगतों का प्रयोग है तो अत्यन्त संक्षिप्त और उपयुक्त है, जिससे वह दोष नहीं बन पाया है। 'स्वप्नभंग' इसका अपवाद है। उसमें स्वगत दोष बन गए हैं। आपके नाटकों के अधिकांश दृश्य गीत से आरम्भ होते हैं और कथा गति में सहायक होते हैं बाधक नहीं।

'प्रेमी' जी के नाटकों की भाषा में साहित्यिक सौष्ठव है। भाषा, पात्र, वस्तु और विचारों के अनुकूल चलती है। इस दृष्टि से उसके तीन रूप देखने में आते हैं—(१) संस्कृत गर्भित, (२) संस्कृत के साथ उर्दू के शब्दों का समावेश तथा (३) साधारण बोल-चाल की भाषा। भाषा की यह विविधता पात्रों के सांस्कृतिक तथा जातीय भेद के कारण ही आई है। 'शपथ' जो प्राचीन भारतीय संस्कृति का नाटक है, की भाषा अपेक्षाकृत शुद्ध संस्कृत गर्भित हिन्दी है। मध्ययुगीन ऐतिहासिक नाटकों की भाषा में उर्दू शब्दों का मिश्रण है और सामाजिक नाटकों की भाषा सरल, जन-साधारण की भाषा है। संवादों की भाषा में नाटकीयता के साथ-साथ साहित्यक सौष्ठव भी है, और वह प्रासंगिक रस इसके अनुकूल ओजपूर्ण तथा मधुर हो जाती है। मुहाविरों का भी सुन्दर और स्वाभाविक प्रयोग उनके नाटकों में है।

(६)

उदयशंकर भट्ट

रचना क्रम :—

(१) 'विक्रमादित्य' (१६३३) (२) 'दाहर अथवा सिंध पतन' (१६३४), (३) 'अम्बा' (१६३५), (४) 'सगर-विजय' (१६३७), (५) 'मत्स्यगंधा' (१६३७), (६) 'विश्वामित्र' (१६३८), (७) 'कमला' (१६३६), (८) 'राधा' (१६४१), (६) 'अन्तहीन अन्त' (१६४२), (१०) 'अभिनव एकांकी' (१६४२), (११) 'स्त्री का हृदय' (१६४२), (१२) 'मुक्तिपथ' (१६४४), (१३) 'एकला चलो रे' (१६४८), (१४) 'समस्या का अन्त' (१६४८), (१५) 'आदिम युग' (१६४८), (१६) 'शक विजय' (१६४६), (१७) 'धूमशिखा' (१६४६), (१८) 'कालिदास' (१६५०), (१६) 'मेघदूत' (१६५०), (२०) 'विक्रमोर्वशी' (१६५०), (२१), 'अन्धकार और प्रकाश' (१६५२), (२२) 'क्रान्तिकारी' (१६५३)।

शैलीगत वर्गीकरण :—

(१) नाटकः—'विक्रमादित्य', 'दाहर', 'अम्बा', 'सगर-विजय', 'कमला', 'अन्तहीन अन्त', 'मुक्तिपथ', 'शक-विजय' और 'क्रान्तिकारी'।

(२) एकांकी संग्रह—अभिनव एकांकी, स्त्री का हृदय, आदिम युग, समस्या का अन्त, धूमशिखा, अन्धकार प्रकाश, तीन नाटक—जिनमें कुल मिलाकर लगभग तीन दर्जन नाटक संग्रहीत हैं।

(३) ध्वनि रूपक—'कालिदास', 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी'।

(४) गीति नाट्य—'मत्स्यगंधा', विश्वामित्र' और 'राधा'।

नाटकों का विषयगत वर्गीकरण—

(१) पौराणिक—'अम्बा' और 'सगर-विजय'।

(२) ऐतिहासिक—'विक्रमादित्य', 'दाहर', 'मुक्तिपथ' और 'शक-विजय।'

(३) सामाजिक—'कमला' और 'अन्तहीन अन्त'।

(४) राजनीतिक—'क्रान्तिकारी'।

एकांकियों, ध्वनिरूपकों तथा गीति नाट्यों का विषयगत वर्गीकरण—

(१) पौराणिक—'आदिम युग', 'मनु और मानव', 'मत्स्यगंधा', 'राधा', 'क्रान्तिकारी', 'विश्वामित्र', 'कालिदास', 'मेघदूत', 'विक्रमोर्वशी' और 'समस्या का अन्त'।

(२) ऐतिहासिक—'दुर्गा' और 'कुमारसम्भव'।

(३) सामाजिक—'नेता', 'उन्नीसौ पैंतीस', 'वर-निर्वाचन', 'एक ही कब्र में', 'सेठ लाभचन्द्र', 'स्त्री का हृदय', 'नकली और असली', 'दस हजार', 'बड़े आदमी की मृत्यु', 'विष की पुड़िया', 'जवानी', 'मुँशी अनोखेलाल', 'प्रथम विवाह', 'गिरती दीवारें', 'पिशाचों का नाच', 'बीमार का इलाज', 'आत्मदान', 'जीवन', 'वापसी', 'मन्दिर के द्वार पर', 'दो अतिथि', 'धूम शिखा', 'बिस्फोट', 'नया नाटक', 'नये मेहमान', 'अन्धकार और प्रकाश', 'अघटित'।

भट्टजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन के संघर्ष से अपने नाटकों का आरम्भ किया था। उन्होंने अपना सबसे पहला नाटक 'चित्तरंजनदास' सन् १९२०-२१ के असहयोग आन्दोलन के समय लिखा था और स्वयं उसमें उन्होंने अभिनय भी किया था। यद्यपि वह नाटक अब प्राप्य नहीं है, पर यह सत्य भट्टजी की प्रवृत्ति को स्पष्ट कर देता है, कि उन्होंने नाटक रचना रंगमंच और उनकी राष्ट्रीय उपादेयता दोनों ही बातों को ध्यान में रख कर आरम्भ की थी। उनके समस्त नाटकों में किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय अभ्युत्थान की चेतना परिव्याप्त है।

विषय तथा कला दोनों ही दृष्टियों से भट्ट जी प्रसाद की धारा में आते हैं। कला की दृष्टि से भट्टजी ही हिन्दी नाटककारों में प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने नाट्य-कला के विविध रूपों का सफल प्रयोग किया है। उनसे पूर्व नाट्य-कला में विकास तो हो रहा था, पर उसमें शिल्पगत विविधता नहीं आ रही थी। भट्टजी ने पूर्ण नाटकों के निर्माण के साथ ही एकांकी कला के विकास पर भी विशेष ध्यान दिया। उसमें लघु नाटकों की विविध टेकनीक के सफल प्रयोग प्रस्तुत किए और ध्वनिरूपक, भावरूपक, गीतिनाट्य आदि के अभिनव रूप प्रस्तुत किए हैं। टेकनीक की इतनी विविधता भारतेन्दु के बाद भट्टजी में ही देखने को मिलती है। इन टेकनीकों पर पाश्चात्य नाट्य-कला का प्रभाव है, पर भट्टजी ने उस प्रभाव को नितान्त स्वतन्त्र रूप में ग्रहण किया है, उनका अनुकरण नहीं किया है। अस्तु भट्टजी की प्रतिभा प्रसाद से अनुप्रीति है, पर कला के विविध रूपों के प्रस्तुत करने में उनकी प्रतिभा प्रसाद से आगे बढ़ गई है। विषय की दृष्टि से भी भट्टजी में प्रसाद की अपेक्षा अधिक व्यापकता दृष्टिगोचर होती है।

भट्टजी की नाट्य-कला का क्रमिक रूप से विकास हुआ है। उनके आरम्भिक नाटकों में अनेक शिथिलताएँ पाई जाती हैं। 'विक्रमादित्य', 'दाहर'

और 'सगर-विजय' में अनेक कला सम्बन्धी दोष हैं। ज्यों ज्यों उनकी कला विकास करती गई त्यों-त्यों उन दोषों का परिहार होता गया हैं, पश्चात्-कालीन नाटक टेकनीक के हर पहलू से चुस्त और खरे हैं। उनकी नाटक-रचना के पीछे भले ही किसी सबल प्रतिभा की प्रेरणा न हो और न जीवन दर्शन हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे नाट्यकला में विविधता तथा परिष्कार लाने वाले प्रथम कलाकार हैं, जो विना नाटकीय प्रतिभा और जीवनदर्शन के सम्भव नहीं है। उनके सारे पौराणिक नाटकों में पुराणगत कथाओं का नवीन दृष्टि से मूल्यांकन मिलता है। इतिहास की कथाओं को भी उन्होंने वर्तमान की वांछित प्रेरणा की निसर्ग पीठिका पर ही प्रस्तुत किया है और सामाजिक नाटकों में तो सीधे-सीधे सामाजिक जीवन का यथार्थ मिश्रण है, जिससे वर्तमान जीवन-संघर्ष उभरता है और चेतना की एक नई दिशा प्राप्त होती है।

भट्ट जी के नाटक दोषों से मुक्त हों ऐसी बात नहीं है। स्वगत और गीतों की भरमार कहीं-कहीं तो कथागति को मन्द करने वाली हो गई है। यह दोष प्रसाद के समान ही भट्ट जी के नाटकों में भी आ गया है। भाषा भी आवश्यकता से अधिक क्लिष्ट और कवित्वमय है, जिससे संवादों की नाटकीयता मारी जाती है।

एकांकी नाटकों की कला का आपने सर्वप्रथम सजग रूप से रूप-संवार किया और लगभग तीन दर्जन से भी अधिक एकांकी प्रस्तुत किए, जिनमें विषय-वस्तु ऐतिहासिक, पौराणिक एवं तत्कालीन क्षेत्रों से ली गई है। एकांकी कला के भी विविध कला-रूपों के आपने सफल प्रयोग प्रस्तुत किए हैं। भट्ट जी सफल नाटककार ही नहीं सफल एकांकार भी हैं। आपके सामाजिक एकांकियों में वर्ग और व्यक्ति दोनों की समस्याओं को उभारा गया है और आगे जीवन की गहराई है, जिसमें से मानव की उदात्तता और सदाशयता स्वतः प्रस्फुरित हो उठती है। आपने सुखान्त और दुखान्त दोनों ही प्रकार के एकांकियों की रचना की है। सभी एकांकियों का कथा विकास नाटकों के कथा-विकास की तरह विरोधमूलक है। उससे विचारों के द्वन्द्व से विचारों की परत पर परत दर्शकों के सम्मुख घटना एवं दृश्य-योजना द्वारा खुलती चली जाती है। इस दृष्टि से उनके नाटकों और एकांकियों की वस्तु-योजना-चातुरी प्रशंसनीय है। अन्त सदैव विचारोत्तेजक ह ा है। पात्रों में प्रतीकात्मकता एवं प्रतिनिधित्व की व्यापकता है।

भाषा आपकी विशुद्ध हिन्दी है। प्रसाद की भाषा के समान ही आपकी भाषा में भी संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है और काव्यत्व है। शब्द

चयन एवं वाक्य गठन संयत, सुष्ठ एवं गतिमय है। वर्णन के अनुकूल वह ओजपूर्ण एवं मधुर हो जाती है। भाषा में पात्रोनुकूलता नहीं है। मुसलमान पात्र भी विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं, जिसे एक दोष कहा जा सकता है। 'कमला' 'सगर-विजय' और 'क्रान्तिकारी' तथा अनेक सामाजिक एकांकियों में भाषा का सरल रूप भी प्रयुक्त हुआ है। आरम्भिक नाटकों के संवादों की भाषा में नाटकीयता का अभाव है। बाद के नाटकों में संवादों की भाषा में पर्याप्त नाटकीयता आ गई है। आपकी नाटक रचना का क्रम अब भी सतत् गति से चल रहा है।

---

(७)

रामकुमार वर्मा

वर्मा जी से पूव भी यद्यपि हिन्दी में एकांकी नाटकों की रचना हो चुकी थी, पर वर्मा जी से पूर्व रचित एकांकी साहित्य नगण्य और छुट-पुट है। उनसे एकांकी कला का समन्वित रूप सामने नहीं आता और न उन एकांकियों से हिन्दी एकांकी कला का रूप ही निखर पाया। वे एकांकी कला के आरम्भिक प्रयोग थे, जो हुए और वहीं समाप्त हो गए। यद्यपि भारतेन्दु के अनेक नाटकों में आधुनिक एकांकियों के बीज मिलते हैं, पर एकांकी का प्रथम कला रूप प्रसाद के "एक घूँट" में सामने आता है। उग्र के 'इन्द्र धनुष' और भुवनेश्वर के 'स्ट्राइक' में भी एकांकी कला का प्रयोग है। एकांकी कला की परम्परा का सम्यक रूप से सूत्रपात तब न हो पाया था।

एकांकी कला की परम्परा का सूत्रपात वर्मा जी के एकांकियों से आरम्भ होता है। वर्मा जी आमूल रूप से एकांकीकार हैं। उन्होंने पूर्ण नाटकों की रचना बिल्कुल ही नहीं की है। उनका प्रथम एकांकी है—'बादलों की मृत्यु' जो उन्होंने सन् १६३० में लिखा था।

सन् १६३० के लगभग औद्यौगिक विकास एवं पूंजीवाद के विकास से भारतीय जीवन में बहुमुखी व्यस्तता आने लगी थी जीवन बहुधन्धी हो चला था। दूसरी ओर खेले जाने योग्य छोटे नाटकों की मांग बढ़ चली थी। अस्तु हिन्दी एकांकियों के जन्म के पीछे जीवन व्यस्तता बहुधन्धी जीवन में लघु तथा अभिनेय नाटकों की मांग का आग्रह था। वर्मा जी ने अपने सारे एकांकी स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों के एमे-चोर रंगमंच पर खेले जाने के लिए ही लिखे हैं और उनमें से अधिकांश अभिनीत भी हो चुके

हैं। उपरोक्त दोनों आग्रहों के साथ जीवन की यथार्थता का भी आग्रह था, जिससे वर्मा जी ने अपने अधिकांश एकांकी सामाजिक जीवन की बहुमुखी समस्याओं को कथा-आधार बनाकर ही लिखे हैं, यद्यपि ऐतिहासिक एकांकियों को भी कम रचना उन्होंने नहीं की है। किन्तु सभी ऐतिहासिक एकांकियों की कथा वर्तमान की समस्याओं से जूझने वाले मानव को प्रेरणा-सम्बल और पथ-प्रकाश देने की निसर्ग पीठिका में ही नियोजित हुई है।

सन् १६३० से एकांकी रचना आरम्भ कर वर्मा जी सतत् रूप से एकांकियों का सृजन करते रहे हैं। आपका सबसे पहला एकांकी संग्रह 'पृथ्वी राज की आँखें' नाम से सन् १६३६ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 'रेशमी टाई' (१६४१), 'चारु मित्रा' (१६४२), 'शिवाजी' (१६४४), 'सप्तकिरण' (१६४७), 'विभूति' (१६४७), 'कौमुदी महोत्सव' (१६४८), 'रम्यरास' (१६५०), 'ऋतुराज' (१६५१), 'ध्रुवतारिका' (१६५१), 'रजतरश्मि' (१६५२) आदि एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उन तथा अन्य एकांकी संग्रहों में कुल मिला कर ५७ एकांकी संग्रहीत हैं जिनमें १८ ऐतिहासिक, १६ सामाजिक, ६ हास्यरस सम्बन्धी, ८ साहित्यिक, ४ पौराणिक, और २ राजनीतिक हैं। अभी आपका रचना क्रम चल रहा है, इसलिए आपकी कला-विकास की कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती।

आपके सभी एकांकियों में जीवन संघर्ष के बीच एक अभिनव आदर्श की स्थापना हुई है। उस आदर्श पर भारतीय संस्कार का आग्रह विशेष है। यद्यपि आपके एकांकियों का कला-कलेवर पाश्चात्य है, पर आत्मा भारतीय। पाश्चात्य कला-कलेवर में भारतीय आत्मा का साज-संवार अत्यन्त अनुपम बन पड़ा है। आपके एकांकियों में स्थापित आदर्शों में भारतीय संस्कृति के संस्कार उभरे हैं। आपके सभी पात्र शिक्षित और सुसंस्कृत वर्ग के हैं, जिनमें जीवन के महान् नैतिक आदर्श के साथ-साथ भावुकता, बौद्धिकता एवं मानवीयता का अपूर्व समन्वय है। इस समन्वय ने पात्रों को थोड़ा यथार्थ भूमि से ऊपर सा उठा दिया है। आपके कथानकों और चरित्र निर्माण में कल्पनाशील भावुकता का आवेश अधिक है, जीवन सत्य की ठोसता कम। यह काव्य क्षेत्र में आपकी रहस्यवादी प्रवृत्ति का प्रभाव है। इसीलिए एकांकियों में जिस आदर्श की स्थापना की गई है, वह कुछ दूर का सा लगता है।

आपके एकांकियों के अध्ययन से कला-विकास की क्रमिकता स्पष्ट लक्षित होती है, और ऐसा प्रतीत होता है कि आपकी कला 'ऋतुराज', 'ध्रुवतारिका' और 'रजत रश्मि' में विकास की उच्चता को पहुँच गई है। उसे हम विकास की चरमसीमा तो नहीं कहेंगे क्योंकि हिन्दी साहित्य को अभी

वर्माजी से अनेक आशाएँ हैं और उनका विकास-क्रम अभी मन्द नहीं पड़ा है, अनवरत चल रहा है, फिर भी इन एकांकियों में उनकी कला का उत्कर्ष अपूर्व हुआ है।

आपकी एकांकी-कला विशुद्ध रूप से पाश्चात्य से प्रभावित है। अनेक आलोचक आधुनिक एकांकियों को संस्कृत के रूपकों, उपरूपकों के भेदों के अन्तर्गत मानते हैं। किन्तु वस्तुतः आधुनिक एकांकियों के जन्म में आधुनिक युग की आवश्यकताओं का आग्रह है। पूर्ण नाटकों से सर्वथा प्रथक और स्वतन्त्र, आधुनिक एकांकियों की अपनी टेकनीक है, स्वतन्त्र सत्ता है और स्वतन्त्र शिल्पतन्त्र है। एकांकियों को नाटकों का लघु-रूप नहीं कहा जा सकता।

वर्मा जी मूलरूप से एकांकीकार है और उनकी कला पर पश्चिम की एकांकी कला का प्रभाव है। एकांकी कला में संकलनत्रय—काल, कार्य और स्थल की एकता का विशेष महत्व होता है। कथा में एक ही काल क्रम होता है, उसका घटना स्थान भी एक ही होता है, और कार्य में प्रासंगिक कथा का समावेश नहीं होता, वरन् एक ही कार्य व्यापार की एकता होती है। इसीलिये उसमें एक अङ्क में ही सारी कथा गठित होती है और रंग-संकेतों द्वारा आवश्यक दृश्य परिवर्तन होते हैं। बहुधा एक अङ्क और एक ही दृश्य में समूची कथा नियोजित होती है। वर्मा जी ने दोनों ही प्रकार के एकांकियों की रचना की है और बड़ी सफलता के साथ एकता के सिद्धान्त का निर्वाह किया है। अब उस संकलनत्रय के सिद्धान्त की एकांकी कला में उपादेयता भी समाप्त सी होती जा रही है और स्थान तथा काल के संकलनद्वय पर बल दिया जाने लगा है। ऐसे नाटकों में एक अङ्क और एक ही दृश्य होता है।

आपकी कथा में एक सुनिश्चित विकास क्रम होता है और कथा घटनाओं और पात्रों के घात प्रतिघात से क्रमश; विकास करती जाती है। घटनाओं का उद्घाटन बड़े ही नाटकीय ढंग से होता है। उनमें विस्मय और कौतूहल दोनों ही तत्वों का पर्याप्त मात्रा में समावेश है। चर्मोत्कर्ष पर उनके सभी एकांकियों में विशेष जोर दिया गया है। प्रत्येक एकांकी की कथा अत्यन्त ही स्वाभाविक एवं कलात्मक ढंग से चरमसीमा की ओर विकास करती है। संवाद, घटनाओं का क्रम, दृश्य विधान, रंग संकेत, पात्र योजना सभी उसकी गति में नाटकीयता उत्पन्न करते हुए कथा के चरमोत्कर्ष में सहायक होते हैं। एकांकियों में जिज्ञासा, संवादों और दृश्य विधानों का विशेष महत्व होता है। जिज्ञासा का तत्व दर्शक को नाटक के साथ बाँधने का काम करता है, संवाद उसमें गति उत्पन्न करते हैं। एकांकियों का समस्त अभीष्ट और वस्तु-विन्यास

का ढाँचा संवादों पर ही निर्मित होता है। दृश्य विधान सरल और कथा, पात्र तथा कथा अर्थ पर प्रकाश डालने वाला होना चाहिए। रंग संकेतों की भी अपना एक महत्व होता है। वर्माजी के एकांकी इन कला तत्वों पर खरे उतरते हैं और उनमें अभिनयता का तत्व सराहनीय है।

उनकी भाषा भी अभिनयता के अनुकूल है। उसमें सरलता, प्रवाह-शीलता एवं नाटकीयता है। उनकी भाषा, पात्र, कथा तथा प्रसंग के अनुकूल परिवर्तित होती है। अस्तु हम संस्कृत गर्भित, उर्दू मिश्रित और सरल बोल-चाल की हिन्दी के रूप उनके नाटकों में पाते हैं। उनकी संस्कृत गर्भित भाषा भी विशेष दुरुह नहीं हो पाई है। उनकी भाषा में सरलता और सहजता के साथ साहित्यिक सौष्ठव और परिमार्जन है, जिसमें मुहाविरों की भी प्रवाह-शीलता है।

---

(८)

सेठ गोविन्ददास

सेठजी नाटककार होने के साथ-साथ राजनीतिज्ञ भी हैं। यद्यपि हम पहले कह आये हैं कि हमारे समस्त गद्य साहित्य की चेतनात्मक भूमिका में राष्ट्रीय चेतना की प्रेरणा रही है और वही विविध रूपों में साहित्य के विविध शैली-रूपों में अभिव्यक्त होती रही है। पर सेठजी के नाटकों में उसकी अभि-व्यक्ति अपने सीधे और प्रत्यक्ष रूप में हुई है। उनके नाटकों में राष्ट्रीय-जीवन में उठने वाली विविध समस्याओं का स्वर तीव्रता से मुखरित हुआ है और वह स्वर अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है।

यद्यपि उन्होंने अपना सर्वप्रथम नाटक 'विश्वप्रेम' सन् १९१७ में लिखा था, जिस समय राष्ट्रीय आन्दोलन एक निश्चित मोड़ ले रहा था। उस नाटक में भारतीय संस्कृति के महामंत्र "वसुधैव कुटुम्बकम्" की परम्परा में 'विश्वप्रेम' की बात कही गई है। जो उस काल की राजनीतिक चेतना का स्पष्ट आभास देता है। शारदा भवन पुस्तकालय के वार्षिकोत्सव के अवसर पर उसका सफल अभिनय भी हुआ था। इस प्रथम नाटक के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन के सक्रिय जीवन में अतिव्यस्त रहने के कारण आपका दूसरा नाटक सन् १९३० से प्रकाश में आया और तब से आप अपने व्यस्त जीवन में भी अवकाश निकाल कर हिन्दी साहित्य को अपने नाटकों की देन से विभूषित करते रहे हैं। आपके अब तक लगभग २८ पूर्ण नाटक और ६

एकांकी संग्रह जिनमें कुल मिलाकर लगभग ४० एकांकियों का संग्रह है, प्रकाश में आ चुके हैं। उनका रचनाक्रम इस प्रकार है—

नाटक :—(१) 'विश्व प्रेम' (१६१७), (२) 'प्रकाश' (१६३०), (३) 'नवरस' (१६३०), (४) 'कर्त्तव्य' (पूर्वार्ध) (१६३०), (५) 'कर्त्तव्य उत्तरार्ध' (१६३०), (६) 'बड़ापापी कौन ?' (१६३१), (७) 'कुलीनता' (१६३२), (८) 'सेवापथ' (१६३२), (६) 'हर्ष' (१६३२), (१०) 'सिद्धान्त स्वातन्त्र' (१६३२), (११) 'विकास' (१६३२), (१२) 'दुख क्यों' (१६३८), (१३) 'त्याग या ग्रहण' (१६३८), (१४) 'हिंसा या अहिंसा' (१६३८), (१५) 'पतित सुमन' (१६३८), (१६) 'महत्व किसे' ? (१६३८), (१७) 'प्रेम या पाप' (१६३८), (१८) शशिगुप्त' (१६३८), (१६) 'सन्तोष कहां' (१६४१), (२०) 'सुख किसमें' (१६४१), (२१) 'दलितकुसुम' (१६४३), (२२) 'गरीबी या अमीरी' (१६४३), (२३) 'कर्ण' (१६४३), (२४) 'शेरशाह' (१६४५), (२५) 'पाकिस्तान' (१६४६), (२६) 'षटदर्शन' (१६४६), (२७) 'स्नेह या स्वर्ग' (१६४६), (२८) 'भूदान' (१६५३)।

एकांकी संग्रह :—(१) 'स्पर्धा' (१६३५), (२) 'सप्तरश्मि' (१६४०), (३) 'एकादशी' (१६४२), (४) 'पंचभूत' (१६४२), (५) 'अष्टदल' (१६४४), (६) 'चतुष्पथ' (१६४७), (७) 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती'।

विषयगत वर्गीकरण :—

(१) ऐतिहासक :—'हर्ष', 'शशिगुप्त', 'शेरशाह' और 'कुलीनता'। (२) पौराणिक—'कर्त्तव्य पूर्वार्ध', 'कर्त्तव्य उत्तरार्ध' और 'कर्ण', (३) सामाजिक :—उपरोक्त सूची में परिगणित शेष २१ नाटक सामाजिक ही है जिनमें समाजगत राष्ट्रीय, आर्थिक, नैतिक, पहलुओं और उनकी विविध-पक्षी समस्याओं को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है।

शैली की दृष्टि से भी आपने अनेक शैली-रूपों में नाटक-रचना की है, जैसे पूर्ण नाटक, एकांकी, प्रतीक नाटक ('नवरस'), नाटकीय संवाद शैली ('विकास'), एक पात्रीयभाव नाट्य ('षटदर्शन'), गीति-नाट्य ('स्नेह या स्वर्ग')।

सेठ जी का विषय-क्षेत्र-अत्यन्त व्यापक है और उन्होंने अपने ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों में भी सामाजिक समस्याओं को ही उभारा है, और व्यक्ति के जीवन की समस्याओं को सामाजिक पीठिका की विशाल

भूमि प्रदान की है। आपके पात्रों के सम्मुख एक आदर्श है जो उसके अपने जीवन का आदर्श होता है क्योंकि वह समाज का आदर्श है, समाज की नैतिकता है, और वह आदर्श निश्चित रूप से गान्धी जी से अनुप्रेरित है।

जैसी विविधता और व्यापकता सेठजी के नाटकों की विषय-वस्तु में और उसकी चेतना में है वैसे ही विविधता और व्यापकता उनकी नाटकीय कला में भी है। उन्होंने पूर्ण नाटक, एकांकी, प्रतीक नाटक, संवाद-नाटक, गीति नाट्य, भाव नाट्य आदि अनेक नाट्य रूपों का सफल प्रयोग किया है। इन विभिन्न कला रूपों में एक गहन चेतना को संजोया गया है। यह चेतना वर्तमान जीवन की निसर्ग चेतना है अतः उसमें एक प्राणवन्त सजीवता है जिसने आपकी नाटकीय कला में भी एक अपूर्व सजीवता उत्पन्न करदी है। सेठ जी ने यथासम्भव जीवन के स्वाभाविक पक्ष का चित्रण ही अपना लक्ष्य बनाया है अत: आपके नाटकों की कला में एक सहज स्वाभाविकता है जो नाटकों को अपूर्व रंगमंचीयता प्रदान कर देती है। किन्तु यह बात उनके हर नाटक के साथ सत्य नहीं है। 'शशिगुप्त' रंगमंच की दृष्टि से अत्यन्त दोष-पूर्ण नाटक है। दुरुह दृश्य योजना का दोष उनके अन्य कुछ नाटकों में भी आ गया है।

आपके नाटकों में कथा नियोजन अत्यन्त चातुरी से सम्पन्न हुआ है, जिससे कथा-अभीष्ट कथा गर्भ से पात्रों के चरित्रों एवं घटनाओं के सहज घात प्रतिघात से स्वतः उभर कर स्पष्ट हो जाता है और दर्शकों की चेतना को अवश कर अपने में बाँध लेने की शक्ति आरम्भ से अन्त तक नाटकों में विद्यमान है। बाह्य तथा आन्तरिक द्वन्द्व कुछ ऐसा अभूतपूर्व है कि वह दर्शकों की जिज्ञासा को पल पल पर तीव्र करता हुआ कथा, चरित्र तथा लक्ष्य को अन्त की ओर अत्यन्त नाटकीय ढंग से अग्रसर करता है। विचारोत्तेजक चेतना ही आपके नाटकों का केन्द्रविन्दु रहता है। उसी केन्द्र के चारों तरफ पात्रों, घटनाओं, चरित्रों का गुम्फन होता है और दृश्य नियोजन, दृश्य विधान, रंगमंच एवं रंग संकेत उसके निसर्गगत माध्यम है। नाटकीय कथा की गति-विकास के साथ-साथ विचारोत्तेजना तीव्र होती जाती है और नाटक की चरमसीमा पर जाकर वह अपनी चरमसीमा पर पहुँचकर मस्तिष्क को आन्दोलित कर उसमें अनेक नवीन भाव उर्मियाँ उत्पन्न कर देती है जो दर्शक के मानस को देर तक तरंगित कर उसके हृदय में संकल्प विकल्प की प्रेरणा उत्पन्न करने में सफल होती हैं। आपके सभी नाटक सोद्देश्य हैं। ऐतिहासिक नाटकों में भी इतिहास को नयी दृष्टि से परखने का प्रयास है।

सेठजी की वस्तु-योजना अत्यन्त सरल होती है। आपकी कला ने वस्तु-

योजना के दो नए तत्वों को जन्म दिया है—'उपक्रम' तथा 'उपसंहार'। 'उपक्रम' द्वारा विगत घटनाओं का जो रंगमंच पर नहीं घटित होतीं, परिचय दिया जाता है तथा 'उपसंहार' द्वारा परिणाम की सूचना दी जाती है। आपका दृश्य विधान प्रायः सरल होता है। कुछ नाटकों में उनका नितान्त अभाव है और अङ्कों में ही सारी कथा गठित है—जैसे 'दुख क्यों ?' 'बड़ा पापी कौन ?', 'महत्व किसे ?' आदि में। किन्तु आपके कुछ नाटकों में दृश्य-विधान सम्बन्धी दोष भी हैं। उन पर सिनेमा का प्रभाव है और उनका रंगमंच पर दिखाया जाना सम्भव नहीं है। पर यह दोष अधिक नाटकों में नहीं आ पाया है। आपने अपने नाटकों में निर्देशन संकेत भी दिये हैं, जिनमें पात्रों की वेशभूषा, मेक-अप, मुद्रा आदि से लेकर अभिनय निर्देश तथा रंगमंच तैयार करने तक का उल्लेख किया गया है, जो रंगमंच ज्ञान का परिचायक है। कार्य व्यापार की गति का निर्वाह सेठ जी अपने सभी नाटकों में समान कुशलता से नहीं कर पाए हैं। उस दृष्टि से 'कुलीनता', 'गरीबी या अमीरी' तथा 'कर्ण' उत्कृष्ट हैं। कुछ नाटकों में तो कार्य व्यापार की गतिहीनता खटकने की सीमा तक पहुँच गई है, जैसे—'महत्व किसे ?', 'दुख क्यों ?', 'बड़ा पापी कौन ?' आदि में। यह प्रश्न वाचक नाटक हमारे सामने जीवन में उठने वाले प्रश्नों को प्रस्तुत कर देते हैं। उनमें कथा सूत्र का अभाव है, इसीलिए उनमें कोई निश्चित परिणाम भी नाटककार नहीं प्रस्तुत कर पाया है। उन नाटकों से ऐसा प्रतीत होता है मानो नाटककार नाटकीय कला कलेवर में अपने विचारों को बरबस गूँथ रहा है। उनमें सजीवता का नितान्त अभाव है। इसीलिए यह नाटक कला की दृष्टि से निम्न कोटि के ही कहे जायँगे। विचारों का आधिक्य तो सेठ जी के प्रायः सभी नाटकों में है जो उनकी नाटकीय गति को मन्थर कर देता है और कला भी अपनी चरम उत्कृष्टता को नहीं प्राप्त हो पाती। किन्तु कुछ नाटकों में सेठ जी विचारों की कला रूप में संवार सफलता से कर पाए हैं और वे हर दृष्टि से सेठ जी के उत्कृष्ट नाटक हैं। सेठ जी ने नाटकीय कला में कोई मौलिक अभिवृद्धि नहीं की, वरन् अब तक की विकसित कला-रूप को ही उन्होंने अपना-आधार बनाया है।

सेठ जी ने एकांकियों की रचना में अवश्य कुछ नये प्रयोग किये हैं जैसे अंग्रेजी के 'मोनोड्रामा' के रूप में आपने 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर', 'सच्चा जीवन' आदि एकांकियों की रचना की है। संस्कृत की भाषा शैली तथा आकाश-भाषित की कला भी कुछ ऐसी ही है। इसे हम एक पात्रीय-एकांकी कह सकते हैं। आपसे पूर्व भारतेन्दु ने भी इस टेकनीक में 'विषस्य विषमौषधम्' की रचना की थी।

सेठ जी के नाटकों की भाषा पात्रों की शिक्षा, संस्कृति आदि के अनुरूप चलती है। अस्तु उसमें हमें एक साथ संस्कृत गर्भित, चलताऊ सरल हिन्दी और उर्दू तथा अन्य प्रान्तीय भाषा मिश्रित हिन्दी का रूप देखने को मिलता है। सेठ जी का रचनाक्रम अभी अपने पूर्ण वेग के साथ चल रहा है और हिन्दी नाटक साहित्य को अभी आपसे बहुत कुछ प्राप्त होने की आशा है।

---

(६)

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'अश्क' का साहित्यिक जीवन उर्दू साहित्यकार के रूप में आरम्भ हुआ था, और बाद में हिन्दी में उन्होंने अपनी रचनाएँ आरम्भ की थीं। हिन्दी में भी उन्होंने नाटक लिखना काफी बाद में आरम्भ किया है। उस समय तक उनकी कलम मंज चुकी थी। भाषा पर उनका अधिकार हो चला था और उसका जीवन अनेक अनुभवों से सम्पन्न हो चुका था। उन्होंने समाचार पत्र के एक साधारण रिपार्टर से अपना जीवन आरम्भ कर 'अध्यापक, अनुवादक, सम्पादक, वक्ता, विज्ञापन-विशेषज्ञ, वकील, रेडियो आर्टिस्ट, अभिनेता, सिनारिस्ट और प्रकाशक के रूप में जीवन के विविध क्षेत्र देखे और विविध अनुभव प्राप्त किए हैं। नाटक-रचना आरम्भ करते समय तक अश्क एक अनुभवशील मानव और परिपक्व कलाकार के रूप में विकसित हो चुके थे। इस तथ्य का प्रभाव उनके नाटकों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। अपने जीवन में उन्होंने जो सुखद और दुखद घटनाएँ देखी सुनी जिन विचित्र चरित्रों से उनका सम्पर्क हुआ उसी अनुभव की अनुभूति ने उनके नाटकों में कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त की है। उनकी रचनाएँ हैं :—

नाटक :—(१) 'जय पराजय' (१६३७), (२) 'स्वर्ग की झलक' (१६३६), (३) 'छठा बेटा' (१६४०), (४) 'कैद' (१६४५), (५) 'उड़ान' (१६४५), (६) आदिमार्ग (१६५०), (७) 'पैंतरे' (१६५२), (८) 'अलग-अलग रास्ते' (१६५३), (६) 'आदर्श और यथार्थ (१६५४) ।

एकांकी—'पापी', 'वेश्या', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'अधिकार का रक्षक', 'जोंक', 'आपस का समझौता', 'पहेली', 'विवाह के दिन', 'देवताओं की छाया में', 'खिड़की', 'सूखी डाली', 'चमत्कार', 'नया पुराना', 'बहिनें', 'मैमूना', 'चिलमनें', 'चरवाहे', 'चुम्बक', 'तौलिए', 'अंजोदीदी', 'भँवर', 'पक्का गाना',

'तूफान से पहले', 'कइसा साहब कइसी आया', 'अंधी गली के आठ एकांकी, सयाना मालिक, पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ, बतसिया, कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन, मस्के बाजों का स्वर्ग आदि।

विषय की दृष्टि से 'जयपराजय' को छोड़कर शेष सभी सामाजिक यथार्थवादी नाटक हैं।

'अश्क' ने अनेक शैलियों का प्रयोग अपने नाटकों में किया है। जिस समय उन्होंने नाटक रचना आरम्भ की थी उस समय हिन्दी कला का पर्याप्त विकास हो चुका था और हिन्दी साहित्य अनेक उत्कृष्ट नाटककारों को जन्म दे चुका था। उन सबका अनुभव 'अश्क' के सम्मुख था। इनके अतिरिक्त 'अश्क' अपने बाल्य काल से आगा हश्र, द्विजेन्द्रलाल राय, बेताब, राधेश्याम आदि के नाटकों तथा रंगमंच के सम्पर्क में आ चुके थे। इन सब के प्रभाव और प्रेरणा के अतिरिक्त इब्सन, मैतरलिंक, स्ट्रडबर्ग, चैखोव, ओ-नील, प्रीस्टले आदि विदेशी नाटककारों का भी उन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। यह विदेशी नाटककार उनके अत्यन्त प्रिय नाटककार हैं। बर्नार्डशा और गाल्सवर्दी उन्हें प्रभावित नहीं कर सके। इन सब की टेकनीक से प्रभाव ग्रहण कर 'अश्क' ने सुखान्त-दुखान्त, प्रहसन, व्यंग, स्वप्न तथा सांकेतिक शैलियों में नाटकों की रचना की है। नाटकों में सांकेतिक शैली के अभिनव प्रयोग के साथ-साथ चरित्र की समग्रता पर प्रकाश डालने वाले एक अंक के तथा एक दृश्य में ही, एक ही समय में सम्पाप्त हो जाने वाले लघु नाटकों की शैली के अभिनव और मौलिक प्रयोग किए हैं जो अत्यन्त सफल हैं। 'कैद' और 'उड़ान' उनके ऐसे ही नाटक हैं। इन दोनों नाटकों में एक और विशेषता है कि यह नाटक मानव जीवन के दो पहलुओं का चित्र उपस्थित करते हैं और मिलकर एक नाटक के दो अंकों का रूप प्रस्तुत करते हैं। 'अश्क' के नाट्य-शिल्प में एक चुस्ती और कसाव होता है और उन्होंने लघु किन्तु पूर्ण जीवन का चित्रण उपस्थित करने वाले नाटकों तथा सांकेतिक नाटकों की कला के रूप में हिन्दी नाट्य साहित्य को एक मौलिक देन दी है।

'अश्क' की नाट्य-कला पर पाश्चात्य नाटककारों का जो प्रभाव पड़ा है और जिस रूप में वे अपने नाटकों का शिल्प विन्यास करते है वह उनके निम्न कथन से स्पष्ट हो जायगा। उन्होंने 'मैं नाटक कैसे लिखता हूँ' में लिखा है—'जब भी अपने प्रिय नाटककारों को पढ़ते-पढ़ते (कई बार नये पास न होने के कारण पुराने ही पढ़ता हूँ) मुझे नाटक लिखने की प्रेरणा होती है तो उनमें कई घटनाएँ, कई पात्र और कई दृश्य आप-से-आप मेरे

आधार-भूत विचारों में से किसी एक में फिट हो जाते हैं और नाटक तैयार हो जाता है। कोई भी पात्र, चाहे वह कितना ही मनोरंजक क्यों न हो, शायद ही कभी अपने यथार्थ रूप में नाटक का अंग बनता हो। आधारभूत विचार की आवश्यकता के अनुसार उस पर रंग चढ़ जाता है!.........कई बार आधारभूत विचार कहीं से मिलता है और पात्र कहीं से और दोनों एक दूसरे में समा जाते हैं.........पात्रों और आधारभूत विचारों के अतिरिक्त कई बार भिन्न-भिन्न स्थानों पर देखे हुए दृश्यों अथवा घटनाओं का भी समावेश एक ही नाटक में हो जाता है।'

'अश्क' के प्रथम नाटक 'जय-पराजय' की कला पर प्रसाद की कला का प्रभाव स्पष्ट है। उसमें संस्कृत नाट्य परम्परा के अनुकूल तत्व-मंगलाचरण तथा कार्य की अवस्थाओं आदि का निर्वाह और पात्र योजना एवं स्वगत कथन गीत आदि विद्यमान हैं। किन्तु उसके बाद उनकी कला ने नितान्त स्वतन्त्र रूप से पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव ग्रहण कर विकास किया है।

'अश्क' की नाट्यकला तथा एकांकी कला में बहुत कुछ निकटता है विशेषतः लघु नाटकों में उनमें संकलनत्रय के सिद्धान्त का सफलता से निर्वाह हुआ है। 'अश्क' ने प्रायः अपने हर नाटक या हर एकांकी में एक पृथक शैली का प्रयोग किया है और शैलीकार के रूप में उन्होंने हिन्दी नाट्य साहित्य में अपना विशेष स्थान बना लिया है।

उनके प्रायः सभी नाटकों में कार्य-व्यापार की गति, जिज्ञासा, घटनाओं की आकस्मिकता और कौतूहल मिलता है। उनके पात्र जीवन के जाने पहँचाने से लगते हैं और हर पात्र अपना वर्ग प्रतिनिधि रूप रखता है। प्रायः सभी नाटक विशेषकर एकांकी चारित्रिक-विलक्षणताओं को उभार कर रखते हैं। 'अंजो दीदी', 'बहिनें', 'तौलिए', 'बतसिया' आदि सभी नाटकों में पात्रों की चरित्रगत विशेषताएँ कला नियोजन तथा संवादों से निखर उठती हैं। उनके नाटकों की लघुता उनकी कला की विशेषता है, पर उस लघु आकार में ही और अधिकतर एक ही अङ्क और एक साधारण दृश्य में वातावरण, चारित्रिक विशेषताओं, पात्रों की भावनाओं आदि तथा कार्य-व्यापार, जिज्ञासा, नाटकीयता आदि कला तत्वों की अपूर्व सृष्टि हो जाती है। इस चुस्ती, कसाव और गठाव के लाघव की दृष्टि से 'अश्क' की कला बेजोड़ है।

'अश्क' ने जीवन की गहन अनुभूतियों को अपने नाटकों का केन्द्र बनाया है और उन्हीं आधार-भूत-अनुभूति के चारों ओर घटनाएँ नाटकीय रूप ग्रहण करती हैं और इस चातुरी से करती हैं कि वह अभीष्ट, जिसे नाटककार

नाटकगर्भ से दर्शकों के सम्मुख उद्घाटित करना चाहता है, सांकेतिक रूप से कला-कलेवर में सजा-संवारों से अभिव्यक्त हो जाता है। उस संकेत में ही अश्क की कलात्मक उत्कृष्टता और विशेषता है। हास्य-व्यंगपूर्ण नाटकों के वे कुशल शिल्पी हैं, भारतेन्दु के बाद अश्क ने ही सुन्दर हास्य और व्यंग के नाटक लिखे हैं, तथा भारतेन्दु की परम्परा को और निखारा है। भारतेन्दु के प्रभाव अनेक रूपों में 'अश्क' पर स्पष्ट हैं। जीवन की संघर्षशील चेतना का चित्रण करने में भी अश्क सफल हैं।

हम पहले कह आए हैं कि 'अश्क' पहले उर्दू के साहित्यकार थे। अतः उनकी भाषा पर उर्दू का प्रभाव है। प्रायः सभी नाटकों की भाषा अत्यन्त सरल मुहाविरेदार है (जिसमें पञ्जाबी, हिन्दी, उर्दू सभी के मुहाविरों का प्रयोग हुआ है) और प्रभाव तथा प्रवाहशील है। संवादों की भाषा में नाटकीयता है। अश्क के सभी नाटक, अभिनेय हैं और उनमें अधिकांश का अभिनय हो चुका है। भारतेन्दु के बाद अश्क ही पहले नाटककार है जिन्होंने रंगमंच का ध्यान इतना अधिक अपने नाटकों में रखा है। अश्क ने प्रायः एकाधवार अपने नाटकों के अभिनय हो जाने पर उनमें अभिनय सम्बन्धी जो त्रुटियाँ देखीं, उनको सुधारा है। उनके नाटकों की अभिनेयता अपूर्व है।

---

(१०)

वृन्दावनलाल वर्मा

वर्मा जी हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं; किन्तु उनकी साहित्यिक प्रतिभा का प्रस्फुटन नाटककार के रूप में ही हुआ था। सन् १६०६ में उन्होंने अपनी प्रथम रचना नाटक 'सेनापति उदाल' लिखा था। उस नाटक के बाद उन्होंने लगभग ३६ वर्षों तक कोई नाटक नहीं लिखा। इन दिनों में उनकी प्रतिभा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में विकसित होती रही। उनका दूसरा नाटक 'राखी की लाज' सन् १६४३-४४ में हिन्दी जगत के सामने आया, और तब से वर्मा जी अपनी उपन्यास साधना के साथ-साथ नाट्य साधना में भी निरन्तर रूप से निरत रहे; और आपकी नाट्य-कला विकसित होती हुई प्रौढ़ता और परिष्कार प्राप्त करती गई है। इस समय तक आपने लगभग १८ नाटकों तथा एकांकियों की रचना की है, जिनका रचनाक्रम निम्न प्रकार से है :—

(१) 'सेनापति उदाल' (१६०६), (२) 'राखी की लाज़' (१६४३), (३) 'फूलों की बोली' (१६४७), (४) 'बाँस की फाँस' (११४७), (५) 'झाँसी की रानी' (१६४८), (६) 'काश्मीर का काँटा' (१६४८), (७) 'पीले हाथ' (१६४८), (८) 'लो भाई पंचो लो' (१६४८), (६) 'पायल' (१६४६), (१०) 'हंसमयूर' (१६४६), (११) 'मंगल सूत्र (१६४६), (१२) 'खिलौने की खोज' (१६५०), (१३) 'वीरबल' (१६५०), (१४) 'पूर्व की ओर' (१६५०), (१५) 'जहाँदार शाह' (१६५०), (१६) 'सगुन' (१६५०), (१७) 'कनेर' (१६५०), (१८) 'नीलकंठ' (१६५१)

विषयगत वर्गीकरण :—

(१) ऐतिहासिक :—'सेनापति उदाल', 'फूलों की बोली', 'काश्मीर का काँटा', 'झाँसी की रानी', 'हंस-मयूर', 'पूर्व की ओर', 'बीरवल', और 'जहाँदार शाह'।

(२) सामाजिक :—'राखी की लाज', 'बाँस की फाँस', 'लो भाई पंचो लो', 'मंगलसूत्र', 'खिलौने की खोज', 'सगुन', 'कनेर', 'नीलकंठ', 'टंटा गुरु', और 'शासन का डंडा'।

शैलीगत वर्गीकरण :—

'काश्मीर का काँटा', 'सगुन', 'जहांदार शाह', 'लो भाई पंचो लो', 'पीले हाथ', 'कनेर', 'टंटा गुरु', 'शासन' का डंडा', आदि एकांकी हैं और शेष सभी नाटक।

जिस समय वर्मा जी ने सतत् रूप से लिखना आरम्भ किया, उस समय तक नाट्य-कला का पर्याप्त विकास हो चुका था और उसका एक रूप निश्चित हो चुका था। अस्तु वर्मा जी ने कला के इन्हीं रूपों को अपना आधार बनाया और अपनी मौलिक प्रतिभा से उसमें और परिष्कार उत्पन्न किया। उन्होंने नाट्य-कला के कोई नवीन प्रयोग नहीं किए हैं। उनकी नाट्य-कला में पूर्व-वर्ती तथा तत्कालीन नाटककारों की कला का सुन्दर रूप समन्वित हुआ है। हम देख आए हैं कि वर्मा जी का साहित्यकार नाटकों से जन्मा, पर ऐतिहासिक उपन्यासों में उसका विकास हुआ और वर्मा जी हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं, नाटककार के रूप में नहीं। तथापि उन्होंने अनेक सुन्दर नाटकों की भी रचना की है।

आपके प्रायः सभी नाटक घटना प्रधान हैं। ऐतिहासिक नाटकों में विषय वस्तु राष्ट्रीय चेतना की वांछा की दृष्टि से ली गई है और उसमें

मुक्तिकामी संकेत व्यंजित होते हैं। वे वर्मा जी के ऐतिहासिक विशेष अध्ययन के परिणाम हैं। उनमें ऐसी घटनाओं का नियोजन हुआ है जो वर्तमान को गतिवान प्रेरणा प्रदान करते हैं। उनके सामाजिक नाटकों में भी घटना ही केन्द्र है और उसी के ऊपर कथा का विकास हुआ है और एक आदर्श की प्रतिष्ठा हुई है। सारे ही नाटकों में एक आदर्श है,·ऐसा आदर्श जो मानव को अपनी बुराइयों पर विजय प्राप्त कर उदात बनने की प्रेरणा देता है। उनमें बन्धुत्व, मेल, कर्तव्य परायणता, सामाजिक नैतिकता तथा देश प्रेम का आदर्श है।

वर्मा जी ने विशेष रूप से नाट्य-कला के उस रूप को अपनाया है, जिसमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्यकलाओं का समन्वय हुआ है। आपकी वस्तु योजना में एक सुनिश्चितता है। प्रायः सारे ही नाटकों की कथा वस्तु का कसाव अंकों और दृश्यों में हुआ है। उस कसाव में वर्मा जी ने विशेष रूप से रंगमंच की आवश्यकताओं और सीमाओं तथा अभिनय को दृष्टि में रखा है और उसके रंग-संकेत भी दिए हैं। समय का ध्यान वर्मा जी ने अपने पूर्ण नाटकों में विशेष रूप से रखा है और प्रायः सभी नाटक तीन घण्टे में समाप्त हो जाते हैं। अंक और दृश्यों की छोटाई-बड़ाई में शास्त्रीय नियम का पालन नहीं हुआ है। कोई कोई दृश्य तो बहुत ही छोटा है, जैसे—हँस मयूर के चौथे अंक के सातवें दृश्य में केवल दुंदुभी बजाने वाला ही दो वाक्य कह कर चला जाता है। 'फूलों की बोली' के अन्तिम पाँचवे दृश्य में केवल एक पात्र माधव के ही संवाद हैं और उसी से नाटक समाप्त हो जाता है। इस प्रकार कहीं छोटे के बाद बड़े दृश्यों का तो कहीं बड़ों के बाद छोटे दृश्यों का विधान है। किन्तु कथा में इससे शिथिलता नहीं आने पाई है और कार्य व्यापार की गति अपनी पूर्ण चुस्ती के साथ गतिवान रहती है। दृश्यों के विधान में वर्मा जी ने शास्त्रीय नियमों की अपेक्षा कथा के स्वाभाविक विकास तथा कथा-गति को विशेष रूप से ध्यान में रखा है। वर्मा जी के नाटकों में आधिकारिक एवं प्रासंगिक दोनों ही प्रकार की कथाओं का समन्वय हुआ है और दोनों में परस्पर गठाव अत्यन्त नाटकीय लाघव के साथ हुआ है, और आरम्भ से अन्त तक नाटकीय कथा जिज्ञासा, कौतूहल, विसमय, हर्ष-विषाद तथा रोमांच आदि का सृजन करती हुई दर्शकों को संस्कृत मनोरंजन कराती हुई तथा उनके जीवन को उन्नत मानव की प्रेरणा देती हुई, अत्यन्त नाटकीय चुस्ती से गतिशील होती है।

वर्मा जी की कथाओं तथा पात्रों में जीवन्त सजीवता है। वे हमारे जीवन के ही एक अंग हैं। उनके पात्रों में परिस्थितियों से जूझने की एक

उद्दाम शक्ति है और वे अन्त में अपना सुमार्ग बनाने में सफल हो जाते हैं। चरित्र विकास का आपका यही क्रम रहा है।

वर्तमान कालीन अनेक नाटककारों की तरह वर्मा जी पर भी सिनेमा का प्रभाव है। जिन दृश्यों के विधान पर यह प्रभाव है उनका रंगमंच पर दिखाया जाना सम्भव नहीं है, जैसे 'बीरबल' के द्वितीय अंक का तृतीय दृश्य। उस दृश्य में एक दृश्य के भीतर दूसरा दृश्य प्रस्तुत किया गया है।

नाटकों की अपेक्षा वर्मा जी की एकांकी कला शिथिल है। कुछ एकांकियों में केवल कथोपकथन ही है कथा वस्तु का अभाव है जैसे, 'कनेर', 'टंटागुरु', आदि में। वादविवाद भी अरोचक और शिथिल हैं। 'काश्मीर का काँटा' वस्तुतः एक सामयिक राजनैतिक नाटक है, जिसमें काश्मीर पर कबाइलियों के हुए आक्रमण और श्री राजेन्द्रसिंह के नेतृत्व में भारतीय सेनाओं द्वारा काश्मीर की रक्षा का वृत्तान्त विन्यसित है, पर वर्मा जी ने स्वयं उसे ऐतिहासिक नाटक माना है। महत्व की दृष्टि से वह नाटक ऐतिहासिक महत्व रखता है, इसमें सन्देह नहीं, पर नाटकीय दृष्टि से वह एकांकी भी शिथिल है, परन्तु अपेक्षाकृत सफल रचना है।

संक्षेप में वर्मा जी की नाट्य-कला में भारतीय तथा पाश्चात्य कला का समन्वय है। अङ्क, संवाद, पात्र, उद्देश्य आदि तत्वों में पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है पर भावना और आदर्श भारतीय है। अभिनय का वर्मा जी ने विशेष ध्यान रखा है और इस दृष्टि से उनके रंग संकेत सुन्दर हैं। सब मिलाकर उनके नाटक नाट्य-कला का सुन्दर रूप प्रस्तुत करते हैं।

वर्मा जी की भाषा शुद्ध संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त हिन्दी है पर यथा स्थान आवश्यकतानुसार उर्दू और फारसी के शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त चलताऊ बोल चाल के देशज शब्दों का भी प्रयोग उनकी भाषा में मिलता है। उनकी भाषा नाटकीय कथा तथा पात्रों के अनुसार परिवर्तित होती चलती है जिससे उसमें नाटकीय स्वाभाविकता का गुण विशेष है जो पात्र जिस स्तर और जिस संस्कृति का है उससे उन्होंने वैसी ही भाषा का प्रयोग करवाया है।

---

(११)

विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर हिन्दी के एक सफल एकांकीकार हैं। कलाकार के रूप में आप राष्ट्रीय आन्दोलन के एक सजग सैनिक भी रहे हैं। गांधीवादी राजनीति और जीवन दर्शन ने आपको प्रभावित किया है। आप एक ऐसे ईमानदार कलाकार हैं जो स्वस्थ दृष्टि से समाज और मानव जीवन की समस्याओं का सही सुलझाव ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। उसका सुलझाव जब गांधीवाद में नहीं मिल पाता तो अपने जीवन के अनुभवों के आधार पर वे गांधीवाद से प्रगतिवाद की ओर, आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर स्वतः ही बढ़ते जाते हैं। वे एक व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं। आपकी रचनाओं से आपके इस विकास क्रम का सहज ही पता चल जाता है। चूँकि आप स्वयं राष्ट्रीय विकास और निर्माण के एक सजग और सक्रिय सैनिक रहे हैं, इसलिये आपकी रचनाओं में जीवन संघर्ष और समस्याओं का यथार्थरूप चित्रित हुआ है।

यद्यपि आपने उपन्यास भी लिखे हैं, किन्तु हिन्दी साहित्य में आपका विशेष स्थान नाटककार ही के रूप में है। आपने अपने नाटकों में जीवन के विविध पक्षों की विविध रूपी समस्याओं का चित्रण किया है। आपने सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, पौराणिक और ऐतिहासिक एकांकी और प्रहसन लिखे हैं।

सामाजिक एकांकियों में 'बन्धन-मुक्त', अछूतोद्धार की समस्या पर; 'पाप', कुमारी युवती के सामाजिक वैषम्य के कारण अनैतिक सम्बन्धों पर 'साहस' गरीबी तथा वेश्यावृत्ति की समस्या पर; 'प्रतिशोध' हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य की समस्या पर; 'इन्सान', साम्प्रदायिक झगड़ों पर; 'देवताओं की घाटी' काश्मीर की समस्या पर; 'वीर पूजा' परित्यक्त शरणार्थी युवतियों की समस्या पर; 'चन्द्रकिरण' शरणार्थी युवतियों को समाज में अपनाये जाने के पक्ष में; 'रक्तचन्दन' काश्मीर युद्ध पर; 'मां', 'भाई', 'बटवारा' पारिवारिक समस्याओं पर तथा 'विभाजन', 'भगवान', 'विचार और कर्म' आदि अनेक एकांकी हैं। राजनैतिक एकांकियों में 'बीमार', '१९४२ की क्रान्ति पर', 'हत्या के बाद', 'पूँजीवाद के विरुद्ध', 'कांग्रेसमैन बनो', 'कांग्रेस में घुस आये अवसर वादियों पर; 'क्रान्ति' जनता की व्यापक चेतना पर सफल एकांकी हैं। 'हमारा स्वाधीनता संग्राम' अलग अलग ६ रूपकों का संग्रह है जिनमें भारत के मुक्ति-संग्राम के विभिन्न चरणों का क्रमिक चित्रण है। इनमें १८५७ के

गदर, जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड, असहयोग आन्दोलन, पूर्ण स्वातन्त्र की घोषणा, १६३० के आन्दोलन, १६४२ के संग्राम तथा १६४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति पर रूपक हैं जो एक साथ मिलकर हमारे स्वाधीनता संग्राम का एक पूरा चित्र उपस्थित करते हैं। यह रूपक रेडियो के लिये अलग-अलग लिखे गये थे।

विष्णु प्रभाकर ने कुछ मनोवैज्ञानिक एकांकियों का सृजन भी किया है, जिनमें मानव-स्वभाव और मानव-वृत्तियों का सचेत रूप से चित्रण हुआ है। इनमें उल्लेखनीय हैं—"क्या वह दोषी था ?", "उपचेतना का छल", "ममता का विष", "भावना और संस्कार", "मैं दोषी नहीं हूँ" आदि।

आपने कुछ प्रहसन भी लिखे हैं जिनमें तीखी व्यंगोक्तियाँ हैं। व्यंग सामाजिक यथार्थ के गर्भ से उभरता है। प्रहसनों में उल्लेखनीय हैं—'सरकारी नौकरी', 'पुस्तक कीट', कार्यक्रम', 'व्यंग', 'कला का मूल्य', 'दृष्टि की खोज' आदि।

विष्णु प्रभाकर ने कुछ पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी की है, किन्तु वे अपेक्षतया बहुत कम हैं। 'अशोक', 'नहुष का पतन', 'कंसमर्दन', 'जन्माष्टमी', 'शिवरात्रि' आदि उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त आपने कुछ सामयिक विषयों पर भी एकांकियों की रचना की है, जैसे 'यू० एन० ओ०', और 'यूनेस्को', 'सर्वोदय', 'सहिष्णुता', 'शिक्षा', 'नारी', 'अनुशासन', 'नया समाज' आदि।

आपकी भाषा पात्रोनुकूल है, सरल और प्रवाहशील है। संवाद छोटे, नाटकीय और सजीव हैं। दृश्य योजना सरल, स्वाभाविक और रंगमंचीय हैं। प्रायः सभी रचनाओं में अभिनेयता का तत्व है।

---

(१२)

जगदीशचन्द्र माथुर

जगदीशचन्द्र माथुर टेकनीक और रंगमंच दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी के सफल नाटककार हैं। आपका सब से पहिला नाटक 'शिवाजी' सन् ३० के लगभग लिखा गया था, तब आप चौदह वर्ष के थे। सन् १६३६ में आपका दूसरा नाटक 'मेरी बांसुरी' प्रकाशित हुआ और तब से नाटक सृजन की धारा निरन्तर रूप से चली आ रही है। आपने अनेक सामाजिक और ऐतिहासिक नाटक और एकांकी लिखे हैं। सामाजिक नाटकों और एकांकियों में आपने

प्रमुख रूप से मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग की समस्याओं, मिथ्या दिखावों, वाह्य आडम्बरों, हृदय हीनता, थोथी संस्कृति, स्वार्थपरता, अनैतिकता और झूठ फरेब का चित्रण किया है। इनमें जीवन की गहरी मार्मिकता का वर्णन है। ऐतिहासिक नाटकों और एकांकियों में आपने इतिहास के ऐसे प्रसंगों और आदर्श पात्रों पर नाटकों का सृजन किया है जिनका व्यक्तित्व इतिहास के पृष्ठों पर अपनी अमिट छाप छोड़ गया है और जो आज भी अनेक रूपों में हमारे जीवन को अनुप्रेरित करते हैं।

आपकी नाट्यकला पाश्चात्य से विशेषरूप से प्रभावित है। कथा, पात्र तथा घटनाओं के आन्तरिक वाह्य द्वन्द्वों से विकसित होती है। कथा अभीष्ट कथा के गर्भ से कथा के घात प्रतिघातों के द्वारा स्वाभाविक और स्पष्ट रूप से विकसित होती है। आपने नाटकों में तथा एकांकियों में भी गीतों, ध्वनि प्रभावों (Sound effects) तथा विस्तृत रंग संकेतों का प्रयोग किया है, जिनसे अभिनय में सौन्दर्य आ जाता है। सभी एकांकी और नाटक अभिनेय हैं।

संवाद मर्मस्पर्शी, नाटकीय क्रिया से पूर्ण (Stage action) और छोटे हैं। भाषा पात्रानुकूल है, कहीं-कहीं अँगरेज़ी का प्रयोग हुआ है।

आपकी रचनाओं का क्रम है:—'मेरी बाँसुरी' (१६३६), 'भोर का तारा' (१६३७), 'कलिंग विजय' (१६३७), 'रीढ़ की हड्डी' (१६३६), 'मकड़ी का जाला' (१६३६), 'खंडहर' (१६४३), 'खिड़की की राह' (१६४६), 'कोणार्क' (१६५१), 'खंडहर' (नाटक) अंगरेज़ी में भी रूपान्तरित हुआ है।

---

(१३)

सत्येन्द्रजी

हिन्दी के आलोचना क्षेत्र में जिस प्रकार सत्येन्द्रजी का अपना एक विशिष्ट स्थान है, उसी प्रकार नाटकों के क्षेत्र में भी उनका एक विशिष्ट स्थान है। यह विशिष्टता उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता है जो नाट्यकला के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। यह विशिष्टता है 'मानवतावाद'। मानवतावादी दृष्टि से आपकी नाट्यकला में सामञ्जस्य व नैतिकता का स्वर प्रधान हो गया है यथा भोजराज, मुक्ति के यज्ञ आदि नाटकों में।

'संदेश' के प्रति रुचि का अधिक झुकाव होने के कारण लेखक, पात्र,

परिस्थिति तथा संवादों को उसी का माध्यम बनाता है यथा 'बसन्त' में। सारे पात्र लेखक के वैयक्तिक दृष्टिकोण को उपस्थित करने के लिये मंच पर अभिनय करते दिखाये गये हैं। लेखक की इस प्रवृत्ति से जहाँ हृदय की भावनाओं में परिष्कार होता है वहाँ विचारों में उद्वेलन उत्पन्न नहीं होता जैसा कि यथार्थवादी नाटकों के पढ़ने के उपरान्त होता है परन्तु बुद्धिवाद के इस युग में जिस आस्था, विश्वास, तथा भावुकताजन्य संवेदन का परिचय सत्येन्द्र जी के नाटकों में मिलता है वह अपनी विशिष्टता की रक्षा में पूर्ण समर्थ है।

'टैकनीक' की दृष्टि से सत्येन्द्रजी के नाटक नवीन शैली पर लिखे गये हैं, उनमें प्राचीन भारतीय शैली का अप्रत्यक्ष रूप से समावेश चाहे हो पर प्रत्यक्षतः वे विकसित शैली में ही लिखे गये हैं।

इस सम्बन्ध में पहली विशेषता है वस्तु की एकता। लेखक ने अंकों की संख्या कम रख कर ऐतिहासिक या कल्पित कथाओं में वे ही स्थल चुने हैं जो मंच की दृष्टि से मार्मिक हैं। उनमें न तो वस्तुजन्य शैथिल्य है न विशृङ्खलता, अतएव वस्तुविधान की प्रौढ़ता सर्वत्र दृष्टव्य है। मुक्तियज्ञ व भोजराज दोनों में यह विशेषता मिलती है, जैसा पहले कहा कि सत्येन्द्र जी पात्रों की विशिष्टता की रक्षा नहीं कर पाये जैसा कि हम 'प्रसाद' के नाटकों में पाते हैं, उनके पात्रों में वैयक्तिकता कम है। वहाँ "व्यक्तित्व" तो है पर उसमें असाधारण वैचित्र्य का अभाव है जिसके कारण हम हिन्दी नाटकों के विभिन्न पात्रों के सम्मेलन में सत्येन्द्रजी के पात्रों को दूर से नहीं पहचान सकते। वे सामान्य मानवीय गुण-गरिमा के प्रतीक हैं, व्यक्ति-वैचित्र्य में नहीं।

नाटक की सफलता का आधार उसके संवादों की सफलता पर निर्भर होता है। सत्येन्द्रजी के संवादों में स्वाभाविकता तो है पर प्रवाह व नाटकीयता का अपेक्षाकृत अभाव है, इसका कारण है लेखक की भाषा विषयक विशिष्ट रुचि। भोजराज की भाषा कठिन है। प्रसादजी की भाषा भी कठिन है पर उसमें नाटकीय सौन्दर्य अधिक है। कवित्व के समावेश से उसमें साहित्यिक छटा सर्वत्र मिलती है। सत्येन्द्रजी के संवाद गम्भीर अतः बोझिल अधिक हैं, परन्तु गम्भीर भावनाओं के अभिनय में उनका यह दोष किसी सीमा तक क्षम्य माना जा सकता है। इसीलिये ये नाटक 'मंच' पर सदा सफल रहे हैं। सत्येन्द्र जी के प्रायः सभी नाटक मंच पर खेलने के उद्देश्य से ही लिखे गये हैं और वे सफल भी हुए हैं।

मंच का ध्यान अधिक रखने के कारण सत्येन्द्रजी के नाटकों में अस्वाभाविक दृश्यों का विधान कहीं नहीं है 'सनसनी उत्पन्न' करने का मोह भी नहीं दिखाई पड़ता। सिनेमा के लिए इन नाटकों का प्रयोग इसीलिये बहुत

आकर्षक नहीं होगा। परन्तु स्कूल-कालेजों के मंचों पर कम से कम सामग्री से ही इन नाटकों का अभिनय हो सकता है इसमें सन्देह नहीं है।

इस प्रकार सत्येन्द्रजी के नाटकों का सन्देश, टैकनीक तथा मंच की सफलता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(१४)

कंचनलता सब्बरवाल

सब्बरवाल जी ने 'आदित्य सेन', 'लक्ष्मीबाई', और 'अमियां', नाटकों की रचना की है। आपके ऐतिहासिक नाटकों में आपका इतिहास प्रेम झलकता है। आपने इतिहास से ऐसे देशभक्त पात्रों को अपने नाटकों के नायकों के लिए चुना है जो आज भी हमारे हृदय में देशभक्ति की भावना जागृत कर देशोद्धार, देशोन्नति तथा राष्ट्रीय निर्माण की चेतना जगाते हैं।

नाटकों की कला रंगमंच की दृष्टि से दोष पूर्ण है। उन पर सिनेमाई दृश्य योजना का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। आपकी दृश्य योजना को रंगमंच की सीमाओं में सीमित साधनों के द्वारा दिखाया जा सकना सम्भव नहीं।

भाषा प्रांजल, शुद्ध, तत्समप्रधान होते हुये भी नीरस और दुरुहता के दोष से मुक्त है।

---

(१५)

प्रेमनारायण टंडन

आप प्रमुख रूप से एकांकीकार हैं। आपके एकांकियों के तीन संग्रह अब तक प्रकाश में आ चुके हैं। 'प्रेरणा' (१६४५) में अंगरेजी के प्रसिद्ध लेखक जे० ऐ० फर्गूसन तथा एच० ब्रिग्रहाउस की रचनाओं का स्वतंत्र हिन्दी रूपान्तर है। इसमें पात्रों को कथा, वातावरण आदि सभी दृष्टियों से भारतीयकरण कर दिया गया है। संग्रह के प्रथम दो को छोड़ कर शेष नाटक लेखक की मौलिक रचनायें हैं। 'संकल्प' (१६४६) लेखक के ऐतिहासिक एकांकियों का संग्रह है। 'कर्मपथ' (१६५०) संग्रह में कर्मपथ एक पौराणिक गीति-नाट्य है। 'दंड' में लेखक ने ईसा सम्बन्धी कथा प्रस्तुत की है और यह मानकर चला है कि ईसा भारतीय गुरु का शिष्य था। शेष सामाजिक नाटक हैं।

कथा वस्तु में विशेष उल्लेखनीय मौलिकता नहीं मिलती। सामाजिक नाटकों में जीवन के अत्यन्त साधारण पहलुओं का चित्र प्रस्तुत किया गया है।

कला की दृष्टि से भी एकांकियों में कोई विशेषता नहीं है। कथा-गठन में शिथिलता है, संवादों में रस की कमी है और दृश्य योजनाओं में उलझन है। उनमें अभिनयोचित क्रियाशीलता की भी कमी है।

---

(१६)

डा० रांगेय राघव

डा० रांगेय राघव ने केवल दो नाटक लिखे है—'स्वर्ग भूमि के यात्री', और 'रामानुज'। पूर्ण नाटकों के अतिरिक्त आपने 'हातिम मर गया' और 'नाटक का प्रारम्भ' दो एकांकी भी लिखे हैं जो अपेक्षतया अधिक रंगमचीय और कला की दृष्टि से प्रौढ़ हैं। दोनों ही नाटक ऐतिहासिक हैं। विषय वस्तु तथा कला की दृष्टि से इन नाटकों को हम विशेष सफल नाटक नहीं कह सकते। उनकी भाषा प्रसाद की जैसी है, किन्तु रंगमंच के कुछ नये रूपों का समावेश लेखक ने नाटकों में किया है। 'स्वर्ग भूमि के यात्री' में पाँचों पांडवों की हिमालय यात्रा के वृत्तान्त का नाटकीकरण किया गया है और रामानुज में रामनुज के माध्यम से तत्कालीन समाज का चित्रण है। दोनों ही नाटकों में शेडों (छाया) की टेकनीक का समावेश है। नाटक शैली में छाया शैली का यह प्रयोग उनके नाटकों की नवीनता है, जिसका अब प्रमुख रूप से प्रचलन हो गया है। नाटकों का दृश्य विधान सरल है। रामानुज में गीतों का आधिक्य है जिससे नाटक में अरंगमंचीयता का दोष आगया है।

---

(१७)

नरेश मेहता

नरेश मेहता के एकांकियों का संग्रह 'पंथहारा' प्रकाश में आ चुका है। आपके एकांकियों में विशेष रूप से आपके संघर्षशील मानव का चित्रण है, जो परिस्थितियों से जूझता हुआ पथ में हारकर निराश नहीं हो जाता वरन् मंजिल की ओर बढ़ने में प्रगति करता जाता है।

आपकी कला बड़ी मंजी हुई है। रचना चातुरी में नरेश मेहता अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। एकांकियों की दृश्य योजगा सरल, स्वाभाविक और सुगठित है। संवाद छोटे, नाटकीय क्रियाशीलता से पूर्ण हैं। उनकी भाषा सरल और प्रवाहशील है। प्रायः सभी एकांकी अभिनेय हैं।

हिन्दी निबन्ध

भारतेन्दु-युगीन राष्ट्रीय जागरण की परिस्थितियों के बीच हिन्दी निबन्ध कला का जन्म हुआ। भारतेन्दु ने अपनी सोलह वर्ष की आयु में एक पत्र 'हरिश्चन्द्र मैगजीन, के नाम से निकालना आरम्भ किया था। उस पत्रिका में सामयिक समस्याओं पर सर्व प्रथम निबन्ध लिखे जाने आरम्भ हुये। उस समय के कलाकारों के सम्मुख चतुर्मुखी दायित्त्व था। एक ओर उन्हें साहित्य का संबर्धन करना था, तो दूसरी ओर साहित्य के प्रति सुरुचि उत्पन्न करना भी था। इसके अतिरिक्त जनता में नई भावनाओं का उन्मेष करना भी उनका दायित्व था। निबन्ध, लेखक और पाठक के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित करने का एकमात्र माध्यम होने के कारण नई चेतना के वाहन बने। राजनीति, समाज सुधार, इतिहास, अन्ध-विश्वास, सामाजिक कुरीतियों आदि को विषय बनाकर उस काल के सभी गद्य लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध लिखे। निबन्ध जन-विकास के सबल अस्त्र सिद्ध हुये। इनसे एक ओर पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार हुआ तो दूसरी ओर यह जनता को शिक्षित और जागृत करने के माध्यम बने, तो तीसरी ओर साहित्य के संबर्धन में भी इनसे सहायता प्राप्त हुई।

निबन्ध अंगरेजी शब्द 'ऐसे' (essay) का अनुवाद है। जिस रूप का आज इस शब्द से बोध होता है, उसकी परम्परा हमारे संस्कृत साहित्य या अन्य किसी प्राचीन भारतीय साहित्य में न थी। अस्तु, हिन्दी निबन्ध साहित्य अपने जन्म और शैली तथा विषय प्रतिपादन आदि के लिए संस्कृत साहित्य का ऋणी नहीं है, अपितु पाश्चात्य साहित्य तथा सामजिक परिस्थितियों की आवश्यकता का ऋणी है, उसी से प्रभावित होकर और तत्कालीन आवश्यकताओं से अनुप्राणित होकर हिन्दी में निबन्ध लेखन की परिपाटी चली।

पाश्चात्य साहित्य में फ्रांसीसी दार्शनिक मोन्टेन ने अपने विचारपूर्ण दार्शनिक लेखों के लिये सबसे पहिले 'ऐसे' (essay) का नाम दिया था। उसके अनुसार 'निबन्ध विचारों, उद्धरणों और कथाओं का मिश्रण है,' किन्तु आज निबन्धों की परिभाषा में अपार भेद आ गया है। शुक्ल जी ने निबन्ध को गम्भीर विचार-प्रकाशन का माध्यम माना है। भारतेन्दु ने उन्हें जन-जागरण के अस्त्र के रूप में ग्रहण किया था, तथा उनमें गम्भीरता-पूर्ण तीखे

व्यंगों की रचना की थी। पाश्चात्य साहित्य में भी आज निबन्ध की परिभाषा के सम्बन्ध में अनेक धारणायें हैं। बाबू गुलाब राय ने पाश्चात्य और भारतीय मतों का संग्रह कर निबन्धों की परिभाषा इस प्रकार दी हैं—'निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।' निबन्ध में लेखक विशेष की मानसिक चेतनागत भावात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। उसमें एक निजीपन होता है, जिससे लेखक सहज ही पाठक के साथ हार्दिक निकटता स्थापित कर लेता है। निबन्ध आत्मानुभूतियों का लेखक और पाठक के साथ परस्पर संचार करने का प्रयास है। निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व की छाप होती है। अपने उस व्यक्तित्व के बल के आधार पर लेखक अपने निबन्ध में अपने कथन में सबलता, सशक्त आग्रह और प्रभाव शीलता उत्पन्न कर देता है।

निबन्ध साहित्य के अन्य रूप-विधानों—कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक इत्यादि से सर्वथा भिन्न होता है। उसमें भावुकता होती है, फिर भी उसमें एक वैज्ञानिकता और तर्कयुक्तता होती है। उसमें सहजता और सरलता होती है, फिर भी विचार-गाम्भीर होता है। कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विषय को दृष्टि से सीमित होते हैं, किन्तु सभी प्रकार के विषय निबन्ध के विषय बन सकते हैं। यदि उसमें विषय की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण व्यापकता होती है तो शैली की दृष्टि से संकुचन और गठान होता है। उसकी भाषा शैली में एक अपूर्व गठाव होता है। संस्कृत का निबन्ध शब्द उस गठाव का ही द्योतक है। ऐसे निबन्धों के प्रकार और विषय-प्रतिपादन को दृष्टि में रखकर हिन्दी में अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे गये हैं जैसे उपदेशात्मक, आलोचनात्मक, भावात्मक, कल्पनापूर्ण, संस्मरणात्मक, तथ्यातथ्यनिरूपक, ऐतिहासिक, विचारात्मक, विवेचनात्मक, विचरणात्मक, वर्णनात्मक, मनोवैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक, हास्य और व्यंग-प्रधान आदि आदि। प्रायः प्रत्येक प्रतिभासम्पन्न लेखक की अपनी निजी शैली होती है। अस्तु, शैली वैशिष्ट के आधार पर किया गया निबन्धों का वर्गीकरण असीमित हो जाता है। इस सूची में अनेक नये शैलीगत भेद जोड़े जा सकते हैं। वस्तुतः निबन्धों के दो भेद करना ही अधिक उपयुक्त है—कलापूर्ण निबन्ध और विषय-प्रधान निबन्ध। शिवदानसिंह चौहान ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दी गद्य साहित्य' में निबन्धों का यही वर्गीकरण किया है। हमें भी यही वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक लगता है। कलापूर्ण निबन्धों में उन सभी निबन्धों को परिगणित कर सकते हैं, जो

पाठक के साथ सीधा आत्मिक और हार्दिक सम्बन्ध स्थापित कर पाठक के मन प्राण को स्पर्श कर विचारोद्बोधन करते हैं। ऐसे निबन्ध वर्णनात्मक, विवरणात्मक अथवा किसी भी शैली में लिखे जा सकते हैं। भारतेन्दु कालीन बालकृष्ण भट्ट के अनेक निबन्ध जैसे 'माँगबो भलो न बाप से जो विध राखे टेक', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खायें मुछन्दर' अथवा 'बातचीत', 'आँख' आदि; प्रतापनारायण मिश्र के दाँत, भौं, धोखा आदि तथा रामचन्द्र शुक्ल के 'लोभ', 'प्रीति', 'दया' आदि और हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'शिरीष के फूल', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' तथा 'अशोक के फूल' संग्रह में संग्रहीत प्रायः सभी निबन्ध इस वर्ग में परिगणित किये जा सकते हैं। शेष सभी निबन्ध अपने प्रतिपादित विषय के अनुसार राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक आदि नाम से अलग अलग वर्गीकृत किये जा सकते हैं और उन सबको मिलाकर विषयगत या तथ्यातथ्य निरूपक निबन्ध कह सकते हैं। निबन्धों की अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं जिनका यहाँ गिना सकना सम्भव नहीं। विषय की दृष्टि से प्रतिपादन शैली में अन्तर आ जाता है। विचार-प्रधान निबन्धों की शैली गम्भीर और ठोस होती है। शब्द योजना सतर्क और वैज्ञानिक होती है। भावात्मक निबन्धों की शैली सरल, निष्ठ और अलंकारपूर्ण होती है। अस्तु, (१) कलात्मक और (२) विषय-प्रधान अथवा तथ्यातथ्य निरूपक। निबन्धों के अनुरूप ही उनकी शैली का वर्गीकरण भी किया जा सकता है—(१) साहित्यिक सौन्दर्यपूर्ण अथवा ललित शैली तथा (२) तथ्यातथ्य निरूपणी शैली।

भारतेन्दु से निबन्ध रचना आरम्भ होकर सतत गति से अपनी अनेक विकास मंजिलों को पार करती हुई प्रवाहमान है। भारतेन्दु ने अपने समय की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर केवल निबन्धों के विषय पर ही ध्यान दिया था यद्यपि उन्होंने और उनके समकालीन निबन्धकारों ने अनेक शैलियों में निबन्ध रचना की, फिर भी उनमें भाषा शैली की दृष्टि से परिपक्वता और निखारन आ पाया था। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा के परिमार्जन पर सर्वप्रथम ध्यान दिया। भारतेन्दु के समकालीन निबन्धकारों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनरायण चौधरी 'प्रेमघन', ज्वालाप्रसाद, तोताराम, राधाचरण गोस्वामी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सभी के निबन्धों के विषय सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार आदि व्यापक और उदात्त मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण हैं। हास्य और व्यंग की मार्मिक उक्तियाँ भाषा का चलताऊपन और जिन्दादिली सभी निबन्धों की विशेषताएँ हैं, किन्तु इनमें कला कलेवर में उपदेश का स्वर अधिक प्रखर है और कला भले ही बहुत निखरी न हो पर उसका एक सुन्दर रूप उनमें देखने को मिलता है।

निबन्ध साहित्य के विकास का दूसरा चरण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से आरम्भ होता है। उनके काल में भी वस्तुतः हिन्दी निबन्धों का विषय तथा भाषा शैली की दृष्टि से परिमार्जन और समयक विकास हुआ। उनके सतत प्रयत्न से निबन्धों की भाषा में एकरूपता आने लगी, उसका अनघड़पन दूर होने लगा और उसका रूप बन सँवर कर निखरने लगा। इससे जहाँ एक ओर निबन्धों में गम्भीर और तात्विक विवेचन की समर्थता आई, वहाँ दूसरी ओर उसमें से जिन्दादिली, आत्मीयता और जन-मन को पकड़ने की शक्ति जाती रही। इन दोनों विशेषताओं का एक साथ विकास करना ही निबन्ध के विकास की चरमोन्नति है, जो हमें पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा कुछ हद तक बाबू गुलाबराय के निबन्धों में देखने को मिलती है। द्विवेदीकाल के प्रमुख निबन्धकार हैं—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, आचार्य शुक्ल, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गुलाबराय और सरदार पूर्णसिंह।

निबन्धों के विकास का तीसरा चरण सन् ३० के बाद माना जा सकता है, जबकि काव्य के क्षेत्र में छायावाद और रहस्यवाद का युग था। छायावादी और रहस्यवादी काव्य प्रवृत्ति ने निबन्धों की भाषाशैली को बहुत हद तक प्रभावित किया, किन्तु यह प्रभाव बहुत दिन तक न रह सका और सन् १९३६ के बाद प्रगतिवादी विचारधारा को लेकर भारतेन्दु-कालीन सामाजिक व्यापकता और जन-जागरण की सचेत चेतना से अनुप्राणित अनेक निबन्धकार क्षेत्र में आये। इस चरण के प्रमुख निबन्धकार हैं—शान्तिप्रिय द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार, बियोगीहरि, महादेवी वर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, प्रभाकर माचवे आदि।

हिन्दी निबन्धों के विकास-क्रम का जो संक्षिप्त परिचय हम ऊपर दे आये हैं उससे निबन्ध साहित्य की अविच्छिन्न धारा स्पष्ट हो जाती है। आज हमारे निबन्धकार अत्यन्त सचेत होकर निबन्ध साहित्य के विकास में दत्तचित्त हैं और निबन्ध साहित्य विकास के पथ पर आगे बढ़ रहा है।

हिन्दी आलोचना

आधुनिक हिन्दी साहित्य के समानान्तर ही राष्ट्रीय जागरण की भूमिका से प्राण-रस प्राप्त कर हिन्दी आलोचना भी अनेक मंजिलों को पार करती हुई आगे बढ़ी है। इस विकास-क्रम को हम सामान्यतः शुक्ल जी को केन्द्र मान कर तीन स्तर में बाँट सकते हैं—शुक्ल जी से पहले की आलोचना, शुक्लकालीन आलोचना और शुक्लोत्तर आलोचना।

हिन्दी आलोचना के आरम्भ से पहले देश में साहित्यालोचन की गौरव-शाली भारतीय परम्परा रही है। भरत मुनि सम्भवतः इसके प्रथम नायक थे जिन्होंने अपने प्रसिद्ध 'नाट्य शास्त्र' के द्वारा तत्कालीन साहित्य और सृजन के विविध मानों की स्थापना की। उनके बाद अनेक आचार्यों ने समय-समय पर साहित्य की परख के नए-नए मानदंडों की स्थापना कर आलोचना की परम्परा को गतिशील बनाया है। भारतीय साहित्यालोचन में रस, ध्वनि, अलंकार वक्रोक्ति, रीति आदि अनेक सिद्धान्त हैं जो समय-समय पर साहित्य-सृजन की धारा को अनुप्राणित और उसे एक सौष्ठव प्रदान करते रहे हैं।

साहित्य जन-जीवन की अभिव्यक्ति है और साहित्यालोचन उस साहित्य के जन-जीवन पर प्रभाव और उसके सौष्ठव की परख करता है। साहित्या-लोचन के द्वारा मनुष्य अपने जीवन की अभिव्यक्ति की ही आलोचना करता है और साहित्य को जीवन के विकास की अनुरूपता प्रदान करता है। आलो-चना मनुष्य के सांस्कृतिक विकास और उसकी चेतना की भी परिचायक है। वह साहित्य और कला के सुन्दर-असुन्दर, शिव-अशिव और सत्य-असत्य की परख करता है और अपनी सांस्कृतिक चेतना के अनुरूप साहित्य के मूल्यांकन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। यह सिद्धान्त मनुष्य की चेतना के साथ-साथ परिवर्तित और संशोधित होते रहते हैं।

पहले साहित्य का सृजन होता है और तब आलोचना का। किन्तु जब एक बार आलोचना का जन्म हो जाता है तो वह साहित्य निर्माण की दिशा को प्रेरणा देने का भी कार्य करने लगती है। युग द्रष्टा आलोचक प्राचीन और अर्वाचीन स्वस्थ परम्परा और चेतना के आधार पर तत्कालीन साहित्य की वस्तु और कला का मूल्यांकन करता है और समय की आवश्यकता के अनुरूप नए मानदण्डों की भी स्थापना करता है। इस प्रकार यदि आलोचक कृति को पाठक के लिए बोधगम्य और स्पष्ट बनाता है तो पाठक को अपने तत्कालीन

जीवन को समझने और स्वस्थ-अस्वस्थ का विलगाव का जीवन के विकासगामी मार्ग पर अग्रसर होने की चेतना भी देता है; तो वह रचनाकार को भी रचना के नए-नए विषय, नए-नए भाव, नए-नए रूपविधान आदि की चेतना प्रदान करता है। इस प्रकार आलोचना एक ऐसी सक्रिय शक्ति है जो एक ओर साहित्य और कला के सृजन की गतिविधि पर नियन्त्रण करती है तो दूसरी ओर साहित्य और कला के नई-नई प्रवृत्तियों, रूप-विधानों, नई चेतना की उद्भावना भी करती है। समालोचना का मूल्य रचनात्मक साहित्य का मूल्य है।

यदि आलोचना साहित्य के विकास के नए द्वार खोलती हैं, तो उन्हें बन्द भी करती है। संकीर्णतावादी कटुतापूर्ण आलोचना का यही काम है। निर्माणात्मक आलोचना साहित्य और कला का नया निर्माण करती है।

हिन्दी में आलोचना का सूत्रपात्र सभी साहित्यांगों की भांति भारतेन्दु काल में ही हो गया था यद्यपि उसका अपना स्वतंत्र ~~रूप~~ सम्यक रूप से विकसित नहीं हुआ था। हिन्दी आलोचना के पृष्ठ पर रीतिकालीन साहित्य को बाह्य रूप से परखने की पद्धति—वक्रोक्ति, अलंकार उक्तिवैचित्र्य, रीति आदि की पद्धति—थी। आधुनिक युग के आरंभ होते ही साहित्य-सृजन के दृष्टिकोण में सामाजिकता का प्रवेश हुआ और उसके समानान्तर ही आलोचना में भी इस दृष्टि का समावेश हुआ। निश्चय ही इसको तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण की परिस्थितियों और पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्तों से संस्कार प्राप्त हुए किन्तु राष्ट्रीय जागरण से अन्तःप्रेरित होने के कारण विद्वानों का प्रयास उसे यथासम्भव भारतीय आत्मा के अनुरूप ही विकसित करने का रहा। भारतेन्तु काल में आलोचना का विकास विशेष न हो पाया यद्यपि बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन' आदि की रचनाओं में इसके बीज मिल जाते हैं।

आलोचना की अविछिन्न परम्परा का सूत्रपात द्विवेदी जी के समय से आरम्भ होता है। द्विवेदी जी के समय तक आधुनिक साहित्य का पर्याप्त मात्रा में सृजन हो चुका था जिसकी आलोचना का क्षेत्र उन्हें खुला हुआ मिला। वे शिक्षक, संशोधक और सुधारक थे। उन्होंने साहित्य के रूप-विधानों, उनकी भाषा आदि में सुधार और संशोधन कर उन्हें एक स्थिर रूप देने का प्रयास किया। साथ ही राष्ट्रीय जागरण के प्रसंग में साहित्य को सामाजिक उत्थान और देश-प्रेम की व्यापक चेतना की अनुरूपता में विकसित होने की सजग दृष्टि और प्रेरणा भी दी। साहित्य के नये समाज-परक और देश-परक आदर्शों की स्थापना की। उन्होंने प्राचीन हिन्दी साहित्य को भी इसी दृष्टि

से मूल्यांकन किया है। उनकी आलोचना शैली गुण-दोष विवेचन वाली शैली थी यद्यपि उसमें बीच बीच में नए आदर्शों की प्रतिष्ठा भी उन्होंने की।

द्विवेदीकालीन समर्थ आलोचकों में मिश्र-बन्धुओं, पद्मसिंह शर्मा, सरदार पूर्णसिंह को परिगणित किया जा सकता है।

शुक्ल जी ने वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात्र किया। प्राचीन भारतीय आलोचना सिद्धान्तों को तत्कालीन वांछाओं पर कसकर उन्होंने आलोचना के नए मान-दंडों की स्थापना की जिसकी आधारभूमि है 'लोक-मंगल'। वह एक आदर्शवादी आलोचक हैं। भारतीय रस-सिद्धान्त की परख उन्होंने नई दृष्टि से की है। रचना और रचनाकार की सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर रचना के सौष्ठव और वस्तु का मूल्यांकन किया है। तर्क-सम्मत तथ्यातथ्य निरूपण उनकी आलोचना की दूसरी विशेषता है। शुक्ल जी का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण था। उससे तटस्थ रहकर वह आलोचना नहीं कर सके। उनकी आलोचनाओं में पूर्वाग्रहों का स्वर प्रबल है। फिर भी शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना को जो देन दी उसका अपना विशिष्ट स्थान है। सूर, तुलसी, जायसी आदि प्राचीन कवियों की उन्होंने नई दृष्टि से आलोचना की और उसमें विकास के सामाजिक तत्वों को खोजा। आपने व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ की।

शुल्कोत्तर आलोचना अनेक रूपों में और अनेक प्रवृत्तियों में विकसित हुई। आलोचकों का एक वर्ग शुल्क जी की परम्परा में चलता हुआ नए, अछूते साहित्यांगों की आलोचना करता हुआ तथा पाश्चात्य प्रभावों को भी ग्रहण कर आगे आया। यों तो प्रायः सभी आलोचकों पर विचार या शैली की दृष्टि से किसी न किसी रूप में शुक्ल जी का प्रभाव पड़ा है किन्तु विशेषकर शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित अंगों तथा विषयों पर शुक्ल जी की परम्परा में ही आलोचना का विकास करने वाले आलोचकों में पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, और लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त आलोचकों का एक वर्ग वह भी है जो स्पष्टतः शुक्लवादी आलोचना का पक्षपाती है। इस प्रवृत्ति के प्रमुख आलोचकों में पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पंडित जगन्नाथप्रसाद शर्मा, कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल, 'शिलीमुख' चन्द्रबली पाण्डेय, रमाशंकर शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित छायावाद के प्रभाव को ग्रहण कर आलोचना के क्षेत्र में शांतिप्रिय द्विवेदी, डाक्टर रामकुमार वर्मा, डा० नगेन्द्र, आदि का आगमन हुआ।

इन सबके अतिरिक्त आलोचकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो पाश्चात्य

प्रभावों को लेकर चलता है। डाक्टर नगेन्द्र, डाक्टर देवराज तथा प्रगतिवादी समीक्षक ऐसे ही आलोचक हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने अपने आलोचना सिद्धान्तों को भारतीयता से अनुप्राणित नहीं किया। साहित्य में प्रगतिवाद के उदय के साथ प्रगतिवादी आलोचकों का भी एक वर्ग सामने आया जिसमें शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डाक्टर रामविलास शर्मा, नरेन्द्र शर्मा, नेमीचन्द जैन, अमृतराय, डाक्टर रांगेय-राघव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

फ्रायडवादी मनोविश्लेषण का प्रभाव जिस रूप में हमारे साहित्य पर पड़ा उसके समानान्तर ही आलोचना में भी उसके प्रभाव को ग्रहण करके आलोचकों का एक दल उठ खड़ा हुआ जिसमें अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी प्रमुख हैं। डाक्टर नगेन्द्र की आलोचना पर भी इसका प्रभाव है।

इस प्रकार आज आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं। प्रगतिवादी आलोचक सामाजिक, राजनीतिक जीवन की पृष्ठभूमि में साहित्य को रखकर उसकी परख करते हैं और साहित्य में प्रयोजनीयता पर विशेष बल देते हैं। मनोविश्लेषक आलोचक, रचनाकार तथा उसके विचारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए रचना की आलोचना करते हैं और साहित्य मनुष्य की कुंठाओं—दबी हुई वासनाओं की अभिव्यक्ति मानते हैं। प्रभाववादी आलोचक अपने पर पड़े साहित्य के प्रभाव को लेकर चलते हैं। तुलनात्मक आलोचना के तत्व प्रायः सभी की आलोचनाओं में पाए जाते हैं। व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक रचना की व्याख्या कर, पाठकों के समक्ष उसे स्पष्ट रूप में रखने का प्रयत्न करता है। सैद्धान्तिक आलोचना में आलोचक विविध आलोचना-सिद्धान्तों की विवेचना कर साहित्य के लिए सिद्धान्तों की स्थापना करता है। प्रयोगवादी आलोचक स्थापित मान-मूल्यों को रचना की आलोचना में व्यावहारिक रूप देता है। मानवतावादी आलोचक साहित्य में लोकमंगल की उदात्त भावनाओं की प्रेरणा देते हैं। इन सब में आज प्रगतिवादी आलोचना का व्यापक रूप से प्रभाव बढ़ रहा है। कोई अपने मानववादी दृष्टिकोण (हजारीप्रसाद द्विवेदी) के कारण, तो कोई अपने उदार सामाजिक दृष्टिकोण के कारण (डाक्टर सत्येन्द्र), तो कोई अपनी व्यापक सामाजिक दृष्टि के कारण (नन्ददुलारे वाजपेयी), प्रगतिवाद के निकट आते जा रहे हैं। प्रगतिवादी आलोचनाओं में भी उसके मान-मूल्यों का स्थिरीकरण नहीं हो पाया है। शिवदानसिंह चौहान ने अपने निजी दृष्टिकोण से भारतीय परम्परा के स्वस्थ संस्कारों से संस्कारित जिन मान-मूल्यों की स्थापना की है वे भी अभी

प्रगतिवादी क्षेत्र में अपना सर्वसम्मत रूप स्थिर नहीं कर पाए हैं और उनका विरोध प्रगतिवादी खेमे में ही हो रहा है। डाक्टर रामविलास ने आलोचना में संकीर्ण मान्यताओं को प्रश्रय देकर उसे एक संकुचित और सीमित क्षेत्र की वस्तु बना दिया है। पिछले दिनों यद्यपि प्रगतिवादी खेमे में उनके सिद्धान्तों की मान्यता स्थापित हो चली थी किन्तु वह क्षणिक रही और अब उनका भी प्रगतिवादी खेमे में ही जबर्दस्त विरोध हो रहा है। प्रगतिवादी आलोचना के मानमूल्यों का अभी कोई मान्य स्थिरीकरण नहीं हो पाया है। यद्यपि अब फिर उसमें एक व्यापकता और उदारता आ चली है और पुनः हजारीप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर सत्येन्द्र, डा० देवराज, नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे समर्थ आलोचक उसके समीप आते जा रहे हैं।

व्यापक दृष्टि से हम हिन्दी के आलोचकों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं—आलोचक और साहित्य के इतिहासकार। आलोचक तो वे जो अपने स्वतन्त्र चिन्तन से साहित्य निर्माण के मौलिक मानदण्डों की स्थापना करते हैं। साहित्य के इतिहासकार वे जो साहित्य की विभिन्न धाराओं का लेखा-जोखा तैयार कर साहित्य के किसी एक पक्ष, एक प्रवृत्ति, एक लेखक, एक रचना, एक धारा या एक विचार के लेकर विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार की आलोचनाओं में विचार और सामीप्य संग्रह ही विशेष रूप से होता है। साहित्य की समग्रता से उनका सम्बन्ध नहीं होता। साहित्य क्या है, जीवन में उसका क्या प्रयोजन है, जो रचनाएँ प्राचीन काल में हुईं उनका आज क्या मूल्य है और जो आज प्रकाशित हो रही हैं उनमें कौन स्थायी है, कौन क्षणस्थायी–साहित्य के मूल्यांकन, प्रयोजन, सम्बन्ध आदि व्यापक प्रश्नों से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं होता। इसीलिए उनकी रचना से हमें एक धारा, एक प्रवृत्ति या एक लेखक की रचनाओं का इतिहास भले ही प्राप्त हो जाए, वे साहित्य की गतिविधि पर प्रभाव नहीं डाल पाते। प्रायः कालिजों से डाक्टर की उपाधि प्राप्त करने के बाद तुरन्त आलोचक बन जाने वालों को हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। आलोचकों का एक वर्ग वह भी है जो शिक्षोपयोगी आलोचना का सृजन करता है। यह भी सही मानों में आलोचक नहीं कहे जा सकते यद्यपि उनमें से अनेक ऐसे समर्थ आलोचक भी हैं जिनकी रचनाओं के स्थायी मान-मूल्यों की खोज-परख भी होती है। आलोचना शास्त्र पर लिखने वाले आलोचकों की वस्तुतः हिन्दी में बहुत कमी है। फिर भी इस दिशा में जो प्रयास हो रहे हैं वह स्तुत्य हैं। आज की आलोचना के सम्मुख यही सबसे बड़ी समस्या है कि वह जीवन की तत्कालीन आवश्यकताओं को समझने की व्यापक दृष्टि से साहित्य को परखने और नए

साहित्य के सृजन की चेतना नहीं दे पा रही है। या तो उसमें व्याख्यात्मक परिचयात्मकता अधिक होती है या फिर रचना और रचनाकार के विषय में आलोचक की पक्ष-विपक्ष में अपनी व्यक्तिगत सम्मति के आधार पर प्रशंसा-पूर्ण या कटुतापूर्ण आलोचना अधिक होती है। इसी कारण आज की आलोचना में सृजन की प्रेरणा का अभाव है और जिस मात्रा में आलोचना-साहित्य का सृजन हो रहा है उस मात्रा में उच्चकोटि के रचनात्मक साहित्य का सृजन नहीं हो रहा। उच्चकोटि के रचनात्मक साहित्य का सृजन सुन्दर आलोचना की कसौटी है।

---

(१)

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'

राजा साहब से पूर्व यद्यपि हिन्दी गद्य में छुटपुट रचनाएँ आरम्भ हो गई थीं और लल्लूलाल, सदल मिश्र तथा इंशा अल्लाखां ने उसकी नींव डाल दी थी, किन्तु हिन्दी की भाषा-शैली से सम्बन्ध में सबसे पहला विवाद राजा साहब के समय से ही आरम्भ हुआ था। उस समय तक यह आवश्यकता अनुभव होने लगी थी कि हिन्दी का भाषा-शैली का एक रूप स्थिर किया जाना चाहिए और राजा साहब ने 'आमफहम' हिन्दी का पक्ष ग्रहण किया। आप की यह 'आमफ़हम' भाषा वस्तुतः देवनागरी लिपि में उर्दू (फारसी प्रधान खड़ी बोली) थी। आपकी भाषा-शैली का प्रतिपादित रूप हिन्दी में मान्य नहीं हुआ; फिर भी आपने हिन्दी की जो सेवा की वह हिन्दी गद्य के आदि प्रवर्तकों में आपका स्थान बनाए रखने के लिए पर्याप्त है।

आप हिन्दी के सच्चे हितैषी थे और हिन्दी के प्रचार-प्रसार तथा संवर्धन के लिए आपने जो किया उसके महत्व को कम नहीं किया जा सकता। आप शिक्षा-विभाग में सरकारी पद पर थे। उस पद का पूरा लाभ हिन्दी के हित में उठाकर आपने हिन्दी को शिक्षा में स्थान दिलाया और हिन्दी में अनेक पाठ्य पुस्तकें स्वयं तैयार कीं और दूसरों से तैयार कराईं।

राजा साहब ने अपनी 'आमफहम' भाषा के रूप में उर्दू मिश्रित हिन्दी के जिस रूप का पक्ष लिया वह समय की गति से प्रभावित होकर ही। उस समय सबसे पहली आवश्यकता थी देवनागरी लिपि की मान्यता स्वीकृत कराने की। सरकार उर्दू का पक्ष ग्रहण कर रही थी। अस्तु राजा साहब देवनागरी लिपि में मिली-जुली नित्य बोल-चाल की ऐसी भाषा का पक्ष ग्रहण करने लगे, जिसे स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति न हो। आरम्भ में उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया उसे सरल हिन्दी कहा जा सकता है, पर बाद में उपरोक्त आग्रह से उन्होंने जिस भाषा को अपनाया उसे उर्दू कहना ही संगत है। नीचे हम उनकी दोनों भाषाओं से उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनसे दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। उन्होंने 'आमफहम' भाषा का प्रतिपादन करते हुए जिस भाषा का प्रयोग किया वह देखिए :—

"उसमें अरबी, फारसी, संस्कृत, और अब कहना चाहिए अँग्रेजी के भी शब्द काँधा से काँधा भिड़ाकर यानी दोश-बदोश चमक-दमक और रौनक पावें।........"

साधारण बोल-चाल की भाषा का एक उदाहरण देखिए। दोनों में अपार अन्तर है—

"सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया।........"

---

(२)

राजा लक्ष्मणसिंह

राजा लक्ष्मणसिंह 'सितारे हिन्द' की 'आमफहम' भाषा-शैली के विरोधी और शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। आप हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएँ मानते थे। आपने शुद्ध हिन्दी का जो रूप प्रस्तुत किया वह 'सरल एवं ललित' है और फारसी और अरबी के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। सर्व-प्रथम उनके द्वारा हिन्दी का एक परिमार्जित रूप सामने आया और वही रूप आगे चल कर मान्य हुआ।

तथापि आपकी भाषा हिन्दी का एक आरम्भिक रूप थी, अस्तु उसमें अटपटापन अवश्य मिलता है और प्रान्तिय उच्चारणों का भी आपने प्रयोग किया है जैसे—'जिन्ने', 'सुन्ने', 'इस्से', 'उस्से' आदि। कहावत के स्थान पर कहनावत का प्रयोग किया है। किन्तु इतना सब होते हुए भी आपके हाथों ही हिन्दी भाषा ने सर्व प्रथम स्थिरता ग्रहण की, इसमें सन्देह नहीं। आपकी गद्य-भाषा-शैली में विकास का एक चरण उठता दीख पड़ता हैं; और हिन्दी साहित्य के इतिहास में आपकी हिन्दी सेवाओं का स्थान और महत्व अमर रहेगा। निम्न उद्धरण से आपकी भाषा-शैली का रूप स्पष्ट हो जायगा :—

"याचक तो अपना-अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं, परन्तु जो राजा अपने अन्तःकरण से प्रजा का निर्धार करता है नित्य वह चिन्ता ही में रहता है। पहले तो राज बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीत कर वश किए उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है परन्तु बोझ भी देता है।"

उपर्युक्त उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करने की राजा साहब की शैली उस युग में अपना विशेष महत्व रखती थी।

आपने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में सफल अनुवाद किया था, जिनमें शकुन्तला, रघुवंश और मेघदूत के अनुवाद विशेष महत्व रखते हैं। आपके अनुवाद आज भी प्रामाणिक और सुन्दर माने जाते हैं। उनमें प्रयुक्त भाषा शुद्ध हिन्दी है जिसके शब्द भंडार को संस्कृत से सम्पन्न बनाया गया है और हिन्दी के विकास के प्रथम चरण में वह हिन्दी भाषा का प्रौढ़ रूप सम्मुख रखती है जिसका आगे के साहित्यकारों ने अनुगमन किया।

---

(३)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिन्दी की भाषा शैली के सम्बन्ध में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह ने 'आमफहम' और शुद्ध हिन्दी का विवाद उठा दिया था, उसे समाप्त कर हिन्दी भाषा को एक निश्चित स्थिर रूप प्रदान करने का उत्तरदायित्व भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के कन्धों पर पड़ा। आपने 'सितारे हिन्द' की भाषा का मखौल उड़ाते हुए राजा लक्ष्मणसिंह के पक्ष का समर्थन किया और हिन्दी भाषा-शैली को एक स्थिरता प्रदान की। भारतेन्दु ने 'हिन्दी भाषा' नामक अपने एक लेख में अनेक प्रकार की भाषा-शैली के उदाहरण देते हुए, जिस रूप के अपनाने पर बल दिया था उसका उदाहरण हम नीचे प्रस्तुत करते हैं—

(१) जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं, 'सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया। पुल टूट गये, बाँध खुल गए, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए। बहुत वृक्ष फूल समेत तोड़ गिराए, सर्प बिलों से बाहर निकले, महा नदियों ने मर्यादा भंग करदी और स्वतन्त्रता स्त्रियों की भाँति उमड़ चलीं।'

(२) जो शुद्ध हिन्दी है, 'पर मेरे प्रियतम घर न आए, क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फंद में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए, कहाँ तो वे प्यार कहाँ बातें कहाँ एक साथ भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना ? मैं कहाँ जाऊँ कैसी करूँ ?'

भारतेन्दु के निबन्धों में इन दोनों ही प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं।

उस काल के अन्य लेखकों ने तथा उसके बाद के लेखकों ने भी भारतेन्दु द्वारा प्रतिपादित उपरोक्त भाषा-शैली को ही अपनाया। 'सितारे हिन्द' 'आमफहम' (जन सुलभ) के नाम पर फारसी और उर्दू बहुल भाषा के पक्षधर थे, किन्तु वास्तविक अर्थों में भारतेन्दु ने ही जन सुलभ भाषा का रूप प्रस्तुत किया था। वे भाषा की स्वाभाविकता के पक्षपाती थे और उसमें हर प्रकार की कृत्रिमता के विरोधी थे, चाहे वह उर्दू के शब्दों की भरमार से उत्पन्न की जाय या संस्कृत के अप्रयुक्त क्लिष्ट शब्दों की भरमार से उत्पन्न की जाय।

भारतेन्दु ने सामयिक अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं जिन्हें वस्तु-विषय की दृष्टि से इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं—ऐतिहासिक, गवेषणात्मक, चारित्रिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, यात्रा सम्बन्धी संस्मरण, प्रकृति-सम्बन्धी, हास्य-व्यंगप्रधान, एवं आत्मकथात्मक या आत्मचरितात्मक। शैली की दृष्टि से हम इन निबन्धों में तथ्यातथ्य निरूपक गम्भीर शैली, व्यंगप्रधान शैली, नाटकीय संवाद शैली, पत्र शैली, संस्मरण शैली, तथा कल्पनात्मक एवं वर्णनात्मक शैली के दर्शन करते हैं। भारतेन्दु की भाषा शैली को संक्षेप में हम, प्रौढ़ प्रांजल, आलंकारिक, प्रवाह तथा प्रभावमय सरल एवं स्वाभाविक कह सकते हैं। उनके सभी निबन्धों में चेतना की एक धारा दृष्टिगोचर होती है, औरवह है राष्ट्रीय जागरण की चेतना। भारतेन्दु के इन निबन्धों ने तत्कालीन लेखकों को विषय वस्तु एवं भाषा शैली दोनों ही दृष्टियों से आत्यन्तिक रूप से प्रभावित किया था और प्रायः सभी ने इनकी भाषा शैली तथा विषय वस्तुगत चेतना का अनुकरण किया था। इसीलिए हिन्दी साहित्य के इतिहास से उस काल के लेखकों को 'भारतेन्दु मंडल' के लेखकों के नाम से स्मरण किया जाता है। आपके निबन्ध उस युग की चौमुखी उन्नति और राष्ट्रीय जागरण के नव-आलोक के प्रकाशस्तम्भ थे। उनका सांस्कृतिक महत्त्व भी है और साहित्यिक भी। एक ओर आपके निबन्धों ने जन-जीवन में नई चेतना के स्फूरण की सांस्कृतिक महत्ता का कार्य किया तो दूसरी ओर हिन्दी गद्य का रूप स्थिर कर उसे परिमार्जित किया और उसे प्रौढ़ता एवं प्रांजलता प्रदान की।

(४)

राधाचरण गोस्वामी

भारतेन्दु के व्यक्तित्व और प्रतिभा से प्रभावित गोस्वामी जी भारतेन्दु-युगीन निबन्धकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आप एक सचेत और जागरुक व्यंगय लेखक थे। निबन्धों में ही नहीं, वरन् समस्त साहित्य में व्यंग की प्रधानता भारतेन्दु युग के साहित्य की प्रमुख विशेषता रही है। भारतेन्दु व्यंग लेखन के प्रवर्तक थे। किन्तु गोस्वामी जी के व्यंग भारतेन्दु से भी अधिक जागरुक और प्रखर बन पड़े हैं। आपके व्यंगों में युग के कर्दम को चीर कर नये जीवन के अंकुरित कमल की चेतना है। आपके निबन्धों में सामाजिक पाखण्ड, धार्मिक अन्ध-विश्वास और मतानुगत रूढ़ियों तथा राजनीतिक शोषण पर अत्यन्त तीखे और मार्मिक व्यंग हैं। आपके व्यंगों में एक नया आलोक है, जो पुरातन रूढ़गत विश्वासों की जड़ें हिलाकर नये जीवन की लालिमा बिखेरता है।

गोस्वामी जी के निबन्धों में प्रगतिशील चेतना के तत्व हैं। आपने अपने निबन्धों में प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं का वैज्ञानिक चिन्तनपूर्ण आधार प्रस्तुत कर प्राचीन अस्वस्थ परम्पराओं से उसका अलगाव स्थापित किया है। 'यमपुर की यात्रा' के तीखे व्यंग प्राचीन अस्वस्थ और सड़ीगली आस्थाओं की जड़ें हिला देते हैं।

गोस्वामी जी की भाषा जन-साधारण की भाषा है, फिर भी उसमें एक साहित्यिक सौष्ठव है। आपके निबन्धों में भाष्यशैली की चपलता सजीवता और प्रौढ़ता और तीखे व्यंग तथा चिन्तन आदि सभी तत्व एक साथ प्राप्त होते हैं। 'यमपुर की यात्रा' एक लम्बा कथात्मक निबन्ध है। इसमें कथासूत्र होते हुये भी इसे कहानी नहीं कह सकते। कथा लिखने का प्रारम्भिक प्रयास भले कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'तुम्हें क्या'? और 'होली' उल्लेखनीय निबन्ध हैं। आपने भारतेन्दु से प्रभावित होकर 'भारतेन्दु' नामक पत्रिका भी वृन्दावन से निकालना आरम्भ की थी।

---

(५)

बालकृष्ण भट्ट

भट्ट जी के आविर्भाव के समय हिन्दी भाषा के तीन रूप प्रचलित थे—'सितारे हिन्द' की 'आमफहम' भाषा, राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत गर्भित भाषा तथा भारतेन्दु द्वारा प्रतिपादित शुद्ध किन्तु सरल स्वाभाविक भाषा। भट्ट जी पर 'सितारे हिन्द' का अधिक प्रभाव लगता है। उन्होंने हिन्दी में नवीन भावों की प्रकाशन-क्षमता लाने के उद्देश्य से उत्साहित होकर अन्य भाषाओं से शब्दों को ग्रहण करने का पक्ष लिया और कहीं-कहीं तो अंग्रेजी के शब्द ज्यों के त्यों रख दिए हैं। आपकी भाषा में प्रान्तीय प्रयोग भी पर्याप्त आए हैं। आपकी शैली में अपनी एक ऐसी अनूठी विशेषता है कि वह अपने रचयिता का विज्ञापन स्वयं कर देती है। आपकी भाषा-शैली में अपूर्व रोचकता और सजीवता है उसमें साहित्यिक प्रौढ़ता और भावव्यंजना की शक्ति है। बोल-चाल के मुहाविरों तथा कहावतों का आपने सुन्दर प्रयोग किया है। व्यंगात्मकता भी आपकी शैली का एक गुण विशेष है। आप वर्णित विषय को उपमाओं, रूपकों तथा उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते चलते हैं।

आपने गम्भीर सामयिक-सामाजिक विषयों के साथ साथ सामान्य भावात्मक विषयों पर विचारात्मक तथा विश्लेषणात्मक निबन्ध लिखे हैं, जैसे—'कान', 'नाक', 'आँख', 'आँसू', 'बातचीत' आदि।

आप सफल, प्रतिभा-सम्पन्न और मंजे हुए सम्पादक थे। स्वतन्त्र लेखक की अपेक्षा सम्पादक के रूप में आपकी हिन्दी सेवा का महत्व अधिक है। आपने ३२ वर्षों तक निरन्तर 'हिन्दी प्रदीप' का सम्पादन कर सम्पादन-कला में एक बहुत महत्वपूर्ण योग दिया है। आपके निबन्ध उसी पत्र में फुटकर रूप से प्रकाशित होते रहते थे। आपको हिन्दी के आदि उपन्यासकारों में स्थान प्राप्त करने का भी गौरव प्राप्त है, जिसका हम उपन्यासकारों के प्रकरण में विवेचन करेंगे। आपके निबन्धों को विषय-वस्तु की दृष्टि से निम्न रूप से वर्गीकृत कर सकते हैं—असाधारण या भावात्मक, सामयिक, काल्पनिक, शिक्षाप्रद, सामाजिक तथा राजनीतिक। 'ईश्वर क्या ही ठठोल है', 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है', भकुआ कौन-कौन है आदि प्रथम वर्ग के निबन्ध हैं। उनके नामों से ही एक विचित्रता और व्यंग टपकता है। इन विषयों के द्वारा मानव जीवन में उन्होंने बड़ी गहरी पैठ की है। सामयिक लेखों में 'उसे इलाहाबाद कहें या खाकाबाद' जैसे लेख आते हैं, काल्पनिक निबन्धों में 'बाल्यभाव', 'चन्द्रोदय', आदि को गिना जा सकता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध

निबन्धकार चार्ल्स लैम्ब (Charles Lamb) से आपकी तुलना की जा सकती है। वह भी अंग्रेजी साहित्य में सामान्य विषयों जैसे—'All Fools day', 'Poor Relations' आदि पर गम्भीर मननशील निबन्ध लिखने के लिए प्रसिद्ध हैं। भट्ट जी के निबन्धों पर उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ऐसे निबन्धों में आप विषय की तह तक जाकर उसकी बाल की खाल तक निकालते हुए प्रतीत होते हैं। भाषा-शैली तथा साहित्य संवर्धन में भट्ट जी का भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों में आत्यन्तिक महत्व का स्थान है। आपके निबन्धों का संग्रह 'भट्ट निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

---

(६)

प्रतापनारायण मिश्र

मिश्रजी भट्टजी की धारा और कोटि के निबन्धकार थे। भट्टजी के समान आपने भी सामान्य विषयों पर—'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'दाँत' आदि पर सुन्दर विवेचनापूर्ण एक रोचक शैली में निबन्ध लिखे हैं। भट्टजी के समान ही आपने निबन्धों के शीर्षक भी अर्थपूर्ण रखे हैं जैसे—'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधै' 'मरे को मारे शाहमदार'। आपने मनोयोग और स्वार्थ जैसे विषयों पर भी सुन्दर भावात्मक लेखों का सृजन किया है। भट्टजी के समान ही आप भी वर्ण्य-विषय की तह में जाकर हर पहलू से उस पर विचार करते हैं। उस विचार में एक आत्मीयता होती है। उनकी शैली में पाठकों की रुचि की अच्छी पकड़ है। आपने अपने साहित्य का लक्ष्य सामान्य जनता को बनाया है। परिणामतः आपके भाव प्रकाशन की शैली तथा भाषा दोनों में उसके कारण एक सरलता और सहजता आ गई। आपने ग्रामीण मुहाविरों, कहावतों तथा बोलचाल के शब्दों के खूब प्रयोग किया है। आपकी भाषा में प्रान्तिक तथा जनता के उच्चारण का प्रभाव भी लक्षित होता है और आपने 'लगै', 'आवैगा', 'तौ', 'देओ', 'दिखावै' आदि का प्रयोग किया है। चलताऊ भाषा के बीच-बीच संस्कृत के शब्दों से युक्त वाक्यों का भी प्रयोग आपकी भाषा में मिलता है। भट्टजी तथा भारतेन्दु की अपेक्षा आपकी भाषा अशक्त है।

आपके निबन्धों में सामयिक एवं सामाजिक विषयों पर लिखे गए निबन्धों की अधिकता है। आपने 'ब्राह्मण' नामक एक पत्र भी निकाला था,

उसमें आपके यह लेख तथा अन्यों के लेख प्रकाशित होते रहते थे। आपके शिक्षा सम्बन्धी, नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक निबन्धों ने उस काल में नवीन चेतना के स्फूरण में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया था और भाषा शैली को प्रौढ़ता प्रदान कर हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में बड़ा काम किया था।

आपने भाषा को एक ओर साहित्यिक रूप प्रदान किया तो दूसरी ओर उस बात का भी ध्यान रखा कि वह अपनी व्यावहारिक विशेषता तथा स्वाभाविकता न खो बैठे। इस प्रकार आपने साहित्यिकता के साथ ग्रामीण और बोलचाल की स्वाभाविकता का मिश्रण कर एक नवीन शैली को जन्म दिया।

---

(७)

बद्रीनरायण चौधरी 'प्रेमघन'

'प्रेमघन' के साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण होते समय तक हिन्दी की भाषा-शैली भारतेन्दु, भट्ट तथा मिश्र जी के उद्योगों से साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त कर चली थी। विषयों में विविधता और प्रतिपादन में गाम्भीर्य आने लगा था। भाषा भावों के प्रकाशन की समर्थता एवं शक्ति ग्रहण करती जा रही थी और उसका शब्द भंडार भी सम्पन्न हो चला था।

आपकी शैली में भी उस युग के अन्य निबन्धकारों की भाँति व्यक्तित्व की छाप थी और शैली का एक अनूठापन था। सानुप्रासता और अलंकारिकता आपकी शैली की अनुपम विशेषता है। परिणामतः भाषा में क्लिष्टता आने लगी। 'प्रेमघन' की भाषा में वह सरलता और बोल चाल की स्वाभाविकता न रही जो भारतेन्दु, भट्ट और मिश्र जी की भाषा की प्राण थी। 'प्रेमघन' जी की वाक्य-रचना क्लिष्ट है, वाक्य लम्बे हैं, संस्कृत शब्दों का प्राधान्य है, मुहाविरों का अभाव और काव्यात्मकता है। "प्रयाग को बीती युक्त प्रान्तीय महाप्रदर्शनी के सुबृहत आयोजन और उसके समारंभोत्कर्ष के आख्यान का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह स्वतः विश्वविख्यात है।........" छोटी बात को भी बढ़ा-चढ़ा कर लच्छेदार भाषा में कहने की आपकी अपनी विशेषता थी। आपकी इस शैली से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने सप्रयास भाषा को गढ़ा है। आपने आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। वस्तुतः साहित्यालोचन के आप प्रवर्तक थे। आलोचनात्मक लेखों की भाषा-शैली विवेचनात्मक है, यद्यपि आलोचना में विशेष गाम्भीर्य नहीं होता था और न आलोच्य वस्तु की

तथ्या-तथ्य निरूपणी विवेचना ही होती थी, तथापि उनमें वस्तु-विषय का परिचय और सामान्य रूप से गुण-दोष का विवेचन है। इस प्रकार आपने अपनी रचनाओं और भाषा शैली द्वारा साहित्य को और हिन्दी भाषा को एक नई दिशा दी।

---

(८)

बालमुकुन्दगुप्त

गुप्त जी उर्दू के विद्वान् थे। आपकी हिन्दी भाषा पर आपकी उर्दू विद्वत्ता का बड़ा प्रभाव था। हिन्दी में उर्दू के शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त वाक्य रचना पर भी उर्दू का प्रभाव था। आपकी हिन्दी भाषा में उर्दू की सी रवानी, चुभन, चुलबुलापन और गुदगुदी पैदा करने की शक्ति थी। आप एक सफल सम्पादक थे, और आपको यह ध्यान रखना होता था कि जो बात भी कही जाय वह जन-साधारण तक पहुँचने की शक्ति रखती है या नहीं, उसमें जनता की रुचि के प्रति एक अपील है या नहीं। इस प्रकार आप जन सुलभ व्यावहारिक सजीव भाषा लिखने में और भाषा में मुहाविरों के द्वारा जान डालने की कला में सिद्ध-हस्त हो गए थे। आपके वाक्य छोटे, स्पष्ट, सरल और प्रभावयुक्त हैं। उनमें गम्भीर विचारों को भी सुलभ रूप में प्रस्तुत करने की शक्ति है। आपकी भाषा-शैली की सब से बड़ी विशेषता है सरलता, चलतापन और सचित्रात्मकता तथा व्यंग। 'शिवशम्भू का चिट्ठा' आपकी शैली का सब से उत्कृष्ट उदाहरण है—"शर्मा जी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलबट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम, इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील-छील कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबिअत भुरभुरा उठी। इधर घटा, बहार में बहार।" उपरोक्त उद्धरण से गुप्त जी की भाषा शैली स्पष्ट हो जाती है। आपके वाक्यों में सिलसिला होता है। उनमें एक शक्ति है। और सजीव वातावरण सा उपस्थित हो जाता है। वाक्यों की परस्पर सम्बद्धता, उनकी भाषा शैली के गठाव का द्योतक है। ऐसा सुन्दर और प्रौढ़ गठाव भारतेन्दु की भी भाषा में न था। वाक्य रचना से ही भावों का उतार चढ़ाव, उसका गम्भीर्य तथा ओज स्पष्ट हो जाता है। उनकी भाषा शैली इस बात की द्योतक थी कि अब हिन्दी भाषा अपने विकास पथ पर दूसरा चरण उठा रही है।

चेतना की दृष्टि से भी आप एक सजग एवं जागरुक लेखक थे। अंग्रेज़ी सरकार पर 'शिवशम्भू के चिट्ठे' में आपके व्यंग बड़े ही तीखे और मार्मिक हैं। व्यंग करने का ढँग बड़ा ही अनूठा है। आपके सभी लेखों में राष्ट्रीय जागरण की नव-चेतना मुखरित हुई है। आपसे पूर्व हिन्दी भाषा के प्रयोगों के औचित्य अनौचित्य पर लोग ध्यान नहीं देते थे। वह समय ही साहित्य संवर्धन का था। गुप्त जी ने 'भाषा की अनस्थिरता' नामक लेख द्वारा महावीर-प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रयुक्त अनस्थिरता शब्द के वैयाकरणिक अनौचित्य पर लम्बी चौड़ी टीका-टिप्पणी की; और इस तरह सर्वप्रथम भाषा की वैयाकरणिक शुद्धता की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित कराया, जिसे आगे द्विवेदी जी ने अपना लक्ष्य बना लिया।

---

(६)
महावीरप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदीजी से पूर्व हिन्दी के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या अपने चरण रोपने की और विकास की थी। उस युग के हिन्दी सम्बन्धी समस्त कार्य को हम संक्षेप में प्रचार-प्रसार का कार्य कह सकते हैं। जब हिन्दी के पाठकों की संख्या बन चली, उसके विविध साहित्यिक रूपों का जन्म हो गया और साहित्य सृजन की अबाध धारा चल पड़ी तब हिन्दी को संयमित और परि-मार्जित करने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। सुव्यवस्थित रूप से हिन्दी भाषा को एक व्यवस्थित रूप देने का कार्य द्विवेदीजी से आरम्भ होता है। गुप्तजी के गत विवेचन में हम यह देख आए हैं कि भाषा को रचनात्मक व्यवस्था देने की ओर ध्यान सर्व प्रथम बालमुकुन्द गुप्त ने आरम्भ कर दिया था। किन्तु द्विवेदीजी ने उसे अपने सतत परिश्रम, जागरुक प्रतिभा और प्रयत्न से पूरा किया। द्विवेदीजी का समस्त कृतित्व भाषा के व्यवस्थित करने का है। वे कोई साहित्य रचना या रचना-शैली की मौलिक देन नहीं दे पाए; किन्तु भाषा को एक व्यवस्था देने का कार्य स्वयं में कुछ कम महत्त्व नहीं रखता; और द्विवेदीजी का हिन्दी साहित्य में स्थान अमर है।

भाषा को व्यवस्था देने के उनके कार्य से एक लाभ हुआ तो एक नुकसान भी। भाषा तो व्याकरण की दृष्टि से बन संवर गई किन्तु उसका स्वाभाविक सौंदर्य नष्ट हो गया और शैली के नये प्रयोगों तथा मौलिक रचनाओं की गति में मन्दता आगई। यह स्थिति थोड़े ही दिन रही; और

पुनः सुव्यवस्थित प्राणवान भाषा के माध्यम से साहित्य का मौलिक सृजन त्वरित गति से होने लगा।

द्विवेदीजी ने उर्दू, अँग्रेजी आदि अन्य भाषाओं के शब्दों में प्रयोग का विरोध नहीं किया, किन्तु स्थान और विचार तथा भावाभिव्यक्ति का ध्यान रखकर। उनका शब्दचयन तथा वाक्य रचना बड़ी अर्थवान गम्भीर किन्तु सजीव होती थी। शब्द अपने उचित अर्थों में प्रयुक्त होता था। उन्होंने वाक्य रचना को उर्दू के प्रभाव से मुक्त रहने पर बड़ा ध्यान दिया था। उनका शब्द चयन, वाक्य गठन, अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग एक भाव-प्रकाशन की सुस्पष्टता को दृष्टि में रखकर होता था। आपके वाक्यों में परस्पर अर्थवान सुसम्बद्धता है। भाव-प्रभाव की दृष्टि से आपने वाक्यों को विराम अर्ध विरामादि तथा संपूर्ण लेख को पेराग्राफों में बाँटने की व्यवस्था की। आपसे पूर्व शैलियों के अनेक प्रयोग तो हुए थे किन्तु उन्हें स्थिरता नहीं प्राप्त हुई थी। आपने साधारणतः चार शैलियों का रूप स्थिर किया—भावात्मक, व्यंगात्मक-विचारात्मक और विवेचनात्मक। इन विभिन्न शैलियों के अनुरूप भाषा का रूप भी स्थिर किया—व्यंगात्मक लेखों की भाषा चलताऊ और व्यवहारिक, विचारात्मक तथा विवेचनात्मक लेखों की भाषा गम्भीर, भावात्मक लेखों की भाषा प्रवाहशील मधुर। वाक्यों के छोटे होने पर आपका विशेष बल था। उन्होंने स्वयं अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे हैं—सामयिक, सामाजिक, शिक्षात्मक, साहित्यिक आलोचना सम्बन्धी, विविध ज्ञान सम्बन्धी आदि। भाषा का रूप विषय के अनुसार रखा है। शिक्षात्मक, सामाजिक एवं राजनीतिक निबन्धों की भाषा-शैली सरल है और साहित्यिक आलोचना सम्बन्धी भाषा-शैली में गम्भीरता और विश्लेषणात्मकता है। उनके निबन्धों में आदि से अन्त तक भावों का एक तारतम्य है। निबन्ध के आरम्भ में विचार या तथ्य का प्रतिपादन होता है और उसका विवेचन तथा विश्लेषण करते हुए अन्त में अभीष्ट की स्थापना की जाती है। सरस्वती के सम्पादन के द्वारा भाषा को सुव्यवस्था देने, नए साहित्य के सृजन तथा नए लेखकों को जन्म देने का आपका कार्य सराहनीय और महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक आलोचना का सूत्रपात वस्तुतः आपसे ही आरम्भ होता है। आपका स्थान हिन्दी साहित्य में अमर है।

---

(१०)

सरदार पूर्णसिंह

सरदार पूर्णसिंह की भाषा-शैली बड़ी प्रांजल और प्रौढ़ है। उसमें भाव प्रवणता के साथ अर्थ गाम्भीर्य और मधुरता है। उनके शब्द-चयन और गठन में लाक्षणिकता है—"दुनियाँ के ये छोटे भाई बड़े कायर होते हैं।" उनके भाव-प्रदर्शन का रूप भी नवीन और अनूठा है। उन्होंने भावों और विचारों को भाषा के मधुर एवं प्रांजल प्रवाह के द्वारा रहस्यमय रूप में व्यक्त किया है। उनकी भाषा में आधुनिकता का रूप देखने को मिलता है—"नाद करता हुआ भी मौन है", "मौन व्याख्यान" "हृदय की नाड़ी में सुन्दरता पिरो देता है।" इन वाक्यों में विशेषण और विशेष्य के विरोध से एक विलक्षण चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार के शब्द चयन और वाक्य रचना ने आपकी भाषा में ऐसी सजीवता उत्पन्न कर दी है जो आपसे पूर्व के रचनाकारों में देखने को नहीं मिलती। भाषा भावों की गम्भीरता और सरलता के अनुरूप सरल और क्लिष्ट रूप में प्रयुक्त हुई है। गम्भीर विवेचनात्मक लेखों की भाषा आपसे आप गम्भीर और क्लिष्ट हो गई है। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग हुआ है। उनकी सरल और क्लिष्ट भाषा-शैली के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) "एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बन्दूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ता पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अंधेरी है। ओले पड़ रहे हैं।........"

उपरोक्त उद्धरण में वाक्य छोटे है, शब्द चयन सरल है। वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध है। इसके विपरीत नीचे के उद्धरण में वाक्य लम्बे और संशलिष्ट हैं, शब्द चयन क्लिष्ट है और शैली में एक गाम्भीर्य है—

"अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल सका हो तब तक कर्म के गूढ़ तत्व कैसे समझ में आ सकते हैं।"

आपने अपने निबन्धों को पाश्चात्य निबन्ध शैली के कसाव में कसा है। आपके निबन्धों में स्वतन्त्र चिन्तन, निजीपन, मिष्ट आग्रह और सजीव व्यक्तित्व मिलता है। आपके निबन्ध हैं—'सच्ची वीरता' 'मजदूरी और प्रेम',

'आचरण की सभ्यता', 'ब्रह्म क्रान्ति'। ब्रह्म क्रान्ति को छोड़ सभी विचारात्मक हैं और विचारात्मक होते हुए भी भावात्मक हो गए हैं। प्रायः सभी निबन्धों में भावात्मकता प्रधान है। आपने पश्चिम के नये जीवनादर्शों और विकास की प्रेरणा प्राप्त कर अपने देशगत जन-जीवन को एक नया आलोक दिया था। "जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पंडित और साधू-सन्यासी हल-कुदाल और खुरपा लेकर मज़दूरी न करेंगे, तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं।.........उनका चिन्तन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी.........और उनका खुदा भी बासी हो गया है।" यह व्यंग आज भी सजीव और नवीन है। उनकी भाषा में वर्णन की सजीवता गजब की है—"हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की किरणें चावल के लम्बे दानों के रूप में निकलती हैं।.........किसान मुझे जल में, फूल में, फल में आहुति हुआ सा दिखाई देता है।" भाषा में यद्यपि 'बर्फानी', 'दीदार', 'सुफेद', 'इत्तफाक', मयस्सर आदि उर्दू के तथा 'पालिसी', 'मार्च', 'क्रूसेड्स', आदि अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग हुआ है, पर आपकी भाषा का झुकाव विशुद्ध हिन्दी की ओर ही है।

सरदार जी ने बहुत थोड़ा लिखा है पर जो भी लिखा है वह हिन्दी गद्य-शैली के विकास में एक नयी कड़ी जोड़ता है, और हिन्दी साहित्य के इतिहास में गद्य-शैली के विकास की दृष्टि से सरदार जी का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

---

(११)

श्यामसुन्दरदास

बाबू श्यामसुन्दरदास हिन्दी में वैज्ञानिक आलोचना शैली के स्थापक हैं। आपने पश्चिम के साहित्य सिद्धान्तों का तथा भारतीय प्राचीन साहित्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक तथा वैज्ञानिक अध्ययन कर आधुनिक साहित्य के मान-मूल्यों तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि साहित्यिक अंग-उपांगों का नवीन मान-मूल्यों के आधार पर विवेचन कर उनके कलारूपों को शास्त्रीयता प्रदान की तथा उनकी सम्यक परिभाषा बनाई। आप हिन्दी साहित्य के प्रथम समर्थ समालोचक थे। आपकी स्थापित स्थापनाएँ आज भी हिन्दी साहित्य में साहित्य को परखने की कसौटी का काम करती हैं। आपने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'साहित्यालोचन' में साहित्य

के विविध रूपों का विस्तृत एवं सारगर्भित विवेचन किया है और साहित्य सिद्धान्तों की स्थापना की है।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास का वैज्ञानिक अध्ययन आपकी हिन्दी साहित्य को दूसरी महान देन है। इस विषय की आपकी पुस्तक 'भाषा विज्ञान' अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है। इसमें हिन्दी के उद्गम तथा विकास के साथ-साथ भाषाओं का पारिवारिक तथा आकृति-मूलक वर्गीकरण और उनके विकासों का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी भाषा और साहित्य' आपकी तीसरी महान देन है। इस पुस्तक में आपने हिन्दी भाषा के विकास के साथ-साथ हिन्दी के आदि काल से लेकर आधुनिक (अपने समय तक) काल तक के साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक तथा विवेचनात्मक गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत है।

आपने विचारात्मक, विवेचनात्मक तथा भावात्मक निबन्धों की भी रचना की है। निबन्धों में आपने भाषा सम्बन्धी 'साहित्यालोचन' में स्वनिर्धारित आधार का ("जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे वाक्यों का प्रयोग वांछनीय है।....सरल और सुबोध विषयों के लिए यदि वाक्य अपेक्षाकृत बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती।") व्यवहार में पालन किया है।

आपने जिन गम्भीर विषयों पर कलम चलाई उनके सफल प्रतिपादन में आपकी भाषा-शैली बड़ी समर्थ थी। गम्भीर और वैज्ञानिक विवेचन को भी सरल भाषा में पूर्ण स्पष्टता के साथ व्यक्त करना जिससे हिन्दी साहित्य का एक सामान्य विद्यार्थी भी उसे हृदयंगम कर सके आपकी भाषा-शैली की सबसे बड़ी विशेषता थी। अपने हर स्थापित विषय का पूर्ण विश्लेषण कर चुकने के बाद पुनः उसमें और स्पष्टता लाने के लिए उसका निष्कर्ष—'सारांश यह' करके प्रस्तुत करना आपकी शैली की दूसरी बड़ी विशेषता है। यत्र-तत्र भाव प्रकाशन की दृष्टि से आपने उर्दू और अँग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया है; किन्तु प्रचलित तद्भव रूपों का—'उनका विदेशीपन' निकाल कर ही प्रयुक्त किया है। शुक्लजी की भाषा की अपेक्षा आपकी भाषा अधिक सरल, स्पष्ट और बोधगम्य है। आपकी भाषा में शब्दाडम्बर नहीं है। आपकी भाषा-शैली में सुगठन के साथ प्रवाहशीलता भी है। जहाँ आपने किसी सिद्धान्त की स्थापना की है वहाँ की भाषा में ओज और विशेष बल आ गया है जो विचारों को और भी प्रभावशाली बना देती है। आपने 'साहित्यालोचन' में भाषा-शैली की श्रेष्ठता के मान-दण्डों की स्थापना की है और स्वयं अपनी भाषा-शैली के द्वारा उस स्थापना को सत्य सिद्ध किया है। निःसन्देह आपकी भाषा-शैली बड़ी ही उत्कृष्ट है और हिन्दी साहित्य के विकास में आपके योग का महत्त्व अमर है।

(१२)

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी के हाथों हिन्दी गद्यभाषा और उसकी निबन्ध शैली अपने विकास की एक मञ्जिल के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। शुक्ल जी ने निबन्ध-लेखन तथा आलोचना की एक प्रौढ़ और गम्भीर, तथ्यातथ्य-निरूपक, विवेचनाशील शैली की स्थापना की। आपकी भाषा संयत, परिमार्जित, परिष्कृत, प्रौढ़ और शुद्ध है, तथा शैली में गठाव, भाव गाम्भीर्य और गवेषणात्मकता है। उसमें चिंतन और मनन की गहनता है। आपके प्रायः सभी निबन्धों में चाहे वे आलोचनात्मक हैं या सामान्य, सब में विचारों की प्रधानता है और उन पर आपके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है।

सामान्य विषयों पर आपके लिखे निबन्धों में तथ्य विवेचन में भावुकता और व्यक्तित्व का आवेश है तथा आलोचनात्मक लेखों में वैज्ञानिक और तुलनात्मक विवेचन के साथ सिद्धान्तों की प्रौढ़ स्थापना का आवेश है। पहले प्रकार के निबन्धों की भाषा अपेक्षाकृत सरल चलती हुई, किन्तु साहित्यिक उत्कृष्टता से मण्डित है। वाक्य रचना सरल है। वाक्य छोटे हैं। दूसरे प्रकार के लेखों की भाषा-शैली में क्लिष्टता है। वाक्य रचना भी जटिल है। वाक्य लम्बे हैं।

आपने आलोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त मनोविकार-सम्बन्धी अनेक निबन्ध लिखे हैं जैसे—'चिन्ता', 'करुणा', 'श्रद्धा', 'क्रोध' आदि। इन निबन्धों की शैली व्याख्यात्मक है और भाषा सरल। बीच-बीच में व्यंग-विनोद का भी पुट-पाक होता चला है। इन निबन्धों में उनके व्यक्तिगत व्यापक जीवन-दर्शन और अनुभव की झलक है। इन निबन्धों में उनके स्वतन्त्र चिन्तन और हृदय की भावुकता का ऐसा मेल हुआ है कि प्रतिपाद्य विषय में एक उत्कर्ष और गाम्भीर्य आ गया है और पाठक उन्हें पढ़कर अपने मतिष्क के लिए चिन्तन की नयी उपलब्धि करता है। भारतेन्दु-कालीन 'वृद्ध', 'नाँक', 'भौं' आदि की अपेक्षा शुक्ल जी के निबन्धों में मानव मानस का चित्तशील चित्रण है।

आपसे पूर्व की आलोचना पद्धति में दोष दर्शन और छिद्रान्वेषण तथा टिप्पटी की विशेषता होती थी किन्तु आपने रचना के गुण दोषों की वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक तथ्यातथ्य निरूपणी तथा सिद्धान्त प्रतिपादनी आलोचना और उस सिद्धान्त कसौटी पर निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली का सूत्रपात किया जिसमें रचनात्मक तत्व होते हैं, जिनसे लेखक अपने गुण-दोषों को पहिचान कर महान् साहित्य के सृजन की प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। उसमें लोक मंगल

और समाज संग्रह की भावना है। इस प्रकार आपकी आलोचना शैली में तीन प्रकार की शैलियों का अभूतपूर्व मिश्रण प्राप्त होता है—निर्णयात्मक, तुलनात्मक एवं व्याख्यात्मक जिसमें व्याख्यात्मक का प्राधान्य है। आप में एक सूक्ष्मदर्शनी तथा पैनी दृष्टि थी जो रचना तथा रचनाकार की आत्मा का उद्‌घाटन करने में समर्थ हुई। जायसी, सूर, तुलसी की आपकी व्याख्यात्मक आलोचना, तथा हिन्दी साहित्य के क्रमिक विकास-इतिहास का अन्वेषणपूर्ण तथा व्याख्यात्मक अनुशीलन हिन्दी साहित्य को आपकी अमर देन हैं। जहाँ आप रचनाकार तथा रचना के हृदय-पक्ष की विवेचना करते हैं वहाँ की भाषा-शैली में भावुकता का पुट आ गया है। आपने आलोचना की कोरी निर्णयात्मक प्रणाली को उचित नहीं समझा।

आपकी भाषा बड़ी समर्थ और प्राणवान है, उसमें प्रांजलता, सुष्ठता और पौढ़ता तथा अर्थवानता है और प्रवाह तथा प्रभावमय है। शुक्ल जी का अन्य भाषाओं का ज्ञान, प्राचीन संस्कृत साहित्य, अंग्रेज़ी साहित्य और आलोचना शास्त्रों का ज्ञान और अध्ययन प्रकांड था। आपने अपनी विशिष्ट शैली में मनोविकार तथा अन्य विषयों पर लिखे निबन्धों की अपेक्षा आधुनिक हिन्दी साहित्य की उत्कृष्टता के मान मूल्यों तथा प्राचीन हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक अनुशीलन विशेष महत्व का किया है। आपने आधुनिक साहित्या-लोचन तथा निबन्धों के लक्षणों की स्थापना में पाश्चात्य लक्षणों के अनुशीलन का आधार लिया है अवश्य, पर उस अनुशीलन में आपकी दृष्टि नितान्त भारतीय रही है। भारतीय रस सिद्धान्त, लोकमंगल की भावना, मानवीय उदात्तता, करुणा, दया, त्याग का भाव आपकी समस्त आलोचनात्मक रचनाओं और निबन्धों में परिव्याप्त है। आपने साहित्य की परख-कसौटी का निर्माण नितान्त भारतीय साहित्य संस्कारों और परम्पराओं के आधार पर किया है किन्तु उसमें रूढ़िवादिता नहीं वरन् स्वस्थ गतिशीलता है।

आपकी भाषा में विषयानुकूल भाव प्रकाशन की अपार शक्ति है। पहले सम रूप में एक सिद्धान्त स्थापन के बाद आप उसका तर्क सम्मत विवेचन करते हैं। वैसे तो आपकी भाषा में अधिकांशतः तत्सम शब्दों का ही प्रयोग हुआ है किन्तु भाव-प्रकाशन की दृष्टि से अन्य भाषाओं तथा साधारण बोल-चाल के शब्दों का भी आपने तिरस्कार नहीं किया है, जैसे देशज शब्द 'धड़क', 'वे ठिकाने', 'ढब', 'ताकना', 'गड़बड़', 'सेतमेत' आदि उर्दू के शब्द—'हकीकत' 'गनीमत', महफिल आदि। आपने नवीन पारिभाषिक शब्दों का निर्माण भी किया है। इस प्रकार शुक्ल जी ने निबन्ध तथा आलोचना के क्षेत्र में एक स्तम्भ-स्थापना का काम किया है।

(१३)

पद्मसिंह शर्मा

शर्मा जी तुलनात्मक आलोचना के समर्थ उन्नायक माने जाते हैं। दो समान स्तर के रचनाकारों की तुलनात्मक आलोचना करते हुए गुण-दोष विवेचन उनकी आलोचना प्रणाली की विशेषता है। आपके लेखों में आपके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाती है। आपकी भाषा-शैली स्वयं अपने लेखक का परिचय दे देती है और बता देती है मेरा सिरजनहार कौन है। आपके पूर्व के अनेक लेखकों ने समान रूप से उर्दू-हिन्दी के शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु आपने दोनों भाषाओं के प्रयोगों को एक अभिन्न और अपूर्व रूप प्रदान किया है जिसे अन्य नहीं कर सके। दोनों के सम्मिश्रण से बनी आपकी भाषा निराली है। इस सम्मिश्रण से अधिकतर भाषा में प्रवाह और अपूर्व उत्कर्ष आ गया है। कहीं हलकापन भी है, जिससे विवेचना की गम्भीरता मारी गई है। उसमें चमत्कार होता है किन्तु प्रभाव की कमी आ जाती है। साधारण लेखों में ऐसी भाषा का प्रयोग निःसन्देह चमत्कारी रहा है। किन्तु शुक्लजी का सा गम्भीर चिन्तन, मनन और विश्लेषण की गहनता आपमें नहीं है। आपकी भाषा-शैली में मुशायराना नजाकत और वही वातावरण है।

आपकी आलोचना अधिकांशतः तुलनात्मक है। संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं का विशद ज्ञान होने से आपने बिहारी के दोहों को इन भाषाओं की रचनाओं से तुलना की है और इस तुलना में सर्वत्र बिहारी का पलड़ा भारी रक्खा है।

जहाँ गहन भावों का विवेचन आपने किया है वहाँ की भाषा अपेक्षाकृत अधिक संयत और गम्भीर है। उसमें प्रभाव और ओज होता है। व्यंग आपके बड़े मार्मिक बन पड़े हैं।

---

(१४)

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

गुलेरी जी सरल, सहज, जनसुलभ और सजीव व्यावहारिक प्रवाहशील भाषा के धनी थे। आपकी शब्द योजना संस्कृत-प्रभावित और वाक्य विन्यास संश्लिष्ट होते हुए भी भाषा में सरलता है। उसमें मुहाविरों के प्रयोगों की छटा है। वाक्य योजना सुगठित है। आपकी भाषा में आलंकारिकता न होते हुए भी अपना एक सहज आकर्षण है। उसमें साहित्यिक परिमार्जन और उत्कर्ष एवं प्रभावशीलता है। गम्भीर विषयों को भी सीधी सादी भाषा में छोटे-छोटे मुहाविरेदार वाक्य योजना द्वारा आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने में

आप सिद्ध हस्त हैं। बीच-बीच में आपने उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया है और अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करने में भी नहीं हिचके हैं। किन्तु उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों के प्रयोग से भाषा में कहीं अपकर्ष नहीं आ पाया है। अंग्रेजी के ऐसे ही शब्दों का आपने प्रयोग किया है जो नित्य की बोल-चाल में प्रचलित हो गए हैं जैसे—पब्लिक, पालिश, मेम्बर आदि। परन्तु कहीं कहीं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी आपने किया है जिससे भाषा में क्लिष्टता और दुरुहता आ गई है और उसकी सहजता नष्ट हो गई है। गम्भीर विषयों पर लिखे आपके निबन्धों की भाषा अधिक संयत है। उसमें संस्कृत के शब्दों का भाव-प्रकाशन की उपयुक्तता के अनुकूल अधिक प्रयोग हुआ है। क्रिया रूपों के प्रयोग में प्रान्तिकता का प्रभाव है। उनकी भाषा में अनेक दोषों के होते हुए भी एक सामर्थ्य है जो कम लेखकों में देखने को मिलती है। आपके निबन्धों में प्रसंग गर्भत्व विशेष रूप से होता है। एक विषय पर लिखते-लिखते बड़े लाघव से आप दूसरे विषय पर चले जाते हैं और फिर भी निबन्ध की भाव-सूत्रता में अन्तर नहीं आने पाता। गुलेरी जी ने साहित्यिक एवं ऐतिहासिक तथा सामाजिक और आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। सामयिक विषयों पर लिखे आपके निबन्धों और गम्भीर विषयों पर लिखे निबन्धों की भाषा-शैली में अन्तर है। पहले प्रकार के निबन्धों की भाषा-शैली में क्लिष्टता और गम्भीरता है, तथा दूसरे प्रकार के निबन्धों की भाषा-शैली में चलताऊपन, सरलता और व्यावहारिकता है। मुहाविरे आपकी भाषा के प्राण हैं। आपने कहानियों की ही भाँति निबन्ध भी कम ही लिखे हैं, किन्तु कहानियों की अपेक्षा तो अधिक ही लिखे हैं और कहानियों के समान उनमें भी आपकी प्रतिभा चमकी है।

---

(१५)

बाबू गुलाबराय

जब हिन्दी आलोचना क्षेत्र में विभिन्न वादों की खींचतान हो रही थी, उस समय बाबू जी अपना समन्वयवादी दृष्टिकोण लेकर आलोचना के क्षेत्र में आये। उस समय मार्क्स, लेनिन, फ्रायड, ऐडलर, युंग आदि पाश्चात्य विचारकों की चिन्ता धारा मे हिन्दी साहित्य मनोवैज्ञानिक प्रगतिवादी, भाववादी आदि धाराओं में बह चला था। शुक्ल जी ने भारतीय समीक्षा सिद्धान्तों को नई वैज्ञानिक अनुरूपता प्रदान करने का प्रयास किया था और उसमें वे अपने समय में एक हद तक सफल भी हुये थे। किन्तु शुक्ल जी की

आलोचना अपने आग्रहों से मुक्त नहीं थी। बाबूजी ने आग्रहों से मुक्त विभिन्न मतों का समन्वय कर आलोचना के मानदंडों का सृजन किया। उनकी आलोचना में भारतीय और पाश्चात्य दोनों आलोचनाओं के मानों का समन्वय मिलता है। उन्होंने अपनी व्यावहारिक या परिचयात्मक आलोचनाओं में भी इसी समन्वय भावना से काम लिया है, और कलाकार विशेष के साहित्यगत गुणदोषों का समन्वय प्रस्तुत किया है।

ऐसी आलोचना पद्धति को अध्यापकीय आलोचना का नाम दिया जाता है, जिसमें पक्ष-विपक्ष दोनों की ही बातें होती हैं और पाठक को अपना स्वतंत्र मत निर्धारित करने का अवसर दिया जाता है।

ऐसी आलोचना में किसी भी रचना पर आलोचक का स्पष्ट मत समझ पाना कठिन हो जाता है, लेकिन उसमें सरलता और सुबोधता होती है। यही बात बाबूजी की आलोचना के साथ है।

बाबू जी की आलोचना पद्धति को अनेक आलोचकों ने अनेक नाम दिये हैं :—अध्ययनात्मक, व्याख्यात्मक, समन्वयात्मक, व्यावहरिक और समन्वयपरक व्याख्मात्मक। किन्तु हमारी सम्मत्ति में उनकी आलोचना में यह सभी गुण समन्वित हैं। जैसे एक अध्यापक अपने विद्यार्थियों को साहित्य की सभी प्राचीन और नवीन धाराओं और प्रवृत्तियों से परिचित कराकर उसे अपने चिन्तन के द्वारा अपना स्वतंत्र मत बनाने का अवसर देता है वही काम बाबू जी की आलोचना करती है। उदारता उनकी आलोचना का विशेष गुण है।

बाबू जी ने सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनों प्रकार की आलोचनायें लिखीं हैं। 'हिन्दी नाट्य विमर्ष', 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' सैद्धान्तिक आलोचना की पुस्तकें हैं और 'प्रबन्ध प्रभाकर', 'हिन्दी काव्य विमर्ष', 'प्रसाद की कला', और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' आदि कृतियां प्रयोगात्मक आलोचना के अन्तर्गत आती हैं। बाबू जी ने अपनी सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्य की परख के जिन मान-मूल्यों की स्थापना की है, उन्हीं का प्रयोग उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा में हुआ है। आपकी आलोचना में शुक्ल जी की नीतिवादी आलोचना का आधार भी है। स्पष्टता, सरलता, सजीवता, तर्कों में पारस्परिक सम्बद्धता, सुबोधता आदि आपकी आलोचना शैली के गुण हैं। आपने रचनाकार के जीवन पर न जाकर उसकी रचना की आत्मा को खोजने परखने का प्रयास किया है। आपने स्वयं लिखा है—'मैं पुस्तक की असली देन को खोजना चाहता हूँ। पुस्तक की सार वस्तु

अच्छी तरह निकालने का प्रयत्न करता हूँ, और उसको पाठकों के समक्ष अच्छे से अच्छे शब्दों में रख देता हूँ। आलोचना को मैं शुष्क नहीं बनाना चाहता। अपने निबन्धों की शैली का समावेश आलोचना में भी करता हूँ। उसको भी मैं कलाकृति मानता हूँ।

बाबू जी आलोचक के साथ साथ हिन्दी के इने गिने निबन्धकारों में भी स्थान रखते हैं। आपके निबन्धों में द्विवेदी-युग और उसके बाद तथा प्रगतिवादी विचार धारा सब का समावेश मिलता है। उसमें नैतिकता भी है, यौवन का मुग्धकारी उल्लास भी, और सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन की प्रगतिवादी दृष्टि भी। आपके निबन्धों में दर्शन के जटिलतम सिद्धान्त जीवन में सापेक्ष रूप से सजीव होकर मूर्तिमान हुये हैं।

भाषा की सुघरता, सरलता, सुबोधता, विचारों की स्पष्टता और सजीवता आपकी शैली के विशेष गुण हैं। उनमें एक अनुपम आत्मीयता होती है।

भाषा विषय के अनुरूप परिवर्तित होती चलती है। उसमें गम्भीरतम विषयों, सजीव व्यंगों, जीवन की स्वाभाविक अनुमतियों आदि को अलग-अलग व्यक्त करने की शक्ति है। आप में विषय को समाजशास्त्र, दर्शन और मनोविज्ञान के प्रसंग में रखकर परखने की प्रवृत्ति भी है। आपने मनोविज्ञान पर भी अनेक निबन्ध लिखे हैं, जैसे—'हीनता ग्रन्थियाँ', 'स्वप्न दर्शन', 'भेड़िया-धसान', 'अन्धेरी कोठरी', 'प्रभुत्व-कामना', 'प्रदर्शन', 'अन्तरद्वन्द' आदि।

---

(१६)

जयशंकरप्रसाद

प्रसाद हिन्दी के जाने माने कहानीकार और नाटककार हैं। कहानीकार, नाटककार और उपन्यासकार के रूप में ही गद्यक्षेत्र में उनका विशेष स्थान है। निबन्धकार या आलोचक के रूप में उनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन नहीं हो पाया था। अपने नाटकों की भूमिका के रूप में उन्होंने जो छोटे-छोटे लेख लिखे हैं, उन्हें ही उनके निबन्ध या आलोचना मान सकते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने काव्य, कला, रस, रूपक तथा साहित्य के विविध वाद आदि विषयों पर विवेचनात्मक लेख भी लिखे हैं, जिनका एक संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। इन्हें हम उनकी आलोचना के अन्तर्गत ले सकते हैं।

प्रसाद के समस्त साहित्य में दर्शन और भारतीय इतिहास की गौरव-परम्परा का स्वर ही प्रबल है। यही बात उनके इन लेखों में भी मिलती है। उन्होंने प्राचीन दर्शन और इतिहास को नये विज्ञान, मनोविज्ञान के आधार पर परखने का प्रयास किया है और जीवन के विकास के साथ उनकी निसर्ग सापेक्षता स्थापित की है। इसीलिये उनके लेखों में प्राचीनता के प्रति मोह होते हुए भी नवीनता का आकर्षण है। उन्होंने कुछ साहित्यिक परिचयात्मक लेख भी लिखे हैं, जिनमें गम्भीर विचार विवेचन भी मिलता है, जैसे 'रंगमंच', 'नाटकों का आरम्भ', 'रहस्यवाद', 'यथार्थवाद' और 'छायावाद'। इनमें शुक्लजी की सूत्रशैली भी मिलती है। वह विषय की सूत्र रूप में परिभाषा देकर तब उसका विश्लेषण करते हैं, जैसे 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेय-मयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।' इन लेखों की शैली विवेचनात्मक है। लेखक सूत्ररूप में विषय की परिभाषा देकर 'अर्थात्', 'तात्पर्य', 'इसी कारण' आदि के द्वारा अपने सूत्रकथन को स्पष्ट करता जाता है।

भाषा में तत्सम शब्दों की बहुलता है। फिर भी उसमें नीरसता नहीं आने पाई है। भाषा गम्भीरतम विषयों और भावों तथा बिचारों को अभि-व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है।

---

(१७)

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

बख्शीजी आलोचक और निबन्धकार दोनों हैं। आपने काफी समय तक हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन किया था और अब फिर कर रहे हैं। आपकी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं—'हिन्दी-कहानी-साहित्य', 'हिन्दी-उपन्यास-साहित्य', 'विश्व-साहित्य' और 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श'। आपके निबन्धों का संग्रह 'पंचपात्र' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त आपकी एक और पुस्तक है 'त्रिवेणी', जिसमें आपके निबन्ध, आख्यायिका और नाटक सम्मिलित हैं।

आलोचक के रूप में आप व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक आलोचक हैं और निबन्धों के क्षेत्र में विचारात्मक लेखक। आपने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक में हिन्दी साहित्य के विविध रूप-विधानों का परिचयात्मक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। आलोचनात्मक पुस्तकों की भाषा-शैली में गम्भीरता और अर्थवानता है। निबन्धों की शैली भावपूर्ण और मधुर है। उनमें तर्क की

खींचतान नहीं, भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति है। बीच-बीच में व्यंग के छींटे भी छोड़े हैं। आपकी रचनाओं में स्वतन्त्र विचार, अपने आत्म-विश्वास के साथ प्रगट हुए हैं। जहाँ एक ओर आपके आलोचनात्मक साहित्य में विद्वत्ता-पूर्ण साहित्यिक अध्ययन की गहराई का पता चलता है, वहाँ दूसरी ओर आपके निबन्धों में आपके भावपूर्ण और निष्कपट मानस तथा जागरुक बुद्धि का पता चलता है। आपके साहित्य में एक आत्म-विश्वास है जो अपने साथ दूसरों का भी निर्माण करता है। एक संकल्प है जो दूसरों को सम्बल प्रदान करता है और विचारशक्ति है जो दूसरों को नया आलोक और नई चेतना देती है। आपकी भाषा विचारों का सफल वाहन है। आपकी आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है—समाज के प्रसंग में साहित्य गतिविधि का विश्लेषण और मूल्यांकन। आधुनिक हिन्दी साहित्य में तरुण दल के द्वारा जो नव-साहित्य निर्मित होता जा रहा है उसमें तारुण्य की स्फूर्ति है, कामना है और विद्रोह है। निष्चेष्टा के जिस महादैत्य ने पराधीनता के पाश में समस्त देश को बद्धकर शक्तिहीन बना दिया था, उसका संहार करने के लिये एक ऐसे ही साहिन्य की आवश्यकता थी, इसीलिये तारुण्य का उन्माद उनमें स्फूर्ति लाने के लिए आवश्यक हो गया है। 'यही उन्माद हम नव प्रगतिशील साहित्य में पाते हैं।' इस उद्धरण से उनकी आलोचना में जागरुक समाज सापेक्ष दृष्टि तथा कथन की अर्थ गाम्भीर्ययुक्त सरल शैली का पता चलता है।

निबन्धों की भाषा में और भी सरलता है। छोटे वाक्य, सरल वाक्य विन्यास, उपयुक्त भाव व्यंजना में समर्थ शब्दों का चयन, प्रसाद-माधुर्य तथा भावुकतापूर्ण निजीपन आपके निबन्धों की विशेषताएँ हैं।

---

(१८)

धीरेन्द्र वर्मा

धीरेन्द्र वर्मा का मुख्य लेखन-विषय भाषा-विज्ञान या तत्सम्बन्धी विषय हैं। भाषा-विज्ञान पर अपनी मौलिक चिन्तन और अन्वेषण पर आधारित रचनाएँ प्रस्तुत कर आपने हिन्दी के स्वरूप-निर्माण एवं विकास को सामान्य पाठक के लिए सुलभ बना दिया है। भाषा-विज्ञान सम्बन्धी देन ही हिन्दी साहित्य में आपकी मुख्य देन है। किन्तु आपने विविध विषयों पर कुछ लेखों की रचना भी की हैं, जिनके विषय हैं साहित्य, समाज, संस्कृति आदि। इन सब निबन्धों में आपका दृष्टि-कोण मूलतः एक साहित्यिक विचारक का दृष्टिकोण रहा है। आपकी भाषा-

शैली में साहित्यिक उत्कर्ष, निखार और परिमार्जन है। शैली में प्रौढ़ता है। शब्द-चयन में संस्कृत शब्दावली का प्रभाव है। वाक्य संश्लिष्ट और भावों के अनुकूल सरल और क्लिष्ट हैं। उनमें रचना का गठाव, भावों की सूत्रता और अर्थवानता का बल है। संक्षेप में उनकी भाषा शैली में संयम, स्पष्टता, सुलझापन, अभिव्यञ्जना शक्ति और साहित्यिक प्रौढ़ता और निखार-परिमार्जन है। आपकी हर रचना में मौलिक चिन्तन मिलता है। आपके निबन्धों को हम सामान्य रूप से साहित्यिक निबन्धों का नाम दे सकते हैं। आपने भाषा की विशुद्धता का सदैव ध्यान रखा है; किन्तु वह विशुद्ध होते हुए भी शुक्ल जी की सी क्लिष्ट और शुष्क नहीं है। आपके फुटकर निबन्ध 'विचार-धारा' नाम से संग्रहीत हो चुके हैं।

---

(१६)

डाक्टर रामकुमार वर्मा

आप आलोचक कम और साहित्य के इतिहासकार अधिक हैं। हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास, कबीर के रहस्यवाद, भाषाविज्ञान आदि विषयों पर आपने गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह अध्ययन व्याख्यात्मक और परिचयात्मक है, सैद्धान्तिक नहीं।

आपकी भाषा तत्सम-प्रधान और गम्भीर विषयों के अनुरूप है। स्पष्टता, सुबोधता आपकी शैली की विशेषताएँ हैं। आपकी आलोचना में शिक्षोपयोगी तत्व हैं।

शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित रहस्यवाद की मानप्रतिष्ठा स्थापित करना आपकाविशेष कार्य है।

---

(२०)

डा० नगेन्द्र

डा० नगेन्द्र हिन्दी के एक समर्थ आलोचक और निबन्धकार हैं। किन्तु आप आलोचक पहिले हैं और निबन्धकार बाद में। डा० नगेन्द्र ने शुक्लजी द्वारा उपेक्षित अंगों की समीक्षा प्रस्तुत कर आलोचना साहित्य में एक सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। आपकी समीक्षा बड़ी स्पष्ट और सुलझी हुई होती है। आपने पाश्चात्य और भारतीय दोनों ही समीक्षा-दृष्टियों को गम्भीरता से समझ-परखकर दोनों के समन्वित समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और उन्हीं सिद्धान्तों पर अपनी प्रयोगात्मक और व्यावहारिक समीक्षा लिखी है।

डा० नगेन्द्र पर फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में है। फ्रायड के मनोविश्लेषण को आधार बनाकर आपने समीक्षा की मनोवैज्ञानिक शैली का भी प्रवर्तन किया है। इसलिए आपकी समीक्षा में रोमानी और प्रभाववादी (romantic and impressionist) दोनों ही दृष्टिकोण मिलते हैं।

निबन्धकार के रूप में भी आपने जो रचनायें प्रस्तुत की हैं—'काव्य-चिन्तन', 'विचार और अनुभूति', तथा 'विचार और विवेचन'—उनमें साहित्य सिद्धान्तों का ही चिन्तन अधिक है और उनको हम आलोचना के अन्तर्गत ही ले सकते हैं।

आपकी शैली में वैज्ञानिक विवेचन के साथ भावात्मक शैली का सुन्दर समन्वय मिलता है, विशेषकर अपनी प्रयोगात्मक समीक्षाओं में भावुक स्थलों पर आपकी भाषा शैली अत्यन्त सरस, सजीव, प्रभावोत्पादक और भावुकता-पूर्ण हो गई है।

आपकी भाषा अधिकतर तत्सम्प्रधान है, किन्तु भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से उर्दू और अँग्रेजी के शब्दों का नितान्त बहिष्कार भी आपने नहीं किया है। यथा अवसर आवश्यकता के अनुसार अँग्रेजी के शब्दों का प्रचुर मात्रा में आपने प्रयोग किया है।

---

(२१)

शान्तिप्रिय द्विवेदी

शुक्ल जी तथा अन्य पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण कर आलोचना करने वाले आलोचकों की दो आलोचना धाराओं के अतिरिक्त हिन्दी में सन् ३०—३१ लगभग काव्य में छायावादी और रहस्यवादी प्रवृत्ति के साथ आलोचना क्षेत्र में उसके प्रभाव को लेकर अनेक आलोचकों का जन्म हुआ। इन्हीं में शान्तिप्रिय द्विवेदी का स्थान आता है। इन आलोचकों में किसी नई प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते, वरन् शुक्ल जी द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के पक्ष-विपक्ष को कसौटी मानकर आलोचना की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने आलोचना के क्षेत्र में रहस्योन्मुखी भावना का प्रवेश किया है, और एक भावुक और दार्शनिक आग्रह से साहित्य समीक्षा का सृजन किया है।

'संचारिणी', 'सामयिकी', 'पथ-चिह्न', 'युग और साहित्य', 'धरातल', 'परिव्राजक की प्रजा', आपकी प्रसिद्ध आलोचना और निबन्ध रचनायें हैं। 'पथ-चिन्ह', 'पारिव्राजक की प्रजा' और 'धरातल' में आपके निबन्धकार के दर्शन होते हैं। आपकी समीक्षा में भाव, भाषा और शैली में संगीतमय माधुर्य है और अपनी बात कहने में रहस्य गुम्फन की प्रवृत्ति है, जिससे बात उलझ कर रह जाती है। उसमें एक स्पष्ट विश्लेषण का अभाव है। आपकी भाषा शैली में भी छायावादी काव्य शैली का रूप प्राप्त होता है, जैसे 'महादेवी ने यदि आँसुओं की आर्द्रता में चन्दन को सुवासित कर दिया, तो रामकुमार और 'नवीन' ने आँसुओं में अबीर घोल कर आँसुओं को और भी रंगीन बना दिया।

निबन्धकार के रूप में आप पर गांधीवादी दर्शन का प्रभाव है। उसी के आलोक में आपने मानव जीवन के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास किया है। आपके निबन्धों की भाषा छायावादी काव्यशैली और रहस्य गुम्फन की प्रवृत्ति से प्रभावित हुई है। इसी कारण आपके विचारात्मक निबन्धों में आपकी चिन्तन-धारा अपने में ही उलझ कर रह गई है, यद्यपि चिन्तक के रूप में आपने अपनी शक्ति भर समस्याओं का स्पष्ट समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जीवन के सामान्य विषयों पर भी आपकी दृष्टि गई है और उन पर आपने गम्भीर निबन्ध लिखे हैं, जैसे 'रोटी और सेक्स', 'साइकिल रिक्शा और इक्का' आदि।

आपकी भाषा तत्सम्प्रधान शुद्ध हिन्दी है। उसमें बोलचाल के शब्द प्राय: नहीं आये हैं। वाक्य गठन लच्छेदार और काव्यमय है। शब्द योजना

मधुर और सुकुमार है। शुद्ध भाषा होते हुए भी उसमें यत्रतत्र उर्दू, अंगरेजी और बोलचाल के शब्द भी अनायास अपने स्वाभाविक रूप में आ गये हैं। अंगरेजी के कुछ शब्दों का तो आपने ज्यों का त्यों प्रयोग किया है, जैसे 'रियलिज़म', 'सबजेक्टिव', 'आवजेक्टिव', 'सोशलिस्टिक', 'रोमेण्टिस्ज़िम', 'आइडियल्ज़िम', आदि।

यद्यपि आपकी शैली विचार-विवेचना की है, किन्तु उसमें तर्क-युक्तता की अपेक्षा भावना का आवेश अधिक है। कहीं-कहीं आपने शुक्लजी की सूत्रात्मक शैली का प्रयोग भी किया है। आपकी वाक्य रचना में अधिकांशतः क्रिया के बाद कर्ता या उसके विशेषण का प्रयोग हुआ है, जैसे 'मनुष्य हो गया पंगु-हाथ पाँव रहते वे हो गया है, लँगड़ा लूला..................जिसे सभ्य भाषा में कहते हैं 'बेकार या गरीब'; 'इस सभ्यता का निकल गया है दिवाला' आदि। यह आपकी काव्यात्मक प्रवृत्ति का ही प्रभाव है। आपकी भावुकता में एक करुणा का स्वर सर्वत्र पाया जाता है, विशेषतः आपके व्यक्तिक निबन्धों में। इधर आपके निबन्धों पर सर्वोदय और विनोवा के भूदान का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। यह आप पर गांधीवाद के प्रभाव का ही अगला चरण है।

---

(२२)

शिव पूजन सहाय

लिखने की भाषा में भाषण की सी ओजमय भाषा-शैली का अनुकरण करने वालों में शिव पूजन जी का स्थान है। आपकी भाषा में उर्दू शब्दों का प्रयोग मिलता है और बोधगम्यता के साथ-साथ ओजपूर्णता तथा प्रभावशीलता उसकी विशेषता है। उर्दू के शब्दों का प्रयोग होते हुए भी आपकी भाषा विशुद्ध है। आपकी शैली में भाषणों का सा उतार चढ़ाव है। विषय के अनुकूल भाषा में परिवर्तन हुआ है। आपकी भाषा शैली में एक साथ भाषण का ओज, प्रवाह और प्रभावमयता तथा साहित्यिक सौष्ठव के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त आपके कुछ निबन्धों की भाषा में काव्यत्व है। उसके पढ़ने में गद्य-गीत का सा माधुर्य मिलता है। माधुर्य के साथ गम्भीरता और अर्थवानता है। शुक्ल जी की भाषा जहाँ गम्भीर है वहाँ शुष्क भी; पर आपकी भाषा में गाम्भीर्य और माधुर्य का अपूर्व मिश्रण हुआ है। इस गुण के साथ ही आपकी भाषा-शैली में अलंकारिकता है। आपने अनुप्रासों की झड़ी अपने निबन्धों में लगा दी है। कहीं-कहीं अनुप्रासों की बहुलता खटकने योग्य हो गई

है। अनुप्रासों के अतिरिक्त रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमाओं का भी आपने अपनी रचनाओं में प्रयोग किया है। इससे आपके वर्णनात्मक निबन्धों में कहानी की सी रोचकता आ गई है। "नव-पल्लव-पुष्प-गुच्छों से हरे-भरे कुंज-पुंजों में बसंत-वसीठी मीठी-मीठी बोलती और बिरह में विष घोलती थी। मधुर-मधुमयी माधवी लता पर मंडराते हुए मकरन्द-मत्त-मधुकर, उस चराचर मात्र में नूतन शक्ति संचालन करने वाले—जगदाधार का गुन-गुनकर गुण गाते थे।........" समास बहुलता भी आपकी भाषा में पाई जाती है। "सौन्दर्य-गरिमामय-मुखारविन्द", 'मल्लिका-वल्लरी-वितानों', अलि-अवली-केलि-लीला', आदि। आपकी गद्य-वाक्य-रचना में कहीं पद्यात्मक-तुकान्तता भी मिलती है, जैसे—'सतीत्व रक्षा के लिए जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गंवाई जरूर, लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में नहीं समाई।" अपनी विशिष्ट भाषा शैली के कारण आपका निबन्ध साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

---

(२३)

जैनेन्द्र

जैनेन्द्र—उपन्यासकार और कहानीकार का वर्णन हम अन्यत्र करेंगे। वही उनके साहित्यकार का मुख्य रूप है। किन्तु जैनेन्द्र एक मौलिक विचारक हैं और उन्होंने अनेक दार्शनिक निबन्धों की भी रचना की है। उनके कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं, जिनमें व्यक्ति तथा समाज के जीवन में उठने वाली समस्याओं पर शुद्ध मानवतावादी दृष्टिकोण से पाठकों के सम्मुख कुछ विचार प्रस्तुत कर उन्हें स्वयं विचार करने और अपना पथ-निर्माण करने को उभाड़ा गया है। ऐसे निबन्धों की शैली को हम प्रश्नोत्तरी शैली कह सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे किसी से बात कर रहे हों और उसके प्रश्नों का उत्तर देते जाते हों। एक आत्मीयता और पाठक से हार्दिक निकटता उन निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता है। इनको पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई अपना आत्मीय जीवन के गहनतम और गूढ़तम प्रश्नों, नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक आदि पर बड़ी सहानुभूति और सहृदयता के साथ हमें बता रहा है और उन पर सोचने के लिए सामिग्री दे रहा है, कोरे उपदेश नहीं दे रहा है। यह निबन्ध बड़े ही प्रभावशाली बन पड़े हैं। लेखक एक विवाद खड़ा करता है फिर उसका प्रतिवाद करता है और वाद प्रतिवाद के द्वारा ही वह अपने

मत और अपनी अनुभवशील सजीव कल्पना के द्वारा पाठक के मन की बात कह जाता है और पाठक ऐसा अनुभव करने लगता है जैसे वह स्वयं जैनेन्द्र के निकट बैठकर कुछ प्रश्नों पर जो उसके जीवन से सम्बन्ध रखते हैं बातचीत कर रहा है और जैनेन्द्र बड़ी आत्मीयता के साथ उनका उत्तर दे रहे हैं। इस प्रकार वे एक समाधान् प्रस्तुत करते हैं जिसे पाठक अनुभव करता है कि उसने लेखक के साथ मिलकर प्राप्त किया है। तब वह समाधान उसे सहज मान्य हो जाता है। 'बाजार दर्शन', 'आप क्या करते हैं', 'कहानी नहीं' आदि आपके इस शैली के उच्चकोटि के निबन्ध हैं। आपकी भाषा सरल, स्वाभाविक और बोलचाल की होती है। वाक्य-विन्यास में भी बोलचाल का रूप ही होता है। बोलचाल के शब्दों का प्रयोग तो अनेक अन्य लेखकों ने भी किया है किन्तु वाक्य-विन्यास में भी इसी सहजता का निर्वाह जैनेन्द्र जी की भाषा शैली की विशेषता है। उसमें शुद्धि की दृष्टि से अशुद्धी भले ही दीखे किन्तु उसकी सहजता का आकर्षण भी कम नहीं है।

आपके निबन्ध अधिकतर विचारात्मक हैं। विविध विषयों—'धर्म', 'युद्ध', 'न्याय', 'राष्ट्रीयता', 'दान की बात', 'दीन की बात', 'ब्लैक आउट', 'पैसा', 'कमाई और भिखाई', 'गांधीवाद का भविष्य', 'रोटी का मोर्चा', 'संस्कृति की बात' आदि अनेकों निबन्ध इस शैली में लिखे हैं। इन सब निबन्धों में विषय प्रतिपादन में मानव और उसका जीवन केन्द्र-बिन्दु है। उनके निबन्धों में उनका विशाल व्यापक व्यक्तित्व मुखरित हो उठता है और उनकी अपनी मानवता स्वरित हो उठती है।

निबन्धकार के रूप में जैनेन्द्र हिन्दी के गिने-चुने निबन्धकारों में से हैं।

---

(२४)
पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

उग्र हिन्दी गद्य साहित्य में, क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या नाटक और क्या निबन्ध सभी में अपने उग्र विचारों और अक्खड़, बेधड़क भाषा-शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। उन्होंने अपनी रचनाओं में निर्भय होकर सामाजिक नग्नताओं का चित्रण किया है।

आपके अधिकतर निबन्ध भावात्मक हैं। उनमें लेखक वर्ण्य विषय पर विवेचन करता हुआ भावुकता में बह जाता है और फिर अपने कथन के सन्तुलन को खो बैठता है। जिस चित्रण को भी वे लेकर चले, उसे पूर्णता

को पहुँचा दिया। जहाँ भावुकता का आवेश अधिक हो जाता है, गद्य में भी काव्य का सा ओज और माधुर्य आ जाता है।

आपकी भाषा-शैली ठेठ बोलचाल की जन-सुलभ है। उर्दू, अँगरेजी और देशज तथा स्थानीय शब्द अपने स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त होते हुए भी भाषा की धारावाहिकता में अविरोध नहीं उत्पन्न कर पाते। सरल भाषा होते हुए भी उसमें एक अपूर्व प्रवाह, भावाभिव्यक्ति की समर्थता और प्रेरणा होती है, जो उग्र के हृदय की उग्रता का तादात्म्य पाठक के हृदय के साथ स्थापित कर उसमें एक नई लौ जला देती है। चुस्ती, लाघवता, नाटकीय प्रभाव आपकी शैली की विशेषतायें हैं।

---

(२५)

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी के ललित निबन्धकारों में आपका स्थान प्रायः सर्वश्रेष्ठ है। आपके निबन्धों में भारत के प्राचीन गौरवमयी स्वस्थ परम्परा, नवीन गति-विधि और भविष्य की आशा का स्वर है। आज प्राचीन और अर्वाचीन के संघर्षण से जो सामाजिक अव्यवस्था हो रही है, उसे भारतीय संस्कारों से वर्तमान की अनुरूपता में संस्कारित कर मानव के स्वस्थ विकास की दिशा आपके निबन्धों में प्राप्त होती है।

आपने विविधि विषयों पर निबन्ध लिखे हैं, जिनको हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—विषय प्रधान निबन्ध या ललित निबन्ध। ललित निबन्धों का ही आधिक्य हैं जिनमें विषय परिचय भी मिल जाता है। प्रसंग-गरभत्व आपके निबन्धों की एक अभूतपूर्व विशेषता है। भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रति आपका मोह भी आपके निबन्धों से प्रकट होता है। "धर्मस्यतत्वम् निहितम् गुहायाम्", "भारतीय संस्कृति की देन", "संस्कृतियों का संगम", "भारतीय फलित ज्योतिष", "अशोक के फूल", "मेरी जन्म भूमि", "बसन्त आ गया", "आम फिर बौरा गये" आदि निबन्ध विषय विविधता, प्रसंगगर्भत्व, भारतीय इतिहास संस्कृति के प्रति प्रेम, लेखक की भावुकता और उसकी शैली की सुघड़ ललित कला के परिचायक हैं। "नाखून क्यों बढ़ते हैं" जैसे सामान्य विषय को लेकर मनुष्य की मानवीय और पाशविक वृत्तियों आदि जैसी गम्भीरतम बातों की सरल सहज अभिव्यक्ति

उनके निबन्धों की विशेषता है। समाज कल्याण और लोक मंगल की उदात्त मानवीय भावना आपके निबन्धों के प्राण हैं।

'कल्पलता' और 'अशोक के फूल' नाम से आपके निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हुये हैं।

आलोचक के रूप में भी द्विवेदी जी की बहुत बड़ी देन है। उन्होंने हिन्दी आलोचना को एक नई उदार और वैज्ञानिक मानववादी दृष्टिकोण दिया। उन्होंने समीक्षा की उस पद्धति का सूत्रपात किया, जो साहित्य को जीवन की गतिविधि का स्वाभाविक प्रतिफलन मानकर चलती है। उन्होंने साहित्य को तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पीठिका पर रखकर परखा है, और साहित्य की उस मूल आत्मा का उद्‌घाटन किया है, जिसने काल विशेष में लोक जीवन से प्राण रस पाकर लोक जीवन को नई सञ्जीवनी और शक्ति प्रदान की। वे साहित्य को समाज से अलग मानकर नहीं चलते। उन्होंने लोक जीवन और उसके जीवन के अभिव्यक्त साहित्य को सतत् परिवर्तनशील तत्कालीन परिस्थितियों में अपनी अपनी सीमाओं के भीतर प्रगतिशील माना है। शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया है तो द्विवेदी जी ने उस इतिहास की तत्कालीन समाज में मूल प्रेरणा शक्तियों को खोजा है और उसकी अनुरूपता में साहित्य के इतिहास और उसकी गतिविधि का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है।

आलोचना के क्षेत्र में जिस समय द्विवेदी जी का आविर्भाव हुआ, उस समय एक ओर शुक्ल जी की समीक्षा पद्धति चल रही थी जो लोकमंगल की भावना से अनुप्रेरित होते हुये भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में पुनरुत्थान-वादी बनकर रह गई। एक दूसरी धारा का भी प्रवाह उस समय चल रहा था, जो कला को परखने के व्यक्तमूलक सिद्धान्त को लेकर चल रही थी, और जो रोमानी और प्रभाववादी दृष्टिकोण (romantic and impressionist) की समीक्षा थी। एक तीसरी धारा भी थी जो अभिव्यक्ति (expression) को ही सब कुछ मानकर चलती थी और जो 'कला-कला के लिये, सिद्धान्त से प्रभावित थी, इसी का विकृत या विकसित जो कुछ भी माना जाय, रूप आज हम प्रयोगवाद में देख रहे हैं। एक चौथी धारा भी जन्म ले रही थी, जिसे आज प्रगतिवादी धारा कहा जाता है। द्विवेदी जी इस अन्तिम धारा के ही सब से अधिक निकट हैं।

(२६)

नन्ददुलारे बाजपेयी

बाजपेयी जी हिन्दी के एक समर्थ आलोचक हैं। आपकी आलोचना में भारतीय रस सिद्धान्त का पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्तों के साथ भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप समन्वय है। आपने शुक्लजी की आलोचना को आधार बनाकर उसमें उपेक्षित अंगों की पूर्ति करने का प्रयास किया है, और शुक्लजी की नीतिवादी, तथ्यातथ्य निरूपक पद्धति के साथ भावात्मक शैली का विकास किया है। आपकी आलोचना अपेक्षतः अधिक व्यापक, पूर्व आग्रहों से मुक्त और उदार होती है। आपने सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर साहित्य को उसकी सामाजिक प्रयोजनीयता की दृष्टि से परखा है। इस परख दृष्टि में उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों के समयानुकूल तथा भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप तत्वों को ग्रहण कर साहित्य की परख से मानव की स्थापना की।

आपने अधिकाँश: प्रयोगात्मक आलोचना ही की है। उस प्रयोगात्मक आलोचना के प्रसंग में ही यथास्थान सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। आपने शुक्लजी के लोकमंगल की भावना को भी ग्रहण किया है।

गम्भीरतम विषयों को तथा सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता आपकी भाषा शैली में है। इसीलिये आपकी आलोचना में साहित्य के प्रबुद्ध विद्यार्थी और तत्वचिन्तक दोनों के लिए विचार सामग्री होती है।

---

(२७)

डा० सत्येन्द्र

उदार सामाजिक दृष्टिकोण को आधार बना कर सामाजिक गति-विधि की अनुकूलता में साहित्य की व्यावहारिक परख करना डाक्टर सत्येन्द्र की आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है। डाक्टर सत्येन्द्र ने प्रयोगात्मक, व्याख्यात्मक, शिक्षोपयोगी आलोचनाएँ अधिक लिखी हैं। सूर-साहित्य पर आपका अध्ययन विशेष रूप से गहरा है। विषय को गहराई में जाकर परखना और उसके गुण-दोषों का विवेचन करना तथा वस्तु के जन-जीवन पर प्रभाव की परख करना आपकी विशेषता है।

आपकी भाषा भावों के अनुरूप चलती है, वाक्य रचना सुगढ़, स्पष्ट और प्रांजल होती है। स्पष्टता, विषय प्रतिपदिन की तर्क पूर्णता तथा सुबोधता आपकी शैली-गत विशेषताएँ हैं।

(२८)

शिवदानसिंह चौहान

चौहान हिन्दी में मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित आलोचना पद्धति के प्रवर्तक हैं। उन्होंने मार्क्सीय आलोचना सिद्धान्तों को हिन्दी साहित्य की गतिविधि और परम्परा तथा भारतीय साहित्य परम्परा की अनुरूपता में सन्तुलित कर उनका प्रवर्तन किया है, जिससे कुछ अन्य मार्क्सीय आलोचकों की भाँति उनके आलोचना-मान विदेशी नहीं जान पड़ते, वरन् साहित्य के निर्माण-प्रेरक सिद्ध होते हैं।

उन्होंने एक ओर जहाँ साहित्य की गतानुगत रूढ़िवादी धारा का सैद्धान्तिक विरोध किया है, वहीं नयी आलोचना में आने वाले गलत रुझानों—कुत्सित, व्यक्तिवादी, आक्षेपपूर्ण आलोचना का भी सैद्धान्तिक विरोध किया है और उसे एक सही मार्ग दिखाने का प्रयास किया है। किन्तु जहाँ कहीं वे भावुकता में आ जाते हैं, वहाँ रचना के गुण दोषों का विवेचन सन्तुलित नहीं रह पाता और रचना पर उनकी स्पष्ट सम्मति समझना कठिन हो जाता है।

आपकी भाषा-शैली क्लिष्ट है। वाक्य लम्बे होते हैं, भाषा संस्कृत गर्भित है किन्तु भावों में उलझन और दुरुहता नहीं होती; किन्तु सार में सैद्धान्तिक बात कहने से उसमें उलझन कहीं कहीं रह जाती है। शिवदानसिंह ने अभी तक बहुत थोड़ा लिखा है और जो कुछ भी लिखा है फुटकर लेखों के रूप में ही लिखा है, किन्तु जो भी लिखा है उसमें गहराई है और है एक निर्माणात्मक प्रेरणा। इसी कारण प्रगतिशील आलोचकों में उनका महत्व सबसे अधिक है और उनकी आलोचनाओं में एक शक्ति होती है। हर बात नाप-तौल कर गम्भीरता के साथ कहना आपकी विशेषता है। आपकी आलोचना को हम सैद्धान्तिक आलोचना-पद्धति कह सकते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल से अनेक बातों में असहमत होते हुए भी शिवदानसिंह की आलोचना को गम्भीरता में शुक्लजी की आलोचना के समान मान सकते हैं।

मंजाहट आपकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा में एक अर्थ गाम्भीर्य और दृढ़ता होती है। भाषा क्लिष्ट होते हुए भी प्रवाहशील होती है। आलोचना सैद्धान्तिक होते हुए भी पाठक तथा रचनाकार के हृदयों को स्पर्श एवं प्रभावित करने की क्षमता रखती है। उसमें सैद्धान्तिक आधार

पर ही भावुकता का अपूर्व समन्वय होता है। इसीसे वह निर्माणात्मक प्रेरणा-दायक सिद्ध होती है।

आपके आलोचनात्मक निबन्धों के दो संग्रह—'प्रगतिवाद' और 'साहित्य की परख' और 'हिन्दी गद्य साहित्य' गद्य साहित्य के विकास पर एक विवेचनात्मक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।

---

(२६)

डा० रामविलास शर्मा

डा० रामविलास शर्मा समर्थ प्रगतिशील आलोचक हैं। आपकी आलोचना कट्टर रूप से मार्क्सवादी आलोचना सिद्धान्तों तथा कम्यूनिस्ट पार्टी के निर्णयों को मानकर चलती है। आपने मार्क्सीय आलोचना सिद्धान्तों को हिन्दी साहित्य पर यान्त्रिक रूप से उसकी अपनी परम्परा से अलग हट कर घटाया है, इस कारण उसमें कहीं-कहीं संकीर्णता का तत्व आ गया है, और उसमें आदेशात्मक तथा निर्णयात्मक स्वर अधिक मुखरित है। शर्माजी किसी रचना की आलोचना स्थापित मान्य मानदण्डों के आधार पर सैद्धान्तिक स्तर पर कम करते हैं वरन् रचना को रचनाकार के व्यक्तित्व तथा उसके व्यक्तिगत जीवन की पृष्ठभूमि के प्रकाश में ही करके उस पर अपना निर्णय दे देते हैं। लेखक में विकास अथवा सुधार की सम्भावनाओं को आपकी आलोचना उतना उभाड़ती नहीं जितना कुंठित करती है। उसमें निर्माणात्मक स्वर नहीं होता है; निर्णयात्मक स्वर ही होता है, और होता है एक तीखा सा प्रहार, जो सैद्धान्तिक कम व्यक्तिगत अधिक होता है। इस प्रकार आपकी आलोचना निर्णयात्मक और प्रहारात्मक होती है।

आपके स्थापित प्रगतिशील आलोचना तथा साहित्य के मानदण्डों में स्थायित्व नहीं है। वह राजनीति के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। आपके सिद्धान्तों में इसी कारण परस्पर विरोध भी उत्पन्न हो गया है। सोवियत और चीन के सिद्धान्तों का अन्धानुकरण कर उसे आपने हिन्दी साहित्य पर घटित करने का प्रयास किया है जिसके कारण आलोचना क्षेत्र में अनेक उलझनों का सृजन हो गया है।

भाषा आपने सरल अपनाई है, शैली में प्रचारात्मकता है। छोटी सी बात को बढ़ाकर और दुरुह बात को सरल रूप में प्रस्तुत करने की शक्ति

आपकी भाषा शैली में अपार है। आपकी आलोचना में प्रगतिशील साहित्य, जन साहित्य तथा क्रान्तिकारी साहित्य की दुहाई बहुत है, उसकी ठोस आधार भूमि और सही दिशा निर्देश नहीं है। आपकी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं—'भाषा और संस्कृति', 'साहित्य और संस्कृति', 'प्रगति और परम्परा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', 'भारतेन्दु युग', 'प्रेमचन्द', और 'निराला'।

---

(३०)

नलिन विलोचन शर्मा

आप पर पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का प्रभाव अधिक है। आपका दृष्टिकोण व्यापक, स्थिर और उदार है। आपने भी प्रयोगात्मक और व्यंग्यात्मक आलोचनाएँ ही अधिकांशतः लिखी हैं। सिद्धान्तों का प्रतिपादन मौलिक रूप से आपकी रचनाओं में नहीं मिलता किन्तु बीच-बीच में अपने तर्कों के प्रभाव के हेतु उद्धरण देते चलना आपकी एक विशेषता है। भाषा आलोच्य विषय के अनुरूप, सरल और गम्भीर है। विचारों में अधिक सरलता नहीं तो दूरूहता भी नहीं है।

---

(३१)

डा० रांगेय राघव

डा० रांगेयराघव एक मार्क्सवादी आलोचक हैं। आपने प्रगतिवादी समीक्षा-धारा की संकीर्ण मतवादिता के विरुद्ध समीक्षा के व्यापक, अपेक्षतया उदार मानदण्डों का प्रतिपादन किया है। प्राचीन भारतीय समीक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोणों की नयी व्याख्या, प्रगतिशील साहित्य के निर्माण की कसौटियों तथा उसकी आलोचना के मानदण्डों एवं प्राचीन तथा अन्य विचारधारा के साहित्य को प्रगतिवादी दृष्टिकोण से परखने के सिद्धान्तों की स्थापना आपके महत्वपूर्ण समीक्षा सम्बन्धी कार्य हैं।

जितनी आपके विचारों में स्पष्टता है उतनी स्पष्टता भाषा में नहीं है। भाषा से ऐसा प्रतीत होता है मानो आलोचक हर व्यापक नयी बात, पहले से प्रथक, कहना चाहता है। इससे कहीं-कहीं वाक्यों में सम्बन्ध टूटा सा प्रतीत होता है।

---

(३२)

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

आपने परिचयात्मक और प्रयोगात्मक तथा व्यंग्यात्मक आलोचनाओं का सृजन किया है। आपकी आलोचनाओं में स्थापित मान-मूल्यों के आधार पर रचनाओं और रचनाकारों के गुण दोषों की व्याख्या मिलती है। शिल्पोपयोगी तत्व भी आपकी आलोचना में मिलते हैं। 'हिन्दी गद्य-शैली का विकास'', "हिन्दी गद्य के निर्माता" और "प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन" आपकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

आपकी भाषा शुद्ध होते हुए भी दुरूह नहीं होती, वाक्य छोटे और सुगढ़ होते हैं। सुबोधता और सरलता शैली-गत विशेषताएँ हैं।

---

(३३)

प्रभाकर माचवे

आप एक स्वतंत्र चिन्तन प्रधान निबन्ध लेखक और आलोचक हैं। आपकी रचनाओं में साहित्य, कला, दर्शन और चिन्तन का सुन्दर मिश्रण है। गम्भीर विषय भी आपके हाथों सरस और सजीव बन जाता है। आपकी रचनाओं में आपका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है।

आलोचक के रूप में आप एक स्वतंत्र चिन्तक हैं और साहित्य की गति-विधि तथा उसके मान-मूल्यों पर आपने स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन कर कुछ नई स्थापनायें करने का प्रयास किया है, जो पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों से अनुप्राणित होते हुये भी भारतीय हैं। आप हिन्दी के अतिरिक्त अंगरेज़ी, मराठी तथा अन्य देशीय भाषाओं के सुन्दर जानकार हैं, इसीलिए आपकी आलोचनाओं में एक तुलनात्मक अध्ययन दीख पड़ता है। 'सन्तुलन' नाम से आपके मौलिक विचार की एक समीक्षात्मक पुस्तक अभी हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

निबन्धकार के रूप में आप विचारक और व्यंग्यकार हैं। आपके निबन्धों का संग्रह 'खरगोश के सींग' तथा 'कुहिचातन' के नाम से प्रकाशित हुये हैं। 'कुत्ते की डायरी', 'सन्देश बटोरक', 'पत्नी सेवक संघ' आदि निबन्धों में व्यंग की चुटकियों के बीच मानव जीवन की स्वाभाविक सहज अनुभूतियों का संवेदनशील चित्रण है। आपने कुछ शुद्ध मनोरंजक निबन्धों का सृजन

भी किया है, जो प्रताप नारायण मिश्र की शैली की बरबस याद दिलाते हैं, जैसे 'गला', 'मुंह', 'पूंछ', 'छाता', 'गाली', 'घूस', 'खुशामद' और 'बिल्ली' आदि।

आपकी भाषा-शैली के दो रूप मिलते हैं—एक तो व्यंग प्रधान, चलताऊ, बोल-चाल की भाषा और दूसरा शुद्ध तत्सम्प्रधान भाषा का रूप है। काव्य की सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता को आपने गद्य में भी सजीव बना दिया है। भाषा का तत्सम रूप होते हुये भी यत्रतत्र आवश्यकतानुरूप अंगरेजी के शब्दों का प्रयोग भी आपने किया है। आपके विवेचन में एक स्पष्टता, हृदयग्राही आग्रह और विचारोत्तेजकता होती है।

---

(३४)

यशपाल

यशपाल हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी विचार धारा के अग्रगामी लेखक हैं। आपने उपन्यास और कहानियों के अतिरिक्त सुन्दर निबंध भी लिखे हैं। आपके यह निबन्ध अधिकांशतः 'विप्लव' मासिक के सम्पादन काल की रचनायें हैं। 'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष', 'मार्क्सवाद', 'गांधीवाद की शव परीक्षा', 'देखा, सोचा, समझा', 'बात बात में बात', और 'राम राज्य की कथा' आपके निबन्ध संग्रह हैं। व्यंग आपके निबन्धों के प्राण हैं। व्यंगों में प्रयोजनशीलता होती है और वे समाज की सड़ी-गली व्यवस्था पर तीखी चोट करते हैं और नये समाज के निर्माण की बुनियाद डालते हैं। आपने समाज, राजनीति, संस्कृति, धर्म, साहित्य, कला आदि अनेक विषयों की गतानुगतता को अपने प्रहारों का लक्ष्य बनाया है और एक नई प्रगतिशील दृष्टि से समाज और जनजीवन की समस्याओं को सुलझाने का मार्ग दिखलाया है।

यशपाल के प्रायः सभी निबन्ध विचारात्मक हैं। विवरणात्मक निबन्धों जैसे 'देखा, सोचा, समझा' में भी विचार की ही प्रधानता है। विचार का गम्भीर विवेचन होते हुये भी आपके निबन्धों में आत्मीयता, ऐसी आत्मीयता जो पाठक को अपने बांध लेती है होती है।

आपकी की शैली की विशेषता है—गम्भीर, गूढ़ और गहन विचारों को सरल स्पष्ट रूप में करना, जिसे साधारण जन-समाज भी जान समझ सके।

आपकी भाषा सुथरी और परिष्कृत है। उसमें बोल चाल का व्यावहारिक रूप पाया जाता है। उर्दू और अंगरेजी के चलताऊ शब्दों का भी आपने खुलकर प्रयोग किया है। अंगरेजी के कुछ पारिभाषिक शब्दों का भी आपने हिन्दी में अनुवाद किया है।

---

(३५)

डा० देवराज

डाक्टर देवराज एक स्वतंत्र चेता और गंभीर आलोचक हैं। दर्शन का प्रभाव आपकी आलोचनाओं पर विशेष रूप से होता है। आपने वादों से ऊपर उठकर तटस्थ-दृष्टि से तत्व चिन्तन का प्रयास किया है। किन्तु विचारों की उलझन को फिर भी सुलझा नहीं पाए हैं। आपने साहित्य के मौलिक प्रश्नों को नए रूप में उठाने का प्रयास किया है।

आपकी शैली संस्कृत के शब्दों से लदी हुई होती है। लेखों में दुरूहता का कारण विचारों की गंभीरता न होकर प्रायः भाषा की कठिनता होती है।

---

(३६)

राहुल सांकृत्यायन

राहुलजी का जीवन एक घुमक्कड़ का जीवन है। इसीलिये आपकी रचनाओं में जीवन के विविध अनुभव और विभिन्न स्थानों का परिचयात्मक ज्ञान संचित है। आपके निबन्ध अपनी इसी विशेषता के लिये प्रसिद्ध हैं। उनसे हमें जीवन के विविध पहलुओं, विविध अनुभवों, विविध स्थानों की संस्कृतियों आदि के दर्शन हो जाते हैं। उनमें दर्शन से लेकर जीवन के सामान्य विषयों तक का समावेश है। 'साहित्य निबन्धावली' नाम से आपके निबन्धों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। आपने भाषा, साहित्य और जनपदीय साहित्य आदि साहित्यिक विषयों पर भी सैद्धान्तिक समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। आपकी भाषा सरल, बोधगम्य, और प्रभावशाली होती है।

---

(३७)

इलाचन्द्र जोशी

जोशीजी अपने उपन्यासों तथा कहानियों में फ्रायडवादी मनोविश्लेषण के लिये प्रसिद्ध हैं । यही बात आपके निबन्धों के विषय में भी सत्य है । जोशी जी ने शुद्ध निबन्ध तथा साहित्यिक समीक्षायें दोनों प्रकार की लिखी हैं । आपकी दृष्टि में पैनी पकड़ है, और आप निबन्ध के तथा आलोचना के विषय का मानव हृदय के साथ सम्पर्क स्थापित कर देने में बड़े पटु हैं। आपके निबन्ध और समीक्षायें विचारात्मक और विवेचनात्मक हैं ।

आपकी भाषा शैली सरल, सजीव और सुघड़ है ।

---

(३८)

सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण गुप्त हिन्दी के भावात्मक गद्य लेखकों में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं । आपने मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं पर मनुष्य में लोक-कल्याण की भावना के उत्प्रेरक अनेक निवन्ध लिखे हैं। निबन्ध लेखक से पहिले आप एक कवि हैं । यह सत्य आपके निबन्धों में बोलता है । इस काव्यमयी भावुकता से सिक्त उपदेश आपके निबन्धों में अपनी धार्मिक संवेदनीय व्यंजना को लिये हुये आया है, जो बर्बस पाठक में लेखक के प्रति श्रद्धा और अपने में एक अडिग विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता रखता है । काव्य के प्रभाव से आपकी भाषा में भी माधुर्य आ गया है । आपके निबन्धों में चांदनी की शीतलता है जो उद्विग्न मानव हृदय को सुख और शान्ति प्रदान करता है ।

आपकी भाषा सरल, बोधगम्य और कला की दृष्टि से सुन्दर है ।

---

(३९)

रामप्रसाद विद्यार्थी रावी'

रावी जी हिन्दी में अपनी लघु प्रतीकात्मक कथाओं के लिये प्रसिद्ध हैं । आपके गद्य में गद्यगीत का सा प्रवाह और माधुर्य है। आपने अपनी इसी

शैली में 'पूजा' और 'शुभ्रा' का सृजन किया है। यह निबन्ध न होकर गद्य-गीत ही अधिक हैं। इनमें हृदय की झंकार है और बुद्धि चिन्तन का सुसामंजस्य है। 'नई दुनिया', 'नया प्रश्न', 'मेरी सुनिये अपनी सोचिए' आपके निबन्ध संग्रह हैं। इनको भावात्मक निबन्धों की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। भावात्मक गद्यगीत-पूर्ण शैली में लिखे होने पर भी उनमें प्रलाप नहीं है, वरन् कर्मक्षेत्र की कर्मण्यता की ओर बढ़ने के लिए मानव को एक इंगित है। स्वयं प्रश्न कर और स्वयं ही उत्तर देकर अपने निबन्धों में आपने एक अनुपम निजीपन और पाठक की हृदयग्राहिता की शक्ति उत्पन्न करदी है। आपकी भाषा बड़ी ही सीधी-साधी और सरल किन्तु साहित्यिक रूप से परिमार्जित होती है।

---

(४०)

रामधारीसिंह 'दिनकर'

आप हिन्दी के उपराष्ट्र कवि माने जाते हैं, किन्तु गद्यक्षेत्र में भी आपकी प्रतिभा का परिचय मिला है। आपके दो निबन्ध संग्रह 'अर्ध नारीश्वर' और 'मिट्टी की ओर' हिन्दी गद्य साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना चुके हैं। आपका कवि आपके निबन्धकार पर हावी है। उसमें निबन्धकार की तर्क-शीलता नहीं, भावना का आवेश है। विचार भावुकता की लपेट में आ खो से गये हैं। आपकी भावुकता ने आपके निबन्धों की भाषा में एक नया प्राण डाल दिया है और उसमें एक अपूर्व स्निग्धता, संवेदनीयता और मार्मिक व्यंजना के साथ सरल, बोधगम्यता का गुण आ गया है।

भाग ४

हिन्दी कथा साहित्य—उपन्यास एवं कहानी

हिन्दी उपन्यास

भारत में कथा साहित्य की परम्परा बड़ी प्राचीन है। साहित्य के इस अंग का शास्त्रीय विवेचन भी विद्वानों ने किया है और इसके दो विभाग किए हैं—उपाख्यान तथा कथा साहित्य। प्राचीन कथा साहित्य में संस्कृत का दंडी का 'दशकुमार चरित', बाण की 'कादम्बरी' तथा प्राकृत की बृहत्कथा के संस्कृत रूपान्तर आदि प्रसिद्ध हैं। कथा साहित्य की यह परम्परा निरन्तर रूप से न चल सकी और जब भारतेन्दु के समय गद्य साहित्य का उद्भव हुआ उस समय जिस प्रकार संस्कृत के नाटक साहित्य ने हिन्दी नाटकों की कला-संवार में आधारभूत प्रेरणा का काम दिया उस प्रकार संस्कृत का कथा साहित्य हिन्दी उपन्यासों का प्रेरणा-स्रोत न बन सका। उसके प्रेरणा-स्रोत पर संस्कृत कथा साहित्य की अपेक्षा पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य का प्रभाव अधिक पड़ा। किन्तु इधर कुछ उपन्यासकार पुनरुत्थान के आवेश में संस्कृत कथा साहित्य का अनुकरण करने का प्रयास कर रहे हैं। चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास 'वैशाली की नगर बधू' कादम्बरी की प्रेरणा से लिखा गया जान पड़ता है। कुछ अन्य उपन्यासों में भी भाषा तथा चित्रण आदि में जहाँ तहाँ संस्कृत कथा साहित्य की झलक मिल जाती है—जैसे चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' के उपन्यासों में।

जिस समय हमारा देश पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सम्पर्क में आकर राष्ट्रीय जागरण के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर हो रहा था, उस समय बंगला तथा सीधे अंगरेजी साहित्य से हमारे यहां उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात्र हुआ। किन्तु आरम्भ से ही हिन्दी उपन्यासों ने बाह्य साहित्यिक प्रभावों से सर्वथा स्वतंत्र रूप में अपने उपन्यास साहित्य का विकास किया है, केवल उनसे प्रेरणा अवश्य ली गई। अंगरेजी उपन्यास साहित्य की अपेक्षा हिन्दी उपन्यास साहित्य बंगला उपन्यास साहित्य का अधिक ऋणी है। भारतेन्दु तथा उनके अन्य तत्कालीन लेखकों ने अनेक बंगला तथा मराठी उपन्यासों को अनुवाद किया था। उस समय मौलिक उपन्यासों की परम्परा का विकास नहीं हो पाया था। भारतेन्दु एक सचेतन और जागरुक कलाकार थे, इसलिये उपन्यास साहित्य की शक्ति को उन्होंने पहचाना था। किन्तु साहित्य के इस अंग का अधिक पोषण वे नहीं कर पाये थे। उन्होंने 'कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' मौलिक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था। किन्तु उसे पूरा न कर सके। उनके जीवन काल में ही लाला श्री निवासदास कृत

'परीक्षा गुरु' (१८८२) हिन्दी का प्रथम और पूर्ण मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुआ। इसके बाद रत्नचन्द ने 'नूतन चरित्र', (१८८३), बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन बृह्मचारी', (१८८६) और 'सौ अजान और एक सुजान" (१८९२) राधाचरण गोस्वामी और देवीप्रसाद शर्मा ने 'विधवा विपत्ति', (१८८६), किशोरीलाल गोस्वामी ने 'लवंगलता', 'कुसुम कुमारी', (१८९०), राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिन्दू', (१८९०), देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' (१८९१), गोपालराम गहमरी ने 'नये बाबू' (१८९४), 'सास पतोहू', और 'बड़ा भाई' (१८९८) और लज्जाराम मेहता ने 'धूर्तरसिकलाल', 'स्वतंत्ररमा' और 'परतंत्र लक्ष्मी' आदि उपन्यास लिखे। इन सब उपन्यासों को विषय और शैली की दृष्टि से दो वर्गों में बांटा जा सकता है—आचार, धर्म, नीति, समाज सुधार आदि की भावना से प्रेरित सामाजिक उपन्यास, जिनमें उपदेश का स्वर अधिक प्रखर है; या केवल मनोरंजन और मनोविनोद के लिये लिखे गये तिलस्मी और ऐय्यारी के उपन्यास। चूंकि वह युग नये नैतिक मूल्यों के स्थापन के संचेत प्रयास का था। अस्तु, सभी साहित्यिक कृतियों की भाँति उपन्यासों में भी नैतिकता और उपदेश का चित्रण है। यहाँ तक कि देवकीनन्दन खत्री ने अपने तिलस्मी उपन्यासों को भी नैतिक उपदेश प्रद सिद्ध किया है। प्रथम वर्ग के उपन्यासों में तत्कालीन परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार जीवन के नये मानदड, मान-मूल्यों, पुरानी भारतीय सामन्ती व्यवस्था तथा साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के संयोग से उत्पन्न जीवन की नई समस्याओं तथा पाश्चात्य सभ्यता से उत्पन्न जीवन विकृतियों और तत्कालीन परिस्थितियों की निसर्ग भूमिका में नये चरित्रगत आदर्शों का समावेश मिलता है। दूसरे वर्ग के उपन्यासों में कल्पित राजवर्ग और उससे सम्बन्धित चरित्रों को लेकर तिलस्मी, ऐय्यारी और जासूसी से भरी रोमांचक घटनाओं का समावेश है। ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रेमाख्यानक और तिलस्मी विषय वस्तु को लेकर उपन्यास इस युग में लिखे गये। देवकीनन्दन खत्री की परम्परा को लेकर जिन लेखकों ने उपन्यास लिखे उनमें से परिगणनीय हैं—देवीप्रसाद शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, किशोरीलाल गोस्वामी, हरेकृष्ण जौहर, बालमुकुन्द वर्मा, मदन-मोहन पाठक, विशेश्वरप्रसाद वर्मा, रामलाल वर्मा, चतुर्भुज औदीच्य, चन्द्रशेखर पाठक, गोपालराम गहमरी, रुद्रदत्त शर्मा, जयरामदास गुप्त, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, जंगबहादुरसिंह। इन्होंने रोमांचकारी घटनापूर्ण उपन्यासों का प्रचुर मात्रा में सृजन किया है। इस युग में जो ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे गये उनके शिल्पगठन और कथा-विन्यास पर तिलस्मी

उपन्यासों का गहरा प्रभाव था, उनमें ऐतिहासिकता नाम मात्र की होती थी। इस प्रभाव को लेकर चलने वाले उपन्यासकार हैं—किशोरीलाल गोस्वामी, बल्देवप्रसाद मिश्र, रामप्रताप शर्मा 'नरदेव', बृजनन्दन सहाय, तथा मिश्र बन्धु। बृजनन्दन सहाय का 'लाल चीन' और मिश्र बन्धुओं का 'वीरमणि' उल्लेखनीय है। यह दौर हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द के आगमन तक चलता रहा। इस दौर के उपन्यासों का साहित्यिक महत्व नगण्य है। किन्तु यह सत्य है कि इस काल के उपन्यास मनोरंजक और लोक-प्रिय बनकर यथासाध्यरूप से जन-जीवन के सत्य के उद्घाटक बनने का प्रयास कर रहे थे।

प्रेमचन्द का 'सेवासदन' (१९१८) हिन्दी का सर्व प्रथम सामाजिक संघर्ष पर आधारित सचेतन और कलापूर्ण उपन्यास है। यह हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास पथ का दूसरा मील स्तम्भ है, जहाँ से उपन्यास साहित्य का दूसरा चरण आरम्भ होता है।

पिछले दौर में मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अन्य भाषाओं से उपन्यासों का अनुवाद भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है, विशेषकर बंगला गुजराती मराठी उपन्यासों का।

प्रेमचन्द तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना की जागरूकता लेकर उपन्यास क्षेत्र में आये और उन्होंने निम्नवर्ग, मध्यमवर्ग, किसानवर्ग और मजदूर वर्ग के जीवन की विषम समस्याओं सामाजिक और राजनीतिक वैषम्यों का कलापूर्ण चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। आरम्भ में उनकी कला आदर्शवादी हैं, लेकिन 'प्रेमा' से लेकर 'गोदान' तक वे क्रमशः आदर्शवाद से यथार्थवाद तक की ओर बढ़ते दीख पड़ते हैं। प्रेमचन्द सब से पहिले उपन्यासकार हैं जिन्होंने बड़ी सजगता के साथ मानव के चारित्रिक वैषम्यों तथा अन्तर्विरोधों का घटनाओं के पारस्परिक संघात तथा परिस्थितियों के अन्तर्विरोधों के साथ दोहन-मन्थन करके मानव की महान और उदात्त मानवीय भावनाओं का चित्रण किया है। उनके उपन्यासों में मानव धरती की तह को फोड़ते हुए अंकुर के समान विकास करता है, जो निरन्तर सामाजिक अन्ध विश्वासों और कुरीतियों गतानुगत रीतियों और रुढ़ियों तथा मानसिक शैथिल्य और गुलामी की भावनाओं की परतों को तोड़ता हुआ नये मानव के रूप में अंकुरित होता दीख पड़ता है।

प्रेमचन्द के प्रभाव को ग्रहण कर अनेक नये उपन्यासकार क्षेत्र में आये और हिन्दी उपन्यास साहित्य एक नई उमंग के साथ विकास पथ पर अग्रसर हो चला।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में व्यापक जीवन, जिसमें ग्राम और नगर अभिजात्य वर्ग और निम्नवर्ग सब शामिल है, का चित्रण किया है, पर जैनेन्द्र ने मध्यमवर्ग के व्यक्ति विशेषों के मानसिक द्वन्द्वों और मनोगत अन्तरविरोधों का ही शरत की परम्परा में चित्रण किया है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथानक और घटनाओं का समावेश कम; मनोगत भावों का चित्रण अधिक होता है। उनमें व्यक्ति को समझने-परखने का प्रयास अधिक है। उग्र ने सामाजिक जघन्यताओं, विरूपताओं और कुत्साओं का नग्न चित्रण प्रस्तुत किया है जिनमें मर्यादा-अमर्यादा का सन्तुलन प्रायः नहीं रह पाता। 'उग्र' की नग्न चित्रण की परम्परा में ही फ्रायडवादी मनोविज्ञान के सिद्धान्त पर इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा आदि ने मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों का सृजन किया है, जिसमें व्यक्ति के अन्तर के उद्घाटन में अस्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया गया है। इस परम्परा के उपन्यासों में मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्तियों की रुग्ण मनोवृत्तियों का चित्रण है। इसी परम्परा में और आगे बढ़कर मानव कुत्साओं का तथा विकृत और असाधारण मनोवृत्तियों के रोगी पात्र के रोग—इतिहास का चित्रण प्रस्तुत करता हुआ 'घेरे के बाहर' उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसके अस्वस्थ प्रभाव के कारण एक प्रान्तीय सरकार को उस पर पाबन्दी लगानी पड़ी। इस परम्परा के उपन्यास मनुष्य की क्षणिक वासना का उद्रेक भर करते है, उसमें स्वस्थ भावों का संचार नहीं कर पाते।

इस युग के उपन्यासकारों और उपन्यासों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—बृजनन्दनसहाय ('सौंदर्योपासक', १६१६), जयशंकर प्रसाद ('कंकाल', 'तितली', 'इरावती-अपूर्ण',), अवधनारायण ('विमाता', १६२३), शिवपूजन सहाय ('देहाती दुनिया', १६२५), चतुरसेन शास्त्री ('हृदय की परख', 'व्यभिचार', 'अमर अभिलाषा', 'आत्मदाह', 'नीलमती', 'वैशाली की नगर-बधू' आदि), 'विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ('माँ', 'भिखारिणी'), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ('दिल्ली का दलाल', 'चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधुआ की बेटी', 'शराबी', 'घंटा', 'सरकार तुम्हारी आंखों में',), चन्डीप्रसाद 'हृदयेश' ('मनोरमा', 'मंगलप्रभात'), प्रतापनारायण श्रीवास्तव ('विदा'), राधिकारमणप्रसाद सिंह ('तरंग', 'राम-रहीम', 'पुरुष और नारी' आदि), मन्नन द्विवेदी ('रामलाल' और 'कल्याणी'), जी० पी० श्रीवास्तव ('गंगा जमुनी', 'दिल जले की आह'), वृन्दावनलाल वर्मा ('गढ़ कुन्ढार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कुंडली चक्र', 'महारानी लक्ष्मी बाई', 'मृगनयनी' आदि), भगवतीप्रसाद बाजपेयी ('मीठी चुटकी' १६२७, 'अनाथ पत्नी', 'त्यागमयी', 'प्रेम-विवाह', 'पतिता की साधना', 'दो बहिनें',

'निमन्त्रण', 'चलते-चलते' आदि), कृपानाथ मिश्र ('व्यास' १९३८), जैनेन्द्रकुमार ('परख', 'सुनीता', 'त्याग पत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत'), इलाचन्द्र जोशी ('घृणामयी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'संन्यासी', 'निर्वासित' और 'मुक्ति पथ' आदि), गोविन्द बल्लभ पन्त ('प्रतिभा'; 'मदारी', 'प्रगति की राह' आदि), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ('अप्सरा' १९३१, 'अलका', 'लीली', 'निरूपमा', 'प्रभावती', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'कुल्लीभाट', 'चोटी की पकड़') ।

प्रेमचन्द्र तक के उपन्यास साहित्य में विकास की प्रवृतियों को तीन रूपों में समझा जा सकता है । (१) कुछ उपन्यासकारों ने मानव जीवन की समस्याओं को समाज की भूमिका में रखकर परखा और व्यापक सामाजिक और उभरती राजनीतिक चेतना के प्रसंग में मनुष्य की चारित्रिक विषमताओं तथा सामाजिक वैषम्यों और मनुष्य के राज्य तथा समाज के सम्पर्क की क्रिया प्रतिक्रिया के सजग चित्रण के द्वारा जन-जीवन के यथार्थ रूप का व्यापक और मानवीय स्वरूप दिग्दर्शित किया है । (२) कुछ उपन्यासकारों ने फ्रायड के मनोविश्लेषण के आधार पर रुग्ण चरित्रों का चित्रण भर प्रस्तुत किया है । (३) तथा तीसरे प्रकार के उपन्यासकारों ने मनुष्य के सामाजिक जीवन की विषमताओं को साम्राज्य विरोधी राजनैतिक संघर्ष के प्रसंग में चित्रित किया है ।

हिन्दी उपन्यासों में ऐतिहासिक उपन्यासों की भी एक धारा का विकास हुआ है । ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने वर्तमान की परिस्थितियों तथा संघर्षों के लिए आदर्श स्वरूप इतिहास के पृष्ठों से कथाओं एवं पात्रों को चयन किया है । ऐतिहासिक उपन्यासों के सृजन में उनकी दृष्टि सदैव वर्तमान के संघर्षों और समस्याओं पर रही है । वृन्दावनलाल वर्मा की 'झाँसी की रानी' उपन्यास देश की आजादी पर बलिदान हो जाने की कहानी है । रांगेय-राघव के ऐतिहासिक उपन्यासों में आज की वर्ग चेतना की आदिम परम्परा खोजने का प्रयास है । 'प्रतिदान' में भील बालक 'एक लव्य' निम्न वर्ग का होने के कारण द्रोण द्वारा वाण विद्या की शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाता है पर अपने अध्यवसाय से उसे प्राप्त कर लेता है और अर्जुन से भी बड़ा धनुर्धारी बन जाता है । पर अभिजात्य वर्गीय अर्जुन द्रोण से उसका दाहिने हाथ का अगूँठा दान में मंगवा लेता है ताकि वह निम्न जाति का होकर उससे बढ़कर न हो सके । निम्न वर्ग के साथ यह व्यवहार वर्तमान समाज की एक समस्या है और निम्न वर्ग अपने अधिकारों के प्रति संचेत हो संघर्ष में रत है । भगवतशरण उपाध्याय के तथा राहुल सांकृत्यायन के

ऐतिहासिक उपन्यासों में भी यही चेतना चित्रित हुई है। ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्बन्ध में कुछ आलोचकों का मत है कि लेखक जब वर्तमान की समस्याओं से कथानक चुनने में असमर्थ हो जाता है तो इतिहास के पृष्ठों में अतीत की ओर पलायन करता है और यह उपन्यासकार की शक्ति हीनता, जागरुकता के अभाव तथा पलायनवादी प्रवृत्ति का द्योतक है। यह मानना नितान्त गलत है। उपन्यासकार सजग संचेत दृष्टि से इतिहास से कथानकों और पात्रों का चयन करता है। वह वर्तमान संघर्षों से पलायन नहीं करता, वरन् इतिहास की संघर्षशील परम्परा के प्रसंग में वर्तमान समस्याओं और उनसे संघर्षों को उपस्थित कर उन्हें और भी तीव्र करने का प्रयास करता है।

हिन्दी के माने जाँचे ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं—वृन्दावनलाल वर्मा, रांगेयराघव, यशपाल, राहुल, भगवतशरण उपाध्याय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, आदि।

प्रेमचन्द के बाद।प्रगतिवादी चेतना को लेकर अनेक उपन्यासकारों का जन्म हुआ, जिन्होंने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे विकसित किया और मजदूर किसानों तथा निम्न वर्ग के संघर्ष को अपने उपन्यासों की कथा-वस्तु बनाया। आज उस चेतना को लेकर चलने वाले उपन्यास लेखकों में हैं—यशपाल, कृष्णचन्द्र, अश्क, नागार्जुन, रांगेय राघव, श्रीकृष्णदास आदि। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा भी आज पूर्ण रूप से विकास कर रही है। इस प्रकार हम समग्र उपन्यास साहित्य को विषय चेतना तथा शैली की दृष्टि से चार वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) सामाजिक, (२) राजनीतिक-सामाजिक, (३) मनोविश्लेषणात्मक और (४) ऐतिहासिक। प्रवृति की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास साहित्य यथार्थवादी, प्रकृतिवादी, कुत्सित नग्नतावादी तथा फ्रायडवादी वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं।

टेकनीक के नये प्रयोगों का प्रयास इधर उपन्यासों में भी होने लगा है। टेकनीक के नये प्रयोगों की दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यासों में राहुल सांकृत्यायन का 'सिंह सेनापति' तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाण भट्ट की आत्म-कथा', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और शिवप्रसाद मिश्र का 'बहती गंगा' तथा सामाजिक उपन्यासों में धर्मवीर भारतीय का 'गुनाहों का देवता' और राजेन्द्र यादव का 'प्रेत बोलते हैं' उल्लेखनीय हैं।

आज उपन्यास साहित्य तेजी के साथ आगे बढ़ रहा है। प्रेमचन्द के बाद हमारे राष्ट्रीय जीवन के अन्तर्विरोध तेजी के साथ उभड़े। परिणामतः

जनता की समस्याओं में और जीवन में व्यापक दृष्टि से जो एकात्मता और एकरूपता थी, उसके विभिन्न रूप हो गये। इस प्रकार प्रेमचन्द तक उपन्यास साहित्य जिस व्यापक चेतना का साहित्य था, उसकी सर्वजनीन ऐक्य भावना में बिखराव आ गया और कथा साहित्य में अनेक विरोधी प्रवृतियाँ उभरने लगीं। यह बिखराव १९४७ के बाद और भी विशृङ्खल और विषम हो गया है। आज राष्ट्रीय जीवन में जिस एक सार्वजनीन और समान लक्ष्य और उद्देश्य का अभाव है और जीवन-भविष्य की मंजिल पर धुँधलासा छाया हुआ है, वही मुख्य रूप से इसका कारण है। इसलिये आज उपन्यास साहित्य में जनवादी, जनद्रोही, व्यक्तिनिष्ठ, आत्मनिष्ठ, सामाजिक, मनुष्य की अराजक प्रवृतियाँ, उसके जीवन की रुग्णतायें विभिन्न लेखकों के अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार अभिव्यक्ति पा रही हैं, और कोई भी सम्पूर्ण मानव का चित्रण करने में समर्थ नहीं हो पा रहा है। हाँ, आज के उपन्यास साहित्य में भी साहित्य के अन्य रूप-विधानों के साहित्य की ही भांति राष्ट्रीय भावनाओं समस्याओं और संघर्षों की तत्कालीन संक्रान्ति और वैषम्य के अन्तर्द्वन्द्व से मुक्ति प्राप्त करने की अकुलाहट स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है।

हिन्दी कहानी

कहानी गद्य साहित्य में आधुनिक युग का विकास है। किन्तु इसके बीज प्रागैतिहासिक काल से ही प्राप्त होते हैं। जब मनुष्य के पास लिपि न थी, उस समय भी मौखिक रूप में लोक में कथाओं का प्रचलन था। जब लिखित साहित्य का आरम्भ हुआ, तो समाज में आदर्श चरित्रों का जीवन-वृत तथा मनोरंजक कल्पना प्रसूत कहानियाँ लिखी जाने लगीं। उन कहानियों में साधारणतः दो तत्व मिलते हैं—या तो वे आदर्श की स्थापना करने के हेतु अथवा कोरे मनोरंजन के हेतु लिखी जाती थीं। उन मनोरंजन प्रधान कहानियों में भी व्यंग-व्यंजना और अन्योक्ति से जीवन को कोई न कोई शिक्षा मिलती है। उनमें कथा वस्तु, चरित्र चित्रण आदि कहानी के तत्वों का सम्यक रूप से विकास नहीं हुआ था। उनकी कला भी विकसित न हो पाई थी। लिखित कहानियों की अपेक्षा मौखिक कहानियों की परम्परा अधिक व्यापक और सजीव थी। संस्कृत साहित्य में कहानी कला का विकास प्रायः नहीं हुआ। संस्कृत के बाद प्राकृत, अपभ्रंश आदि के काल में भी कहानी अपने मौखिक रूप में ही अधिक प्रचलित रही। बूढ़ी नानी और दादी की कहानियाँ घर-घर में आज भी प्रचलित हैं, जो श्रुति परम्परा से चलती आ रही हैं और आगे भी चलती रहेंगी। मुगल काल में इन मौखिक कहानियों की परम्परा में कल्पना

का अधिक समावेश हुआ। नीति, आचार, धर्म आदि के अतिरिक्त कपोल कल्पना के आधार पर राजा, रानी, भूत, प्रेत, परियों आदि की रोमांचकारी और कुतूहलपूर्ण कहानियों का समावेश हुआ। तोता मैना, बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, बुलाकी नाऊ आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। पहिले प्रकार की कहानियों में हम वेदों, पुराणों, रामायण और महाभारत तथा आदर्श व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं को ले सकते हैं। किन्तु इन सब का आज की कहानियों के विकास को समझने में या साहित्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं। उनमें तो केवल हम आधुनिक कहानी का बीज भर देख सकते हैं। आधुनिक कहानी इतने विशाल लोक-जीवन में प्रविष्ट परम्परा की विरासत की उत्तराधिकारी होते हुए भी अपने नितान्त स्वतन्त्र और मौलिक रूप में विकसित हुई है।

कुछ लोग मुंशी इन्शा अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' (१८०३) को हिन्दी की सर्व प्रथम कहानी मानते हैं। किन्तु यहाँ से कहानी के विकास की अविछिन्न धारा और परम्परा का सूत्रपात नहीं होता और न उसमें आधुनिक कहानी के तत्व ही पाये जाते हैं। भारतेन्दु के समय में भी लेखकों ने कहानी कला के ऊपर ध्यान नहीं दिया।

यद्यपि भारतेन्दु काल में कहानी कला का स्वतन्त्र और सम्यक विकास नहीं हो पाया था जैसे नाटक और निबन्धों का हुआ, फिर भी लघु कथानकों को लेकर निबन्ध-कथा की मिश्र शैली में लिखने के छुट-पुट प्रयास आरम्भ हो गए थे। राधाचरण गोस्वामी का 'यमलोक की यात्रा', भारतेन्दु का 'एक अद्भुत और अपूर्व स्वप्न', 'मूसा पैगम्बर' आदि रचनाएँ इस प्रयास का प्रतिफलन है।

वस्तुनः आधुनिक हिन्दी कहानी का आरम्भ बीसवीं शताब्दी से आरम्भ में होता है और इसका श्रेय हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' को है। इसमें किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी १६०० में प्रकाशित हुई। यह शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' (Tempest) का कहानी रूपान्तर है। उसके बाद पं० रामचन्द शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का सपना' (१६०३), श्रीमती बंग महिला की 'दुलाई वाली' (१६०७), 'जम्बुरी न्याय (१६०६), वृन्दावन-लाल वर्मा की 'राखी बन्द भाई' और 'दो राजपूत' और 'तातार', मैथिलीशरण गुप्त की 'नकली किला' (१६०६) और 'निंन्यानवे का फेर' (१६१०), आदि कहानियाँ सरस्वती में प्रकाशित हुई, किन्तु इनमें भी आधुनिक कहानियों के तत्व नहीं मिलते हैं और न इनमें कोई प्रतिभा-सम्पन्न

कहानीकार ही था। किन्तु इन्होंने आधुनिक हिन्दी कहानी का एक आधार प्रस्तुत करने का कार्य अवश्य किया है। इन कहानियों में वर्तमान समस्याओं के चित्रण की प्रवृत्ति तथा प्राचीन शैली का एक विचित्र संयोग देखने को मिलता है।

आधुनिक हिन्दी कहानी का विकास प्रसाद और प्रेमचन्द से आरम्भ होता है। प्रसाद की कहानी 'ग्राम' १६११ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। इसी कहानी को हिन्दी की सर्व प्रथम कहानी मानना उचित होगा। इसमें कहानी के तत्व हैं, यद्यपि उनका समुचित विकास इसमें भी नहीं हो पाया है। उस समय कहानी क्षेत्र में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों का जन्म हुआ और उन्होंने कहानी कला को माँज-निखार कर सुन्दर और परिष्कृत रूप प्रदान कर दिया। ये कलाकार हैं—राधिकारमण प्रसादसिंह, विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और प्रेमचन्द। जिस समय इन लोगों ने हिन्दी कहानी का सृजन आरम्भ किया उस समय बंगला कहानी साहित्य अपने विकास की एक मंजिल पार कर चुका था। उनका हिन्दी में पहिले से ही अनुवाद होने लगा था। इनके अतिरिक्त विदेशी साहित्य की कहानियाँ भी हिन्दी में अनुवादित हुई हैं। हिन्दी की आरम्भिक मौलिक कहानियों में व्यापक सामाजिक जीवन का चित्रण हुआ है, और साथ ही कहानी कला का विधिवत विकास हुआ है। हिन्दी की आरम्भिक कहानियों का विकास सम्पूर्ण प्रस्फुटन के साथ आरम्भ हुआ। 'उसने कहा था', 'पंच परमेश्वर', 'रसिया बालम', 'कानों में कंगना' आदि आज भी हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। भाव-व्यंजना, शैली, वस्तु तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण—सभी में एक परिवर्तन आया।

इसके पहिले कि हम कहानी के विकास-क्रम का विवेचन करें, यहाँ कहानी क्या है, उपन्यास से उसका क्या भेद है और उसके तत्व क्या हैं आदि प्रश्नों पर विचार कर लेना उचित समझते हैं। कहानी संक्षेप में तथा कलात्मक रीति से जीवन की कोई मार्मिक घटना, मानस भावना, अनुभव का मार्मिक चित्रण है। अपनी झलक दिखाकर मन-प्राण में विचार-सरणि प्रवाहित करती है। कहानी में कलाकार जीवन का एक खंड चित्र उपस्थित करता है। कहानी की आज विविध शैलियाँ प्रचलित हैं। उन विविधताओं को दृष्टि में रखकर कहानी को विषय और शैली की दृष्टि से किसी एक निश्चित परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता। कहानी नाटक नहीं, फिर भी उसमें संवाद होते हैं। कहानी उपन्यास नहीं, फिर भी उसमें एक क्रमबद्ध कथा होती है। उपन्यास का क्षेत्र समूचा जीवन है और कहानी का क्षेत्र उसका एक खंड। कहानी

रेखा चित्र नहीं। फिर भी उसमें चरित्र सम्पूर्ण रूप से विकसित न होकर संकेत रूप में ही विकसित होता है। कहानी मात्र घटनाओं का समावेश नहीं, यद्यपि घटनाओं का संघात कहानी की कथा के विकास का आधार है। इस प्रकार कहानी इन सबका मिश्रण होते हुए भी इन सबसे अलग है। इसी दृष्टि से कहानी के तत्व माने गये हैं—कथावस्तु, कथोपकथन, पात्र, भाषा शैली, वातावरण और उद्देश्य। हिन्दी में प्रायः तीन प्रकार की कहानियाँ लिखी गई हैं—ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक। शैली की दृष्टि से भी कहानियों के अनेक भेद किये गये हैं जैसे नाटकीय, आत्म चरित्रात्मक, पत्रात्मक, डायरी, चरित्र प्रधान, वर्णात्मक आदि। उद्देश्य और प्रवृत्ति से भी कहानी के अनेक भेद किये जा सकते हैं जैसे मनोभावात्मक, चरित्रात्मक, मनोविश्लेषणात्मक, विवरणात्मक, उपदेशात्मक आदि। यह भेद विभेद किसी सीमा में नहीं बाँधे जा सकते। इसीलिए हमने संक्षेप में ही उनका उल्लेख किया है, क्योंकि कहानीकार अपनी प्रतिभा से एक सामान्य घटना को श्रेष्ठ कहानी का रूप दे सकता है। एक ही कथावस्तु को अनेक शैलियों में और अनेक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जा सकता है। अस्तु, कहानी के इन असीम भेद विभेदों में न जाकर हम केवल दो भेद ही करेंगे—विषय की दृष्टि से सामाजिक और ऐतिहासिक तथा प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की दृष्टि से प्रकृतवादी और यथार्थवादी।

१९११ से कहानी साहित्य का विकास निर्बाध गति से चल रहा है और कहानी क्षेत्र में नित नई प्रतिभायें जन्म ले रही हैं। प्रसाद, प्रेमचन्द, गुलेरी और कौशिक आरम्भ से ही एक व्यापक सामाजिक चेतना को लेकर साहित्य में अवतीर्ण हुये और उन्होंने समाज की समस्याओं और नये पुराने के बीच द्वन्द्व में उभरते जीवन और समाज के प्रति नये मान मूल्यों तथा मानव संवेदना का चित्रण अपनी कहानी में किया है। इनकी कहानियों में आदर्शवाद की भावना व्याप्त है। १९२२ में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने कहानी साहित्य की प्रवाहमान धारा में एक नई धारा जोड़ी। इसके अतिरिक्त गत प्रवाहमान धारा में व्यापक सामाजिक, राजनीतिक चेतना का समावेश हुआ। साहित्य के क्षेत्र में 'उग्र' के आविर्भाव की तुलना, 'उल्कापात' और 'धूमकेतु' से की जाती है। 'उग्र' एक विद्रोही कलाकार है। वे क्रान्तिकारी भावना और राजनैतिक चेतना को लेकर कहानी क्षेत्र में आये। उन्होंने देशप्रेम, त्याग, हिन्दू मुस्लिम ऐकता तथा अन्य राजनीतिक विषयों तथा सामाजिक जघन्यताओं को अपने नग्न रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। प्रेमचन्द की कहानियों में मनोभावों का द्वन्द्वपूर्ण चित्रण खूब होता है। इस विशेषता को लेकर कहानी क्षेत्र

में जैनेन्द्र का आगमन हुआ। जैनेन्द्र पर बंगला कहानीकारों विशेषकर टैगोर और शरत की गहरी छाप पड़ी है। उनकी कहानियों में घटनाओं का अभाव और मनोगत भावों का प्राचुर्य होता है और उन्हीं के द्वन्द्व के ताने-बाने से कहानी की कथा विन्यसित होती है। मनोभावों के चित्रण में फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को आधार बनाकर मनुष्य के जीवन के अन्तर को उद्घाटित करने की प्रवृत्ति लेकर इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय का हिन्दी कहानी क्षेत्र में आगमन हुआ। इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय' ने फ्रायडवादी मनोविशलेषण को आधार बनाकर व्यक्ति के जीवन की ग्रन्थियों पर कहानियाँ लिखने की परम्परा का सूत्रपात किया। इन कहानियों में कुन्ठाग्रस्त और विक्षिप्त व्यक्तियों के कार्यों तथा उनकी भावनाओं और चित्त वृत्तियों का सामाजिक परिस्थितियों के प्रसंग में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर उचित ठहराया गया है। १६३६ के बाद कहानी कला ने एक ओर मोड़ ली और उसमें निम्न वर्ग और मजदूर किसानों के संघर्षों का चित्रण होने लगा।

इस नयी प्रवृत्ति को लेकर कहानी क्षेत्र में आए—यशपाल, अश्क, कृष्ण-चन्द्र, श्रीकृष्णदास, चन्द्रकिरण छाया, शमशेर, अमृतराय, रांगेय राघव आदि। इस प्रकार कहानी साहित्य अपने विकास की मंजिलें पार करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ रहा है।

---

(१)

श्री निवासदास

श्री निवासदास हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार हैं। यद्यपि उपन्यास-कला के अंग-संवर्धन की ओर दृष्टि भारतेन्दु की भी गई थी, किन्तु वे पूर्ण उपन्यास प्रस्तुत नहीं कर सके। भारतेन्दु ने अपने अनेक समकालीन लेखकों से बंगला और मराठी भाषा से उपन्यासों का अनुवाद कराकर उन्हें संशोधित कर प्रकाशित करवाया था। स्वयं भी उन्होंने एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था—'एक कहानी-कुछ आप बीती कुछ जग बीती' किन्तु वह पूर्ण न हो पाया। किन्तु जितना अंश उसका प्राप्य है, उससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि उसका कला-कलेवर उपन्यास का था। उसके पात्रों के चरित्रों का विकास आरम्भ से ही उपन्यास के तत्वाधार पर ही चला है। यदि वह पूर्ण हो जाता तो निस्सन्देह उसे ही हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास होने का गौरव प्राप्त होता। किन्तु दुर्भाग्य से ऐसा हो नहीं सका। अस्तु श्रीनिवासदास को ही हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है और उनका (परीक्षा गुरु) उपन्यास हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास है। भारतेन्दु काल के उपन्यास साहित्य पर उस उपन्यास का गहरा प्रभाव है।

यह हम पहले कह आए हैं कि उस समय की साहित्यिक चेतना राष्ट्रीय जागरण की चेतना थी। इस चेतना ने तत्कालीन उपन्यास कला को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित किया था। इस उपन्यास का कथानक तत्कालीन समाज से लिया गया है और तत्कालीन जीवन में एक आदर्श उपस्थित करना ही उसका उद्देश्य है। अस्तु उसमें उपदेशों की झड़ी हैं, और सारा उपन्यास ही उपदेश-परक है। कथा अपने में अत्यन्त सूक्ष्म है—किस प्रकार दिल्ली का एक सेठ अपने चाटुकारों के चंगुल में फँसकर पानी की तरह धन व्यय करता है और अन्त में एक सच्चे हितैषी द्वारा उसकी आँख खुलती है। कला की दृष्टि से उपन्यास बहुत हलका है, किन्तु उसका हलकापन ही उसकी महत्ता है, क्योंकि उसे ही हिन्दी उपन्यास कला का रूप प्रस्तुत करने का गौरव प्राप्त है। कथा प्रसंग में संस्कृत, फारसी और अँग्रेजी साहित्य के नीति वाक्यों से उपयुक्त उद्धरण प्रस्तुत कर उसकी उपदेशात्मक उपादेयता को ऊँचा उठाया गया है। वस्तुतः उस काल का सारा साहित्य ही उद्देश्यपरक और उपदेशात्मक है। श्रीनिवासदास जी ने उस उपन्यास को अनेक प्रभाव-स्रोतों से प्रेरणा लेकर

निर्मित किया था। भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है—"महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरह फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्री-बोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है।" इन सबका सार तत्व उसमें है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पहले से एक उद्देश्य को सोचकर कथा सूत्रों को नियोजित किया गया है, इसीलिए पात्र कठपुतली के समान और कथा, लेखक के निर्देश पर चलती है, उसमें स्वयं की विकासशीलता नहीं है। वस्तुतः यह उपन्यास तो श्रीनिवासदास जी के ही शब्दों में 'अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक' ही है और उसीमें उसकी महत्ता है। उपन्यास कला के विकसित तत्वों के आधार पर उसको परखना नितान्त असंगत है।

फिर भी उसमें उपन्यास-कला-तत्वों का आरम्भिक बीजारोपण है। उसमें उपन्यास का कला-कलेवर है, उपन्यास का कथा विस्तार और वस्तु-गठाव है और चरित्र विकास है। कहानी अपने में अत्यन्त छोटी है पर उसमें औपन्यासिक तत्वों की कलात्मकता न सही पर उनका नितान्त अभाव भी नहीं है।

श्रीनिवासदास जी स्वयं अँग्रेजी भाषा के अच्छे ज्ञाता थे; अस्तु उनके ऊपर अँग्रेजी के अध्ययन का प्रभाव स्पष्ट है। हिन्दी साहित्य के उपन्यास-कला के अङ्ग के अभाव की पूर्ति की प्रेरणा उन्हें अँग्रेजी साहित्य से ही मिली थी और अँग्रेजी उपन्यासों के कला-कलेवर में भारतीय कथा को कसने का उन्होंने प्रयास किया था। हिन्दी उपन्यास कला नितान्त रूप से अँग्रेजी उपन्यास कला की देन है। उपन्यास के कथोपकथनों पर अंग्रेजी उपन्यासों के कथोपकथन-प्रणाली का बड़ा प्रभाव है। हर कथोपकथन का आरम्भ या अन्त अँग्रेजी ढंग पर 'उसने कहा' 'वह कहने लगा' आदि से होता है।

वह युग जनसुलभ भाषा का युग था। वही रूप हमें उस उपन्यास की भाषा में भी मिलता है। भाषा अत्यन्त ही संयत और सुष्ठ है। उसमें जहाँ-तहाँ उर्दू और अँग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग है। बोल-चाल के शब्दों और मुहाविरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिससे भाषा में प्रवाह और सजीवता आगई है निःसन्देह हिन्दी साहित्य का आरम्भिक उपन्यास होने के नाते वह अत्यन्त सफल और महत्वपूर्ण उपन्यास है।

[२]

बालकृष्ण भट्ट

भट्ट जी भारतेन्दु पीढ़ी के ही उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों में राष्ट्रीय जागरण और समाज-सुधार की उसी चेतना के दर्शन होते हैं, जो श्रीनिवासदास के उपन्यास 'परीक्षा गुरु' की चेतना थी और जो सामान्यतः उस काल के समस्त साहित्य की चेतना थी। भट्ट जी ने केवल दो उपन्यास लिखे—'नूतन ब्रह्मचारी' (सन् १८८६) और 'सौ अजान एक सुजान' (सन् १८९२)। यह दोनों ही उपन्यास आकार में छोटे और सोद्देश्य हैं। दोनों में ही सत्-असत् के परस्पर संघर्ष में सत् की विजय दिखाई गई है। दोनों उपन्यासों की शिक्षात्मक उपादेयता है और विद्यार्थियों को लक्ष्य करके ही उन्होंने उनका सृजन किया है। भट्ट जी ने 'नूतन ब्रह्मचारी' के सृजन में अपनी कामना प्रकट की थी कि सामान्य ज्ञान रखने वाला भी उसे पढ़कर उसके नायक विनायक के चरित्र का अनुगमन कर सके। इस उपन्यास का नायक विनायक अपने चरित्र बल से डाकुओं के सरदार को भी सत् मार्ग पर ले आता है।

'सौ अजान एक सुजान' में कुसंगति के प्रभाव का चित्र है। सेठ हीराचन्द के पुत्र कुसंगति में फँस कर अपना धन नष्ट करते हैं। किन्तु अन्त में चन्द्रशेखर के प्रभाव से उनके चरित्र में सद्वृत्ति का उदय होता है और वे सुमार्ग-गामी हो जाते हैं और सदाचारी बन जाते हैं। इस उपन्यास के अन्त में भट्ट जी ने अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'अन्त में हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ़ कर आशा करते हैं, सुजान बने। इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चन्द्र था और आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा।' दोनों ही उपन्यासों में लेखक उपदेशक है और उसके उपदेश के माध्यम स्वरूप ही उसके उपन्यास हैं। उस समय उपन्यास कला की विशेषतः यह सीमा थी कि वह उपदेश के ऊपर नहीं उठ पाती थी। उद्देश्य अपने ठेठ सीधे रूप में उपन्यास में चित्रित होता था, कलात्मक रूप में नहीं। यही सीमा तो उस समय साहित्य के प्रायः सभी रूपों की थी पर उपन्यास-कला में विशेषतः क्योंकि उसका अभी उतना विकास नहीं हो पाया था। अस्तु कला की दृष्टि से भट्ट जी के उपन्यासों का महत्व भले ही न हो पर श्रीनिवासदास के उपन्यास की ही तरह उपन्यास कला को गति देने और तत्कालीन जनजागरण की चेतना को विकसित करने

में उनका अपना महत्व है। उपन्यास कला के विकास में निःसन्देह यह उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण चरण सिद्ध हुए।

भट्ट जी की भाषा भी संयत, मुहाविरेदार और सजीव है। आपकी वर्णन शैली में चुस्ती है। उपन्यास के वातावरण का निर्माण अलंकृत भाषा में किया गया है। भावुकता-पूर्ण स्थलों की भाषा भावों के अनुरूप है।

---

[३]

किशोरीलाल गोस्वामी

गोस्वामी जी का उपन्यासकारों में स्थान आचार्य शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी के बाद रखा है। किन्तु इतिहास को देखने से यह तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि आपके उपन्यासों का रचना-क्रम देवकीनन्दन खत्री और गहमरी जी से पहले आरम्भ हुआ था। इस तथ्य को श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास' में स्वीकार करते हुए लिखा है कि—'देवकी-नन्दन खत्री का जन्म किशोरीलाल गोस्वामी के जन्म से चार साल पूर्व हो गया था, यद्यपि गोस्वामी जी के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' से कुछ पहले ही प्रकाश में आए थे।' फिर भी उन्होंने तथा अन्य विद्वान आलोचकों ने गोस्वामी जी का स्थान देवकीनन्दन खत्री के बाद रखा है जबकि इतिहास क्रम में उनका स्थान पहले आना चाहिए। अस्तु हम उन्हें पहले स्थान दे रहे हैं।

गोस्वामी जी से पूर्व के उपन्यासकार श्रीनिवासदास तथा भट्ट जी मुख्यतः उपन्यासकार न थे। गोस्वामी जी ही प्रथम साहित्यकार थे जिन्होंने उपन्यास-रचना को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाया और अपने जीवन काल में उन्होंने छोटे-बड़े मिलाकर ६५ उपन्यासों की रचना की, जिनमें सामाजिक, ऐतिहासिक तथा ऐयारी के उपन्यास हैं।

जिस समय गोस्वामी जी ने उपन्यास रचना को अपना प्रमुख ध्येय बनाया उस समय तक हिन्दी में अनेक बंगला तथा अंग्रेजी के उपन्यासों का अनुवाद हो चुका था और पाठकों की रुचि तीव्रता से उपन्यासों की ओर बढ़ रही थी, किन्तु हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की कमी थी; जिस कमी को पूरा किया गोस्वामी जी ने।

श्री निवासदास तथा भट्ट जी के उपन्यासों में उपदेश ही प्रधान था, कला गौण, पर गोस्वामी जी के उपन्यासों में कला का निखार हुआ और उनमें साहित्यिकता भी आई। गोस्वामी जी के प्रायः सभी उपन्यासों में सामाजिक या ऐतिहासिक कथानक के साथ ऐयारी का चित्रण भी हुआ है। अस्तु उनके उपन्यासों में सामाजिक चेतना तथा चरित्र चित्रण के साथ-साथ आश्चर्य, विस्मय और कौतूहल का सृजन भी हुआ है।

गोस्वामी जी की सामाजिक चेतना तत्कालीन समाज सुधार के साथ न थी, वरन् वे प्राचीन रुढ़िवादी थे और सनातन धर्म के पक्षपाती थे। उन्होंने उस समय के समाज सुधार के आन्दोलनों का एक प्रकार से विरोध ही किया था। उस कारण उनके उपन्यास पाठकों के लिए न तो आकर्षण ही के विषय बन सके और न समय के विपरीत होते हुए जीवित ही रह सके,

उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं—'त्रिवेणी', 'कुसुमकुमारी', 'आदर्श रमणी', 'आदर्श बाला', 'सुख शर्वरी', 'चपला', 'लखनऊ की कब्र', 'तारा', 'रजिया बेगम', 'मल्लिकादेवी', 'आदर्श सती', 'तरुण तपस्विनी', 'याकूती तख्ती', 'तिलस्मी शीशमहल', 'मस्तानी', 'सौतिया डाह', 'प्रेममयी', 'गुलबहार', 'इन्दुमती', 'लावण्यमयी', 'प्रणयनी परिचय', 'जिन्दे की लाश', 'चन्द्रावती', 'हीराबाई' आदि। सभी उपन्यासों में नारी ही प्रधान पात्र है, किन्तु उसके जीवन की किसी गहन समस्या का चित्रण नहीं हुआ है। हलका प्रेम ही सब उपन्यासों का विषय है जो हृदय से दूषित वासनाओं को उद्दीप्त करने वाला है। ऐतिहासिक उपन्यासों में घोर अस्वाभाविकता है। देशकाल का चित्रण अत्यन्त दूषित है। 'स्वर्गीय कुसुम' या 'कुसुमकुमारी' में देवदासी प्रथा की कुरीति का चित्रण है पर यह चित्रण भी प्रभावशाली नहीं बन पाया है। 'कुसुमकुमारी' तीन वर्ष की अवस्था में ही देवदासी बना दी जाती है और पंडे द्वारा वेश्या के हाथ बेची जाती है। कार्तिक पूर्णिमा के मेले पर नाव टूट जाने से वह बह जाती है और बसन्तकुमार नामक युवक द्वारा उसकी प्राण-रक्षा होती है, जो गाजीपुर का रहने वाला है। वह बसन्त से प्रेम करने लगती है, पर सामाजिक रूप से उसे ग्रहण करने की सामर्थ उसमें नहीं होती। बसन्त का विवाह उसीकी बहन गुलाब से हो जाता है और जिस समय कुसुमकुमारी आत्म-हत्या करने को होती है, गुलाब उसे पहचान लेती है और फिर साथ-साथ हँसी-खुशी से सब रहते हैं। इस सामाजिक कथानक में भी ऐयारी का अद्भुत वर्णन है। 'तारा' नामक ऐतिहासिक उपन्यास है, पर उसमें भी ऐयारी का चित्रण है। यही हाल अन्य उपन्यासों में भी है। गोस्वामी जी के उपन्यासों की कथा यद्यपि कल्पित नहीं है, फिर भी कल्पना से उसमें अस्वाभाविकता

उत्पन्न करदी गई है; यहाँ तक कि ऐतिहासिक उपन्यासों के पात्र भी कल्पित से हो गए हैं और उनका सारा वातावरण भी कल्पित हो गया है।

उपरोक्त दोषों के होते हुए भी गोस्वामी जी के उपन्यासों में श्रीनिवासदास और भट्टजी की सी न तो कोरी उपदेशात्मकता है और न देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम गहमरी की सी कोरी कल्पना की कलाबाजी; वरन् इन सबका समन्वय है, जिसके कारण आपका स्थान इन सबसे प्रथक है।

आपकी भाषा पात्रोनुकूल है कहीं ठेठ उर्दू तो कहीं ठेठ संस्कृत। दोनों प्रकार की भाषाओं में घोर अन्तर है। इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामीजी ने सामाजिक उपन्यासों की नींव डाली और यद्यपि उनमें सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध विद्रोह की शक्ति न थी, फिर भी उनके उपन्यास हिन्दी साहित्य की नई धारा के सामाजिक उपन्यासों की पूर्व पीठिका बने, यह निश्चित है और इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में गोस्वामी जी के उपन्यासों की अपनी एक महत्ता है।

---

(४)

देवकीनन्दन खत्री

खत्रीजी के उपन्यासों का आधार नितान्त काल्पनिक है। उन पर उर्दू-फारसी के तिलस्मी किस्सों और कपोल-कल्पना प्रसूत कथाओं का प्रभाव है, साथ ही अँग्रेजी के जासूसी उपन्यासों का भी। किन्तु उन्होंने अपने तिलस्मी उपन्यासों का विकास नितान्त मौलिक रूप से किया है। उनके प्रथम उपन्यास 'चन्द्रकांता' के प्रकाशित होते ही हिन्दी संसार में धूम मच गई। उसके बाद उन्होंने 'चन्द्रकांता सन्तति' नामक वृहद् उपन्यास लिखा जो कई भागों में प्रकाशित हुआ। उसे पढ़ने के लिए तो अनेक अहिन्दी भाषा-भाषियों ने हिन्दी सीखी और उस उपन्यास को पढ़ा। हिन्दी भाषा के प्रचार में खत्रीजी के उपन्यास अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए।

खत्रीजी ने 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता सन्तति', जो अत्यन्त प्रसिद्ध हुए, के अतिरिक्त 'काजर की कोठरी', 'कुसुमकुमारी', 'नरेन्द्र मोहिनी', 'वीरेन्द्रवीर' आदि उपन्यासों की भी रचना की है।

खत्रीजी के समस्त उपन्यास घटना प्रधान हैं और सभी के कथानक का आधार किसी न किसी रूप में प्रेम है, जो दो पुरुषों के बीच का संघर्ष बन

जाता है और फिर षडयन्त्र और तिलस्म के घात-प्रतिघातों से कथा आगे बढ़ती है और दोनों पक्ष अपनी विजय के लिए संघर्ष करते हैं। षडयन्त्र और तिलस्म का घटनाचक्र इस लाघव से चलता है कि कथा सूत्र कहीं विश्रृङ्खलित नहीं हो पाता और पाठक एकाग्रचित्त हो उपन्यास पढ़ने में सुधबुध खो बैठता है। उपन्यासों में गम्भीर विचारोत्तेजक सामिग्री नहीं है, पर मनोरंजन अपूर्व है। मनोरंजन ही खत्री जी का प्रमुख ध्येय था। इस बात पर स्वयं प्रकाश डालते हुए खत्रीजी ने लिखा था—"कुछ दिनों की बात है कि मेरे मित्रों ने संवाद पत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका (चन्द्रकांता) कथानक सम्भव है या असम्भव। मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पंच-तन्त्र, हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिए लिखे गए उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए। यह सम्भव है या असम्भव, इस पर कोई यह समझेगा कि चन्द्रकांता और वीरेन्द्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं, तो बड़ी भारी भूल होगी। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह एक छोटा सा नमूना है।

× × × ×

'चन्द्रकांता' में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिए नहीं कि लोग उनकी सचाई-झुठाई की परीक्षा करें, प्रत्युत इसलिए कि वे पाठक की कौतूहल वर्धक हों।"

अस्तु खत्री जी के उपन्यासों का लक्ष्य घटना वैचित्र्य और तिलस्म से पाठकों का मनोरंजन करना भर है, कोई चेतना देना, रस सञ्चार या चरित्रादर्श प्रस्तुत करना नहीं है। सभी पात्र, घटनाएँ और स्थान अस्वाभाविक हैं और सामान्य जीवन से बिल्कुल परे के हैं, जो लेखक के इंगित पर चलते हैं। कथा सूत्र इस चातुरी से विन्यसित हुआ है कि कहीं पर शिथिलता नहीं आने पाई है और एक के बाद एक घटनाएँ एक दूसरे से गुथी हुई विकसित होती गई हैं। निःसन्देह उतने विस्तृत और जटिल कथानकों को अटूट सूत्रता प्रदान करना खत्री जी की शिल्प-लाघवता का परिचायक है। इन उपन्यासों से खत्री जी के बहुज्ञान का परिचय भी प्राप्त होता है। उनमें विज्ञान सम्बन्धी अनेक बातों का उन्होंने उपयोग किया है।

यह उपन्यास भले हो उस काल की चेतना-धारा के साथ न चले हों, इनमें भले ही राष्ट्रीय जागरण और साहित्यिक निर्माण-विकास की उपादेयता न हो, भले ही मानव जीवन को कोई खुराक इनसे न मिलती है फिर भी मनोरंजन की उनकी अपनी उपादेयता है और मात्र मनोरंजन भी मानव जीवन में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इन उपन्यासों ने उपन्यास कला को भी विकसित किया है। कथानक के विन्यास की चातुरी, उसका चुस्त गठाव, कथानक में गति, वातावरण सृजन, उपन्यास के कथोपकथन आदि का कलारूप इन उपन्यासों द्वारा ही सर्वप्रथम विकसित हुआ और उपन्यास कला के तत्वों में एक चुस्ती और कलात्मकता आई। अस्तु ऐसा कहना कि इन उपन्यासों का कोई साहित्यिक महत्व नहीं उचित नहीं प्रतीत होता। खत्री जी के इन उपन्यासों ने उस काल तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की एक खासी परम्परा का निर्माण किया, जिसमें अनेक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हुए, जिनकी हिन्दी उपन्यास-कला के विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण देन है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

भाषा की दृष्टि से तो उन उपन्यासों का कार्य अत्यन्त सराहनीय है। जैसा आकर्षण और पकड़ उपन्यास के कथानकों में तथा घटनाओं में है, वैसा ही आकर्षण उनकी भाषा में भी है। भाषा अत्यन्त सुस्थिर संयत और प्रवाहशील है। मुहाविरों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। जन-सुलभ चलताऊ भाषा का प्रयोग हुआ है, पर उसमें कहीं शिथिलता नहीं है।

इस प्रकार खत्री जी ने घटना प्रधान उपन्यासों की जिस धारा का हिन्दी साहित्य में प्रचलन किया, उसने उपन्यास कला के विकास तथा भाषा के निखार एवं प्रसार में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है और जिस उद्देश्य को लेकर खत्री जी ने इन उपन्यासों का प्रणयन किया, उसमें वे अद्वितीय रूप से सफल रहे हैं।

---

(५)

गोपालराम गहमरी

उपन्यास :—गहमरी जी भी मूलतः घटना प्रधान उपन्यासकार थे, पर आप पर अँग्रेजी साहित्य के जासूसी उपन्यासों का गहरा प्रभाव था और आपने अनेक अँग्रेजी के जासूसी उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया तथा अनेक मौलिक जासूसी उपन्यास तथा कहानियाँ लिखीं।

अँग्रेजी साहित्य में जासूसी उपन्यासों का अपना एक विशिष्ट स्थान है। स्काटलैण्ड यार्ड की पुलिस और जासूस विभाग की बुद्धि-चातुरी के द्वारा भयंकर डाकुओं, हत्याओं तथा डकैतियों और षडयन्त्रों के रहस्यों के उद्घाटन को आधार बनाकर अनेक सीरीज-सिक्स पैन्स सीरीज, फोर पेन्स सीरीज आदि का अपार साहित्य रचा गया। अँग्रेजी जासूसी साहित्य में जो स्थान ओपेनहम,

शरलाक होम्स, एडग वैलेस और फिलिप आदि को प्राप्त है, वही हिन्दी साहित्य में गहमरी जी को।

यद्यपि घटनाप्रधान उपन्यासों की जो परम्परा खत्रीजी ने अपने तिलस्मी उपन्यासों द्वारा चलाई थी, गहमरी जी उसी परम्परा के उपन्यासकार थे; तथापि दोनों के कथानकों तथा कला में मौलिक अन्तर है। खत्री जी के तिलस्मी उपन्यास नितान्त कपोल कल्पित कथा को आधार बनाकर चलते थे और उनकी कथा मानव बुद्धि के परे की वस्तु होती थी। उनके उपन्यासों की घटनाएँ दैवी-शक्ति से होती प्रतीत होती हैं। उनमें एक अनहोनापन है। उनकी अपेक्षा गहमरी जी के उपन्यास मानव-जीवन की स्वाभाविकता तथा सम्भावनाओं के अधिक निकट होते हैं। उनके उपन्यासों की घटनाएँ, पात्रों के कृत्य आदि ऐसे नहीं होते जो मानव बुद्धि के परे हों। वे साहस और निर्भीकता के कार्य होते हैं पर होते मानवीय ही हैं, दैवी नहीं। खत्री जी की कथा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं होता और न उसका स्वतन्त्र विकास ही होता है, वह तो लेखक के इंगित पर नायक के सहारे चलती है। नायक के ओझल होते ही कथा गति रुक जाती है। गहमरी जी की कथा में एक स्वतन्त्र गति होती है, जो अपने घात प्रतिघात से चलती है और उसमें पूर्वापर सम्बन्ध होता है। घटनाएँ ऐसी होती हैं, जो मानव-जीवन में सम्भव होती हैं, और मानव-बुद्धि से षड्यन्त्रों का निर्माण तथा एक साधारण से रहस्य-सूत्र के सहारे से उन षडयन्त्रों का जासूस द्वारा उद्घाटन ही इन उपन्यासों और कहानियों का विषय होता है। संक्षेप में गहमरी जी के उपन्यासों की विशेषता साहस और निर्भीकता के कार्य हैं न कि दैवी तिलस्म जो मानव बुद्धि से परे हों।

इस प्रकार खत्री जी के उपन्यासों ने सम्भव और असम्भव की जो खाई उत्पन्न की थी उसे गहमरी जी के जासूसी उपन्यासों ने पाट दिया और मानव-जीवन से दूर होते जाते उपन्यासों को पुनः उसके निकट ला दिया। उनके उपन्यासों की एक ठोस धरती है, मात्र कपोल कल्पना ही नहीं। इस तरह गहमरी जी ने उपन्यास साहित्य को एक नयी मोड़ प्रदान की।

कहानियां :—

गहमरी जी ने उपन्यासों के साथ-साथ जासूसी कहानियों का भी निर्माण किया है और उन कहानियों में भी वही विशेषता है जो उनके उपन्यासों में। कथानक किसी रहस्य गुत्थी से आरम्भ होता है और उसका सारा विकास उस रहस्य को सुलझाने में होता है। रहस्य के सुलझाव के साथ ही कहानी

या उपन्यास समाप्त तो जाता है। सभी कहानियाँ उपन्यासों की ही तरह घटना-प्रधान हैं।

गहमरी जी ने घटनाओं के ताना-बाना के साथ-साथ पात्रों के चरित्र पर भी प्रकाश डाला है पर वह गौण होकर ही आया है और उसकी उपयोगिता घटना को बल प्रदान करना ही होता है।

उपन्यासों और कहानियों दोनों में ही गहमरी की भाषा विषय के अनुकूल चली है। कथानक की रहस्यमयता की तरह उनकी भाषा में भी रहस्य गुम्फन होता है। उनकी भाषा में चलताऊ शब्दों के प्रयोग ने सजीवता ला दी है और मुहाविरों के प्रयोग ने प्रवाह उत्पन्न कर दिया है। उपन्यासों तथा कहानियों के कथानक की मनोरंजकता की ही तरह आपकी शैली में भी मनोरंजकता है। कथा का गठाव, सम्बन्ध-सूत्रता तथा जिज्ञासा और कौतूहल वर्धनकी शक्ति अपूर्व है, और भाषा इसमें सहायक सिद्ध होती है।

इस प्रकार गहमरी जी ने हिन्दी साहित्य में जासूसी उपन्यासों की एक नयी परम्परा का सूत्र-पात किया, जो आज भी चल रही है। खत्री जी के तिलस्मी उपन्यासों की परम्परा तो अधिक दूर तक न चल सकी, पर जासूसी उपन्यासों की मांग आज भी पाठकों में बनी है और उनका सृजन चल रहा है। उनका स्तर निम्न कोटि का है यह बात दूसरी है।

---

(६)
प्रेमचन्द

पूर्व पीठिका :—

पीछे हम जिन उपन्यासकारों का विवेचन कर आए हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका उपन्यास साहित्य हिन्दी साहित्य की ठोस स्थायी सम्पदा बनने की क्षमता नहीं रखता है। उपन्यास कला के विकास क्रम को समझने-परखने में आरम्भिक बिन्दु का महत्व वे अवश्य रखते हैं, अतः उनका ऐतिहासिक महत्व तो है किन्तु साहित्यिक नहीं। उस समय और भी अनेकों उपन्यासकार हुए थे जिनका हम पीछे विवेचन कर आए हैं। यह युग विशेषकर बंगला और अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद का युग था। हिन्दी में जो मौलिक उपन्यास रचे गए वे या तो ठेठ सामाजिक आचार, धर्म, नीति और समाज सुधार की भावना से प्रेरित उपन्यास के कलेवर में उपदेश ग्रन्थ

थे या कोरे मनोरंजन के लिए तिलस्मी और जासूसी रोमांचकारी उपन्यास थे। उस युग के नाट्य साहित्य तथा निबन्धों में राष्ट्रीय जागरण, मानव-जीवन की गहनतम समस्याओं और युग संघर्ष का जैसा सबल पक्ष चित्रित हुआ और वे नूतन चेतना के जैसे समर्थ वाहक बने वैसा उपन्यास साहित्य न बन सका।

उपन्यास :—

प्रेमचन्द के उपन्यास क्षेत्र में आते ही उपन्यास साहित्य ने एक निश्चित मोड़ ली और उपन्यास साहित्य संघर्ष रत मानव, समाज एवं राष्ट्र की उद्दाम मुक्तकामी तथा प्रगतिकामी भावना का सबल स्वर बन गया, और प्रेमचन्द उसके प्राणवान सफल चितेरे। विगत उपन्यास धारा में उपदेश व्यंजित आदर्श से अस्वाभाविक, असम्भव, जीवन-अपर, कपोल कल्पना और फिर गहमरी के जासूसी उपन्यासों में जीवन की स्वाभाविक सम्भावनाओं की ओर गति स्पष्ट लक्षित होती है। प्रेमचन्द में आकर उसने जीवन की ठोस यथार्थ धरती पर अपने पैर टिका दिए।

प्रेमचन्द के हाथों उपन्यास कला के दोनों पक्ष—भाव पक्ष एवं कलापक्ष, समान रूप से सबल और परिष्कृत हुए। उनके उपन्यासों में विशाल-विस्तृत जन जीवन का चित्रण है और विशेष रूप से उन्होंने किसान वर्ग तथा मध्यम-वर्ग के जीवन की समस्याओं को अपना विषय बनाया है और उन समस्याओं से जूझते मानव की अदम्य शक्ति को उभार कर राष्ट्रीय जीवन में उमड़ते सैलाव को एक नयी शक्ति, नया वेग और उत्साह प्रदान किया। उस समय राष्ट्रीय जागरण में पुरानी समाज व्यवस्था, शासन एवं आचार-विचार में निश्चित क्रान्ति का स्वर गूँजने लगा था। जनता की चेतना एक नयी करवट ले रही थी। नगरों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना और गाँवों में किसान-जमीदार संघर्ष उभर रहे थे। राष्ट्रीय मुक्ति के साथ-साथ ही जनता में वर्ग चेतना के बीज भी अंकुरित हो चले थे। और जनता संगठित रूप से एक देश व्यापी सामन्त एवं साम्राज्य विरोधी संघर्ष की ओर सचेत रूप से बढ़ रही थी। प्रेमचन्द ने उस मुखरित युग संघर्ष के सत्य से साहित्यिक तादात्म्य स्थापित कर उसे कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की। प्रेमचन्द के उपन्यास उसी चेतना के उपन्यास हैं।

आरम्भ में प्रेमचन्द की चेतना आदर्शवादी थी और उन्होंने अपने आरम्भिक उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करने का कृत्रिम प्रयास किया है। किन्तु वे एक सच्चे कलाकार थे और उन्होंने चेतन रूप से समग्र भारतीय-जीवन के यथार्थ का चित्रण किया है; और

समय के साथ उनकी चेतना पर से भी आदर्श का रंग हटता गया और उनकी वस्तु-निष्ठा आदर्श से यथार्थ की ओर प्रगति करती रही और 'गोदान' में आकर वे एक सच्चे यथार्थवादी कलाकार के रूप में सामने आए। ' 'प्रेमा' से लेकर 'गोदान' तक उनकी उसी चेतनागत प्रगति का क्रमिक विकास देखने को मिलता है।'

प्रेमचन्द का पहला उपन्यास 'हम खुर्मा व हम सबाब' (प्रेमा) है—(सन् १९०४); दूसरा उपन्यास 'जलवए ईसार' (वरदान) है—(सन् १९१२)। उन दिनों वे 'नवाबराय के नाम से उर्दू में लिखा करते थे। हिन्दी में उनका पहला उपन्यास 'सेवा-सदन' है जो सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 'प्रेमाश्रम' (१९२१); 'रंगभूमि' (१९२२); कायाकल्प (१९२४); 'निर्मला' (१९२८); 'प्रतिज्ञा' (१९२९); 'गबन' (१९३१); 'कर्म भूमि' (१९३२) और 'गोदान' (१९३६) प्रकाशित हुए। 'गोदान' के बाद उन्होंने 'मंगल सूत्र' नाम से एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था जो अपूर्ण रह गया। वह अपूर्ण ही अब प्रकाशित हो गया है।

'सेवा सदन' कला की दृष्टि से प्रेमचन्द का पहला प्रौढ़ उपन्यास है। उसमें मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बनाओं सामाजिक आस्थाओं के खोखलेपन का विशद, मार्मिक एवं यथार्थ चित्रण है। सामाजिक विषमता के विरुद्ध संगठित चेतना-स्वर उसमें मुखरित हुआ है। 'प्रेमाश्रम' में सामाजिक क्षेत्र के साथ-साथ प्रेमचन्द ने राजनीतिक जीवन की अव्यवस्था को भी अपना विषय बनाया। उसमें किसानों की बुरी दशा, उन पर जमींदार और सरकारी अमलों का अत्याचार और शोषण न्याय की रामनामी में अन्याय आदि का विशद एवं मार्मिक यथार्थ चित्रण है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द की दृष्टि क्रमशः घर (प्रेमा), समाज (सेवा सदन) से आगे बढ़कर देश (प्रेमाश्रम) में प्रसरित हो जाती है। इसमें वर्ग-चेतना भी स्पष्ट हो चलती है और किसान तथा जमीदार वर्ग की वर्गगत विषमताएँ अपने सत्य रूप में उसमें चित्रित हुई हैं। 'रंगभूमि' में विषय-क्षेत्र और दृष्टि और भी व्यापक होती है और उसमें सामन्तवादी और साम्राज्यवादी वर्ग विषमताओं और बिडम्बनाओं का यथार्थ चित्रण हुआ है, तथा राष्ट्रीय मुक्ति का स्वर अत्यन्त स्पष्ट एवं और भी सबल एवं उच्च स्वर से मुखरित हुआ है। सन् १९२०–२१ का राष्ट्रीय आन्दोलन उस उपन्यास की पृष्ठभूमि में था। इन उपन्यासों में क्रमशः उनकी कला भी प्रौढ़ होती गई है।

इसके बाद 'कायाकल्प' से लेकर 'कम भूमि' तक उनकी चेतनागत

प्रगति का वेग थोड़ा मन्द रहा, पर कला और भी प्रौढ़तर होती गई। 'काया-कल्प' में उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति बलवती हो उठी है। इससे उन्होंने योगाभ्यास, पुनर्जन्म और कायाकल्प को अपना विषय बनाया है। 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह और अनेमल-विवाह की समस्याओं तथा विमाता की मनोगत समस्याओं का चित्रण हुआ है। 'प्रतिज्ञा' में विधवा-विवाह की सामाजिक समस्या उपन्यास का विषय बनी है। 'गबन' में पुनः मध्यवर्गीय समाजगत विडम्बनाओं का चित्रण है। इन उपन्यासों में समाज की किसी एक समस्या को लेकर उसके परिणामों का यथार्थ चित्रण किया गया है। 'कर्म भूमि' में पुनः राजनैतिक क्षेत्र में प्रेमचन्द ने प्रवेश किया और सन् १९३०–३१ का असहयोग आन्दोलन उसकी चेतनागत पृष्ठ-भूमि बना। राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सन् १९२०–२१ के आन्दोलन के बाद राष्ट्रीय चेतना समाजोन्मुखी हो गई थी और सन् १९३०–३१ में पुनः उसमें एक बेगवान प्रवाह आया और कांग्रेस ने पूर्ण स्वाराज्य का नारा दिया। प्रेमचन्द का विकास-क्रम भी इसी के समानान्तर चलता दृष्टिगोचर होता है। 'गोदान' में आकर प्रेमचन्द की चेतना और प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। 'वह प्रेमचन्द का ही नहीं उस समय तक हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है।' इस उपन्यास में उनकी चेतना आदर्शवादिता पर अन्तिम विजय प्राप्त कर संघर्षशील यथार्थ के प्रकाश में जगमगा उठी है। उन्होंने वर्ग विषमताओं का तीखे और सचेत स्वर में चित्रण किया। उनका नायक होरी संघर्षों से अनवरत जूझता अपनी मर्यादाओं पर अडिग रहता है, पलभर को भी नहीं झुकता। वह किसान वर्ग का बेजोड़ प्रतिनिधि चरित्र है। 'गोदान' निःसन्देह विश्व के उत्कृष्टतम उपन्यासों में स्थान पाता है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द की उपन्यास कला भी अपने विकास के चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के सारे ही पात्र प्रतिनिधि चरित्र हैं। उनके चरित्रों में इतनी व्यापकता है कि वे व्यक्तिगत सीमा से ऊपर उठकर समष्टिगत प्रतिनिधित्व करने लगते हैं। इस प्रकार के चरित्रों के निर्माण में प्रेमचन्द की कला बेजोड़ है। कथा इतनी सजीवता से विकसित हुई है कि वह अपने घात प्रतिघातों से स्वतः विकासशील होती है, लेखक के इंगित पर नहीं। कथा गुम्फन भी बेजोड़ है।

कहानियाँ :—

प्रेमचन्द कहानीकार के रूप में भी हिन्दी साहित्य में अपना उत्कृष्टतम स्थान रखते हैं। उपन्यासों की ही तरह उनकी कहानियों का

क्षेत्र भी किसान वर्ग तथा मध्यमवर्ग है और उनकी समस्याएँ ही कहानियों का विषय बनी हैं। कहानियों के पात्र भी अपने प्रतिनिधि रूप में चित्रित हुए हैं। प्रेमचन्द के हृदय में जनता से ऐसा लगाव था कि वे सहज में ही उसके हृदयों में पैठकर उसकी भावनाओं को सहज अभिव्यक्ति प्रदान कर सकते थे। उनकी सभी कहानियों में दलित जनता का स्वर मुखरित हुआ है और सभी में ऐसे मानव का प्रतिनिधि चरित्र उभरा है जो अदम्य है, संघर्षों से जूझता है, हारता नहीं। उन्होंने अपनी कहानियों में जीवन यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। वह खंड जीवन नहीं, सम्पूर्ण मानव जीवन के चितेरे थे। अस्तु, उनकी कहानियों में मानव जीवन में अनवरत चले आये जुझावपन की दृढ़ता है, मार्मिक सहानुभूति करुणा और आगे बढ़ते चलने की सजीव प्रेरणा है। उन्होंने अपनी कहानियों में हर वर्ग के पात्रों की जीवनगत समाजगत एवं देशगत समस्याओं का चित्रण किया है और हर शैली की कहानियाँ लिखी हैं, हर रूप का उन्होंने उपयोग किया है। उन्होंने घटनाप्रधान, चरित्रचित्रण प्रधान, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आदि सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। सभी प्रकार की कहानियों में उनकी शैली मूलतः यथार्थवादी ही रही है। उपन्यास तथा उनकी कहानियों की शैली को एक शब्द में यथार्थवादी शैली कह सकते हैं।

उपन्यासों की तरह उन्होंने कहानियाँ भी प्रथमतः उर्दू में ही लिखना आरम्भ की थीं। उर्दू में उनकी पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजेवतन' सन् १९०७ में ही प्रकाशित हो चुका था जिसे सरकार ने जब्त कर लिया था और उसकी सारी प्रतियाँ जलवा दी थीं। उन्होंने कुल मिलाकर लगभग ३०० से अधिक कहानियाँ लिखीं हैं, जो लगभग पच्चीस संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी कहानियाँ हिन्दी में तो अपना सानी नहीं रखती, वरन् विश्व-साहित्य में भी उनकी अनेक कहानियाँ उत्कृष्ट स्थान रखती हैं। उनकी 'पंचपरमेश्वर'; 'आत्माराम'; 'बड़े घर की बेटी'; 'शतरंज के खिलाड़ी'; 'बज्रपात'; 'रानी सारन्धा'; 'अलग्योझा'; 'ईदगाह'; 'सद्गति'; 'अग्निसमाधि'; 'कामनातरु'; 'पूस की रात'; 'सुजान भगत'; 'कफन' आदि ऐसी ही श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

प्रेमचन्द उपन्यास तथा कहानियाँ दोनों ही के कला मर्मज्ञ थे। दोनों में ही घटनाक्रम, चरित्र-विकास, वातावरण सृजन, कथोपकथन की सजीवता में उनकी कला अपूर्व है।

उनके उपन्यासों और कहानियों की भाषा-शैली भी हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। जिस रूप में उन्होंने जन साधारण के जीवन को अपनी कहानियों और उपन्यासों का विषय बनाया और उनके दैनन्दिन

जीवन और उसमें उठने वाली समस्याओं का चित्रण किया, उसी प्रकार उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों की भाषा के लिए भी जन-साधारण की नित्य-प्रति बोली जाने वाली भाषा को ही चुना। उनकी भाषा जन-साधारण की भाषा है, पर उसमें साहित्यिक सौंदर्य, सौष्ठव और कला परिष्कार भी है। उसमें अपूर्व सजीवता है, जो उनके विशाल-व्यापक जीवन के उपन्यासों और कहानियों को और भी व्यापकता प्रदान कर उन्हें हिन्दी भाषा-भाषी जनता का प्रतिनिधि साहित्य होने का गौरव प्रदान कर देती है।

---

(७)

जयशंकरप्रसाद

प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी थी, किन्तु उनकी प्रतिभा का जैसा उत्कर्ष नाट्यकार और कवि के रूप में हुआ वैसा उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में नहीं। परिमाण में भी उनका कथा-साहित्य अपेक्षाकृत कम है। उनके उपन्यासों की अपेक्षा उनकी कहानियाँ अधिक प्रभावशाली और उत्कृष्ट हैं।

प्रसाद ने केवल दो उपन्यास ही लिखे हैं—'कंकाल' (सन् १९१९) और 'तितली' (सन् १९३४)। उनका तीसरा उपन्यास 'इरावती' अधूरा ही रह गया। उनके उपन्यासों में एक निश्चित उद्देश्य की कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है और उपन्यासों में उनकी शैली नाटकों से भिन्न यथार्थ चित्रण के निकट है। 'कंकाल' में सामाजिक चक्रव्यूह में ग्रसित आक्रान्त मानव के उत्थान-पतन का यथार्थ चित्रण है। धर्म के नाम पर हमारे समाज में कितनी जघन्य कुत्सा को आश्रय मिल रहा है यही इस उपन्यास का मूल विषय है। तथाकथित सभ्यों के रामनामी के बुर्के को चीर कर प्रसाद ने उनके असली घृणित रूप को समाज के सामने नग्न कर दिया है और समाज की जर्जरावस्था का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। निरंजन, मंगलदेव जैसे ढोंगी अपने को समाज का कर्णधार बनने वाले व्यक्तियों के अत्याचारों की शिकार किशोरी, तारा, रामा आदि का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। यह चित्रण अपने में प्रतिनिधित्वपूर्ण विशेषता रखता है, जो समाज की वास्तविकता को चित्रित कर देता है। यह चित्रण समाज के प्रति विद्रोह की प्रेरणा देता है, उससे घृणा पैदा करता है, निराशा उत्पन्न नहीं करता। वास्तव में 'कंकाल' सामाजिक कंकाल का सत्य रूप है।

'कंकाल' में प्रसाद ने जीवन की जिन जघन्यताओं का चित्रण किया है उसकी तुलना में प्रसाद ने आदर्श रूप में 'तितली' को प्रस्तुत किया है। 'तितली'

'कंकाल' का पूरक सा प्रतीत होता है। इस उपन्यास में भारतीय आदर्श को उसके उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें लेखक ने नर-नारी के पवित्र एवं सुसम्बन्धों को दाम्पत्य जीवन के आदर्श रूप में चित्रित किया है। इस उपन्यास की नायिका 'तितली' मधुवन मे बिछुड़ जाती है, पर जीवन की कटुताओं का साहस के साथ सामना करती अपने आदर्श-पथ से विचलित नहीं होती। उस आदर्शात्मक चित्रण के साथ-साथ लेखक की दृष्टि सामाजिक यथार्थ पर भी रही है। उसने उसकी समस्याओं को भी यथास्थान चित्रित किया है और समाज के दोनों पक्षों—सुपक्ष और कुपक्ष को तुलनात्मक रूप से उपन्यास के रचना-तन्त्र में कसा है, जिससे मानव की उदात्तता उभर कर स्पष्ट हो गई है। दोनों ही उपन्यास मानव की उदात्त मानवीय भावनाओं के प्रेरक हैं।

'इरावती' का कथानक ऐतिहासिक है, पर वह पूरा न हो सका; अस्तु उस पर कुछ कहना संगत न होगा।

'कंकाल' की कथा व्यंग-प्रधान है। धर्म की ओर से हो रहे पापाचार और समाज के तथाकथित नक़ूशाहों पर करारे व्यंग प्रहार हैं। उस उपन्यास में प्रसाद की व्यंगात्मक शैली अत्यन्त सफल रही है। व्यंग कथा के गर्भ से कथा का एक अंग बनकर पात्रों के जीवनगत विरोधों को स्पष्ट करता हुआ और उनकी असलियत को साफ करता हुआ उभरा है। इस उपन्यास में पुरुष पात्रों से प्रसाद को विशेष शिकायत है। सभी पुरुषपात्र 'ऊपर से कुछ, भीतर से कुछ' रूप में चित्रित हुए है। नारी पात्रों के प्रति उनकी सहज सहानुभूति उभड़ी है। तितली में भी नारी पात्रों की महानता का ही चित्रण हुआ है। प्रसाद के समस्त साहित्य—क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या नाटक या कविता सभी में नारी करुणा, सहानुभूति, दया, सुचरित्रता आदि की प्रतिमूर्ति है। उसे पतन के मार्ग पर ले जाने वाला पुरुष है। सदियों से समाज में नारी का स्थान दलित रहा है और वह पुरुष की अवहेलना का पात्र रही है। प्रसाद ने उसके विद्रोह को स्वर दिया है। वे कहते हैं—"देखो समाज के उस पतित दलित अंग की ओर भी देखो। तुम्हारी अवहेलना से कितनी महत्ता नष्ट हुई जा रही है। जिनको तुम पतित कहकर ठुकराते हो, उनको सहानुभूति की दृष्टि से देखो तो मालूम होगा कि वह उनसे भी महान हैं, जिन्हें तुम महान समझते हो।" इस प्रकार उनके उपन्यासों में मानवता का स्वर मुखरित हुआ है और उस मानव का चित्रण हुआ है जो समाज के चक्र में पड़कर कराहता और उससे मुक्ति के लिए छटपटाता है। प्रसाद ने उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रसाद एक मानवतावादी कलाकार थे। उनके समस्त साहित्य में वह स्वर सुनाई पड़ता है। प्रसाद के उपन्यास प्रमुखतः चरित्रप्रधान उपन्यास

हैं और कथानक का गुम्फन चारित्रिक विशेषताओं को उभारने की दृष्टि से ही किया गया है। लेखक ने परिस्थितियों का निर्माण भी इसी दृष्टि से किया है। यह चरित्र चित्रण सोद्देश्य है और उसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त कथा की गति चलती है। उसका संचालन सूत्र लेखक के हाथ में रहता है। इस कारण कथागति में स्वतः प्रवाहशीलता नहीं है, वह लेखक के इंगित के भरोसे है। यही हाल पात्रों के चरित्र विकास में है। उनका चरित्र भी लेखक द्वारा अपने मस्तिष्क द्वारा पूर्व निश्चित और पहले से सोचकर गढ़े रूप में ही चलता है। पात्रों पर लेखक के पूर्वा ग्रहों का रंग स्पष्ट है। यह प्रसाद के उपन्यासों का कलात्मक दोष है। लेखक जब जैसा चाहता है वैसी परिस्थिति प्रस्तुत कर देता है; जहाँ आवश्यक समझता है पात्रों को मिला देता है। उपन्यासों के अनेक नाम भावात्मक हैं—जैसे तितली, मधुवन, आदि। यह उनके उपन्यास के पात्रों पर उनकी कविता का प्रभाव है। इन उपन्यासों में यद्यपि सामाजिक कुत्सा का यथार्थ चित्रण हुआ है पर वह चित्रण अपने में कहीं भी पाठक के हृदय में कुत्सा को जन्म देने वाला नहीं हुआ है वरन् उस कुत्सा से घृणा ही उत्पन्न करता है। उनमें यथार्थ चित्रण के साथ आदर्श का संकेत भी व्यंजित है। उनके यथार्थ को हम आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद कह सकते हैं। प्रसाद ने आदर्श और यथार्थ के समन्वय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भो उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत और आनन्द-पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।" यह चेतना बहुत कुछ प्रेमचन्द की चेतना से मेल खाती है।

प्रसाद के उपन्यास और कहानियों के कथानकों के विन्यास में नाटकीयता है। 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' कहानियों में उसके सुन्दर उदाहरण हैं। कथा में आदि से अन्त तक एकसूत्रता है, कहीं पर भी शिथिलता नहीं है। पात्रों का चित्रण अपने प्रतीक रूप में हुआ है। उनमें भावुकता अधिक है। इस कारण उनका प्रतीक रूप अपनी व्यक्तिगत सीमा में ही आवद्ध रह गया है। उसमें प्रेमचन्द के पात्रों का व्यापक प्रतिनिधित्व नहीं आ पाया। प्रसाद के पात्र समाज के प्रतिनिधि रूप होते हुए भी चारित्रिक वैचित्र के रूप ही अधिक रहे।

प्रसाद ने उपन्यासों की अपेक्षा कहानियाँ अधिक लिखी हैं और उनमें वे अपेक्षया सफल भी अधिक रहे हैं। उनकी कहानियों के पाँच संग्रह प्राप्य हैं—'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आंधी' और 'इन्द्रजाल'। विषय की दृष्टि से प्रसाद ने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। कुछ ऐतिहासिक कहानियों के कथा और पात्र ऐतिहासिक-सत्य न होकर

काल्पनिक हैं। वे ऐतिहासिक हैं क्योंकि उनका वातावरण लेखक ने ऐतिहासिक निर्मित किया है—जैसे 'आकाशदीप', 'नूरी', 'सालवती', 'ममता' आदि। शैली की दृष्टि से प्रसाद ने मनोविश्लेषणात्मक, भावात्मक, चरित्रप्रधान, घटनाप्रधान आदि सभी प्रचलित रचनातन्त्रों का उपयोग किया है जिनमें उन्होंने वर्णन शैली, नाटकीय शैली, विश्लेषणात्मक शैली और भावात्मक रचना शैली का प्रयोग किया है, किन्तु सामान्यतः हम उनकी सभी कहानियों को भाषा शैली की दृष्टि से गद्य-काव्यात्मक शैली के अन्तर्गत रख सकते हैं। प्रसाद मुख्यतः एक छायावादी कवि थे। उनके कवि हृदय का उनके उपन्यासों और कहानियों पर भी प्रभाव पड़ा है, विशेषकर भाषा पर। स्थान स्थान पर भावपूर्ण काव्यात्मक दृश्य-चित्रणों में लेखक अटक जाता है, कथा पीछे पड़ जाती है। पात्रों के मनोगत भावों और परस्पर संवादों से भी ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे कविता कर रहे हैं। भाषा काव्यमय होने के साथ संस्कृत बहुला है। उसमें यद्यपि प्रवाह तो असीम है पर कथा को गति देने की क्षमता नहीं है, वह अपनी ही छटा बिखेरती पाठक को विभोर करती चलती है। भाषा कथा का सौन्दर्य वर्धक नहीं, वरन् स्वयं सुन्दर है, जो पाठक का मन कथा सूत्र से भटका कर अपने सौन्दर्य जाल में ही रमा लेती है। किन्तु उनके उपन्यासों में और सामाजिक कहानियों की भाषा अपेक्षाकृत सरल और जन-सुलभ हैं।

प्रसाद मानव की अन्तरवृत्तियों के चितेरे हैं। उनका यह रूप नाटकों और कविताओं की तरह उपन्यासों और विशेषकर कहानियों में प्रस्फुटित हुआ है। मानव मन के अन्तरद्वन्द्वों के आश्रय से वे सदैव मानव-अन्तःसौन्दर्य को उभार कर चित्रित करने में प्रयत्नशील प्रतीत होते है; और निःसन्देह उसमें वे अपने उपन्यासों और कहानियों में सफल भी हुए हैं।

---

(८)

विश्वम्भर नाथ 'कौशिक'

प्रेमचन्द की पीढ़ी के उपन्यासकारों में कौशिक का एक सम्मानित स्थान है। उपन्यासों की अपेक्षा आपने कहानियाँ अधिक लिखी हैं और कहानी-कला में आप सफल भी अधिक हुए हैं। आपने केवल दो उपन्यास ही लिखे हैं—माँ और भिखारिणी। दोनों ही उपन्यासों का क्षेत्र समाज का विस्तृत सीमान्त है। लेखक ने एक मूल कथा का आधार लेकर प्रासंगिक रूप से समाज के

अनेक कोनों को झाँका है और उनका सजीव, अनुभूतिपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया है। कौशिकजी के कथानकों में एक मार्मिक संवेदना का अभूतपूर्व समावेश होता है; और यह विशेषता उनके उपन्यासों और कहानियों दोनों में समान रूप से पाई जाती है। वे पात्रों के जीवन की परिस्थितियों, उनके मनोगत भावों, उनके जीवन के बाह्य एवं आन्तरिक संघर्षों, उनकी प्रवृत्तियों, चारित्रिक विशेषताओं का ऐसा सजीव चित्रण उपस्थित करते हैं कि पात्र तथा परिस्थितियाँ एवं घटनाएँ हमारे सामने मूर्तिमान हो उठती हैं। पात्रों का चरित्र उनके दैनन्दिन संघर्ष और नित्यप्रति की घटनाओं के सहारे स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। उनके चरित्र-चित्रण में पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन, उपन्यास का वातावरण एवं परिस्थितियाँ, घटनाएँ ही मूल सहायक बनी हैं, जिनकी सहायता से अत्यन्त स्वाभाविक रूप से पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं की परतें खुलती जाती हैं और पात्रों का अन्तर कथागर्भ से उद्भासित हो जाता है। लेखक कहीं पर भी अपनी ओर से पात्रों के चरित्र पर प्रकाश नहीं डालता। पात्रों का चरित्र-चित्रण आदर्शोन्मुख है, पर वह कहीं पर भी यथार्थ की वास्तव-भूमि को नहीं छोड़ता। सारे पात्र जीवन के यथार्थ चित्र हैं। पात्र अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ लिए हुए भी समाज के प्रतिनिधिरूप में चित्रित हुए हैं। वे पाठकों पर मर्मस्पर्शी और संवेदनीय स्थायी छाप छोड़ते हैं।

दोनों ही उपन्यासों की कथावस्तु का गठन अत्यन्त सरल रूप से हुआ है। उसमें प्रासंगिक कथाओं का दुरुह जाल नहीं बुना गया। एक ही मुख्य कथा आरम्भ से अन्त तक चलती है और जो भी प्रासंगिक कथाएँ आती हैं वे मूल कथा से गुथी हुई हैं। प्रेमचन्द के गोदान में एक साथ दो कथाएँ सी चलती प्रतीत होती हैं, जो अलग-अलग दो उपन्यासों की कथा बनी प्रतीत होती हैं। 'माँ' में दो माँओं का तुलनात्मक चरित्र हिन्दी साहित्य में अपनी सानी नहीं रखता। 'भिखारिणी' में नारी जीवन की निर्धनताजन्य विडम्बनाओं का सजीव चित्रण है। 'भिखारिणी' की 'जस्सों' में कौशिकजी ने भारतीय नारी के आदर्श-प्रेम और त्याग की प्रतिष्ठा कर उसके चरित्र को अभूतपूर्व बना दिया है। दोनों ही उपन्यासों में प्रासंगिक रूप से सामाजिक यथार्थ का भी सुन्दर चित्रण हुआ है।

आप कहानी लेखक के रूप में उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक सफल हैं। आपकी पहली कहानी 'रक्षा बन्धन' सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी। उसके पहले आप उर्दू में लिखते थे। आपकी कहानियों का कथानक भी उपन्यासों की भाँति ही सामाजिक है। कहानियों में आप पात्रों के मनोगत-

भावों को मूर्तिमान करने में अधिक सफल हुए हैं। सामाजिक कहानियों में समाज-सुधार की भावना ओतप्रोत है, पर वह कहानियों की कला को दबा नहीं देती। आपने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं, पर आपके केवल दो कहानी संग्रह—'गल्प मन्दिर' और 'चित्रशाला' नाम से प्रकाशित हुए हैं। आपने हास्य विनोद से युक्त कहानियाँ भी लिखीं हैं। हास्य विनोद से भरी आपकी 'दुबेजी की चिट्ठियाँ' बड़ी प्रसिद्ध हुई थीं। कौशिक जी के उपन्यासों में शिथिलता नहीं आने पाई है। कथावस्तु में सुश्रृङ्खला है, सहज विकासशीलता है और गठाव की चुस्ती है।

आपकी सबसे प्रसिद्ध कहानी 'ताई' है जिसमें स्त्री के हृदय में माँ बनने की लालसा, अपने बच्चे के प्रति ममत्व और अन्य के बच्चे के प्रति एक पराए-पन की भावना का अत्यन्त हृदयग्राही चित्रण किया है और अपने बच्चे की लालसा और ममत्व से बच्चे मात्र की ओर उन्मुख कर माँ के प्यार की संकीर्ण-ताओं और स्वार्थों पर बच्चे मात्र से प्रेम की व्यापक ममत्व भावना की प्रतिष्ठा की है।

आपके उपन्यासों में जीवन का एक महान आदर्श उपन्यासों के पात्रों के चारित्रिक विकास का सम्बल बनता है, जो पाठक के मन-प्राण को भी अभि-भूत कर उसे उदात्तता की ओर अग्रसर होने की सहज प्रेरणा देता है। यह आदर्श लेखक उपदेशों के रूप में नहीं प्रस्तुत करता, वरन् कथा-गति के साथ ही उसका सहज उद्घाटन होता है। आपके उपन्यासों के कथोपकथन अत्यन्त सजीव बन पड़े हैं। उनमें चुस्ती और लाघवता है। कथोपकथनों की भाषा-शैली अत्यन्त सरल और प्रौढ़ है। भाषा में आप प्रेमचन्द के सफल अनुयायी हैं। आपने अपने उपन्यासों और कहानियों में बोलचाल की साधारण भाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है।

आपके दो उपन्यास ही हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में आपको अमर करने के लिए पर्याप्त हैं। जैसा हमने पहले कहा कि दोनों ही सामाजिक उपन्यास हैं।

कलाकार की दृष्टि से भले ही आप प्रेमचन्द की कोटि के उपन्यासकार और कहानीकार न हों पर ऐतिहासिक दृष्टि से आपका जो महत्व है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

(६)

चतुरसेन शास्त्री

उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ का चित्रण तो प्रसाद, प्रेमचन्द और कौशिक से ही आरम्भ हो गया था; किन्तु वह यथार्थ स्वस्थ यथार्थ था; जो सामाजिक गलन को स्पष्ट कर उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन करने की प्रेरणा पाठकों को प्रदान करता था। किन्तु उस यथार्थ के नाम पर मात्र सामाजिक कुत्साओं और सामाजिक दुराचारों का ऐसा वर्णन जो, स्वयं पाठकों के मनोरंजन का विषय बन जाय; चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों का विषय बना। उनके यथार्थ का आनन्द विकृत प्रवृत्ति का पाठक चटखारे लेकर करता है; वह उससे छुटकारा पाने या समाज-जीवन को उस गन्दिगी से मुक्त करने की प्रेरणा नहीं ग्रहण करता। परिणामतः जहाँ प्रेमचन्द के यथार्थवादी उपन्यास वृत्ति संस्कारक और उदात्त भावनाओं के प्रेरक हैं, वहाँ शास्त्री जी के उपन्यास पाठकों की प्रवृत्तियों को और भी विकृत करने वाले होते हैं। नग्न यथार्थ भले ही समाज के जघन्यतम दृश्यों की सच्ची तस्वीर उपस्थित करते हों, पर ऐसा तो नहीं कि समाज में सब कुछ घृणित ही हो, आकर्षक कुछ भी नहीं। नग्न यथार्थवादी लेखक जिन्हें प्रकृतवादी भी कह सकते हैं समाज के घृणित पक्ष को ही उभार कर सामने रखते हैं, जो पाठकों के मन में समाज के प्रति एक जुगुप्सा उत्पन्न करते हैं और उस भावना को उनके हृदय में जन्म देते हैं, कि यह समाज तो जीने योग्य नहीं। स्वस्थ यथार्थ में उसके दोनों पक्षों का चित्रण होता है जो अन्त में पाठक के हृदय में समाज के घृणित अंग को काट कर फेंक देने का साहस, मनोबल और प्रेरणा उत्पन्न करता है। शास्त्री जी और प्रेमचन्द, प्रसाद तथा कौशिक के उपन्यासों में यही अन्तर है। शास्त्री जी को प्रकृतवादी उपन्यासकार कह सकते हैं। ऐसे लेखक चाहे-अनचाहे रूप में साहित्य में अश्लीलता के पोषक बन गए और अनेक उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार तथा कवि उस प्रवृति के हिन्दी साहित्य में हैं

शास्त्री जी ने अपने उपन्यासों में प्रकृतवादिता से बचने के लिए उसमें आदर्श का समावेश भी किया है; पर वह उपन्यास की मूल धारा से अलग पड़ बड़ा अस्वाभाविक और कृत्रिम सा हो गया है। प्रकाश, श्यामबाबू, सुशीला, मुकुट अपने जीवन में जिस आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं, वह भी इसीलिए नितान्त काल्पनिक एवं अस्वाभाविक आदर्श हो गया है। नग्न कुत्सित यथार्थ को कथा का आधार बनाना और साथ ही जन कल्याण की भावना से भी चिपके रहना साहित्य में उसी प्रकार की अस्वाभाविकताओं को जन्म देता

है। शास्त्री जी के सारे ही उपन्यासों में यह दोष सामान्य रूप से पाया जाता है।

आपने 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा', 'आत्मदाह' और 'वैशाली की नगर बधू' नामक उपन्यास लिखे हैं। 'अमर अभिलाषा' में लेखक ने 'विधवा-विवाह की सामाजिक समस्या को उपन्यास की कथा का आधार बनाया है और आधुनिक शिक्षा की खिल्ली उड़ाई है। इस उपन्यास में लेखक ने भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती आदि विधवाओं के जीवन की कथाओं का जमघट लगा दिया है, किन्तु चरित्रों में मर्मस्पर्शी संवेदना का चित्रण नहीं हो पाया है। सब का चरित्र चित्रण बड़ा ही सतही है। सभी विधवाएँ वासना की पुतली हैं और साथ ही दिखावे में इन्द्रिय निग्रह में प्रयत्नशील हैं। गाँव की वृद्धाओं का चित्रण अपेक्षया अधिक सुन्दर बना है। कथा बड़ी बिखरी हुई और शिथिल है। 'आत्मदाह' की कथा में भी शिथिलता और विशृङ्खलता है। उपन्यास से लेखक किस अभीष्ट की सिद्धि करना चाहता है यह स्पष्ट नहीं हो पाता। घटनाओं का समावेश अस्वाभाविक है और उनमें एक सूत्रता भी नहीं है। उपन्यास के नायक सुधीन्द्र के जीवन-अन्त से जो अपने जीवन भर कष्टों में ही रहा पाठक पर ऐसा निराशावादी प्रभाव पड़ता है कि यह जीवन जीने योग्य नहीं है। उसे समस्त मानवता से घृणा हो उठती है। कथा सम्बन्धी भूलें तो इस उपन्यास में अनेकों हैं। कहीं रामजस के स्थान पर राजाराम और राजेन्द्र के स्थान पर वीरेन्द्र छपा है। इसी प्रकार कथा प्रसंग और घटनाओं में भी भूले हैं। पृष्ठ ३६२ पर वीरेन्द्र की मृत्यु सब को द्रवीभूत कर देती है जिसमें वीरेन्द्र भी है। इस उपन्यास में दो पात्राओं का नाम सुधा रखा गया है जो कथा में बड़ी उलझन पैदा कर देता है। कला की दृष्टि से यह उपन्यास 'अमर अभिलाषा' से भी निम्नकोटि का है। बीच में राष्ट्रीय भावना का समावेश थिगली सा और अप्रासंगिक, निरर्थक एवं प्रभावहीन हुआ है। 'वैशाली की नगर बधू' आपका अन्तिम उपन्यास है। इस उपन्यास को शास्त्री जी ने अपनी सफल रचना माना है और इसके आगे उन्होंने स्वयं अपनी अन्य रचनाओं को निरर्थक माना है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह उपन्यास भी पिछले उपन्यासों से कला और भाव, किसी भी दृष्टि से आगे नहीं बढ़ पाया है। उसका कथा-आधार ऐतिहासिक है, जो ईसा से लगभग ६०० से ५०० वर्ष पूर्व का है। लेखक ने इस उपन्यास में मगध, गाँधार और अंग-प्रदेश तक की सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों को समेटने का प्रयास किया है। इससे उपन्यास का कलेवर तो बढ़ गया है पर कथासूत्र में उतनी ही

शिथिलता आ गई है। इस उपन्यास में शास्त्री जी का आग्रह समस्त प्राचीन को एक साथ उपस्थित करने का प्रतीत होता है, जो वास्तव में दुराग्रह हो गया है। प्रासंगिक कथाएँ कहीं-कहीं पर मूल कथा पर हावी हो जाती हैं। इतना सब कुछ होते भी शास्त्रीजी ने इस उपन्यास के सृजन में अधिक कौशल और सतर्कता का परिचय दिया है। इसमें सन्देह नहीं।

आपके उपन्यासों की तरह कहानियों में भी प्रकृतवादी वर्णन है, उनमें भी आपने सामाजिक कुरीतियों का खुलकर पर्दाफाश किया है। आपकी कहानियों के संग्रह 'रजकण' और 'अक्षत' नाम से प्रकाशित हुए हैं। आपने कहानियाँ उपन्यासों से अधिक सुन्दर लिखी हैं। उनमें कथा की कसावट, प्रवाह, मनोभावों का सुन्दर चित्रण, चरित्र-निखार घटना-योजना और कला का परिष्कृत रूप है। 'दुखवा कासों कहों मोरी सजनी', 'दे खुदा की राह पर', 'भिक्षुराज', 'ककड़ी की कीमत' आदि आपकी हिन्दी साहित्य की अति प्रसिद्ध और उत्कृष्ट कहानियाँ हैं।

आपकी भाषा के सम्बन्ध में किसी की दो राएँ नहीं हो सकतीं। आपकी भाषा सुष्ठ, प्रांजल, प्रवाहशील और प्रभावमयी है। उसमें भावों की अभिव्यंजन करने की शक्ति अपूर्व है। भाषा संस्कृत निष्ठ होते हुए भी दुरूह नहीं है। अन्य भाषाओं से भी उसने अपनी भाषा को सजाया है।

---

(१०)

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

गुलेरी जी ने केवल तीन ही कहानी लिखी थीं, और उनमें से केवल एक ही कहानी—'उसने कहा था' के बल पर हिन्दी साहित्य में आपका स्थान अमर है। एक कहानी के बल पर ही यह अमरपद प्राप्त करना निश्चय असाधारण प्रतिभा का काम है और हिन्दी साहित्य में ही नहीं विश्व-साहित्य में भी आप ही एक ऐसे कहानीकार हैं, जिन्होंने एक कहानी के द्वारा ही साहित्य में इतना ऊँचा स्थान बना लिया है।

आपने जिस समय कहानियाँ लिखना आरम्भ किया था, उस समय तक कहानी क्षेत्र में प्रसाद की कहानी 'ग्राम', प्रेमचन्द की कहानी 'पंचपरमेश्वर', कौशिक की 'रक्षाबन्धन' और राधिका रमण प्रसादसिंह की 'कानों का कंगना' आदि पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। गुलेरी जी की प्रथम कहानी

है—'सुखमय जीवन', दूसरी है—'बुद्धू का काँटा', और तीसरी है—'उसने कहा था।' इन तीनों कहानियों में गुलेरी जी की कहानी कला छलाँग मारती हुई चली है। इसी प्रकार यह भी कहा जाय तो सत्य ही है कि आरम्भ से ही हिन्दी कहानी का उदय एक प्रकाशपुंज के साथ हुआ था और उसकी कला छलाँग मारती हुई आगे बढ़ी। इतना महान आरम्भ जैसा हिन्दी कहानियों का हुआ वैसा और किसी साहित्य की कहानियों का उदय शायद ही हुआ हो।

'सुखमय जीवन' में जीवन को सुखमय बनाने के लिए सतत् प्रयत्नशील युवक और उसके प्रयत्नों की बाधाओं का बड़ा ही विशद और सजीव चित्रण हुआ है। यह कहानी युवक वर्ग की समस्याओं की कहानी है, जो शिक्षा प्राप्त तो कर लेते हैं पर जीवनानुभव के अभाव के कारण जिन्हें जीवन को सुखमय बनाने में नाना बाधाओं का सामना करना पड़ता है। अन्ततः युवक संघर्ष की कठोर चट्टानों से टकरा कर अनुभवशील बनता है और जीवन में सुख प्राप्त करता है। आपकी दूसरी कहानी 'बुद्धू का काँटा' में भी इसी प्रकार के एक अनुभवहीन युवक के जीवन की कहानी है। 'उसने कहा था' में गुलेरी जी की कला अपने चरम विकास पर पहुँच गई है। इस कहानी में प्रेम और त्याग के बीच विश्वयुद्ध की विभीषिका का वर्णन है। इस प्रकार यह कहानी अन्य विशेषताएँ रखते हुए विश्वशान्ति की एक प्रबल पक्षधर कहानी है। विश्वशान्ति के लिए इसकी व्यंजना आज भी उतनी ही बलवती है। यह कहानी लेखक की अन्तराष्ट्रीय चेतना की द्योतक है और उस युग में यह चेतना निःसन्देह लेखक की असाधारण जागरुकता की परिचायक है। वर्णन शैली इतनी सजीव है कि युद्ध भूमि का वर्णन अपनी समस्त स्वाभाविकता से मंडित सजीव और आँखों देखा जान पड़ता है। वर्णन वातावरण को पाठक के सम्मुख चित्र सा उपस्थित करने की शक्ति रखता है। कहानी का आरम्भ बाल और यौवन की सन्धिकाल की आयु के लड़की-लड़के के परस्पर सहज आकर्षण से आरम्भ होती है। यह आकर्षण ही लहनासिंह को बड़ा से बड़ा त्याग करने की समर्थता प्रदान करता है और वह हँसता-हँसता अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देता है। प्रेम के लिए यह उत्सर्ग एक महान् मानवीय उदात्तता का सन्देश देता है। प्रेम के इतने पवित्र और महान रूप को चित्रित करने वाली इतनी सशक्त कहानी हिन्दी साहित्य में गिनी चुनी ही होंगी और उनमें इस कहानी का शीर्ष स्थान होगा। इस छोटी सी कहानी में लेखक ने एक साथ प्रेम, करुणा, दया, त्याग, ममता, कर्त्तव्य, देशप्रेम, विश्वप्रेम, घृणा, वीरता आदि भावों का अंकन किया है। इसमें मानव जीवन की अनुभूतियाँ हैं और हैं उन अनुभूतियों का चित्रमय सजीव वर्णन। इनके अतिरिक्त इसमें पंजाबी संस्कृति भी चित्रित हुई है।

इस कहानी की कला भी अत्यन्त प्रौढ़ है। इस कहानी में लेखक ने अपनी सशक्त भाषा शैली, रचना तन्त्र और वर्णन से मानव मन की स्थायी अनुभूतियों को अंकित किया है। कहानी में स्थान एक्य नहीं है पर अनुभूति ऐक्य उसमें गजब का है। अनुभूति तथा प्रभाव एक्य के लिए कहानी बेजोड़ है। कहानी में नाटक की भाँति पहला दृश्य आता है और अपना प्रभाव डालकर समाप्त हो जाता है और फिर उत्तरोत्तर कहानी चरम सामा पर जाकर एकाएक समाप्त हो जाती है। अन्त तक लेखक पाठक की सहानुभूति और सम्वेदना को लहनासिंह के साथ उस प्रगाढ़ रूप से बाँध देने में सफल होता है कि जब लहनासिंह मृत्युशैया पर पड़ा 'उसने कहा था' की स्मृतियों के लोक के सुखस्वप्न में विभोर हो अपने मूक उत्सर्ग की गरिमा का अनुभव करता अन्तिम सुखमय साँस लेता है तो पाठक का हृदय एक दम ठक् से रह जाता है और वह एक अजीव विह्वलता का अनुभव करता है जैसे वह उसका ही कोई आत्मीय हो। अपने नायक के साथ पाठक का इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित कर देने की शक्ति गुलेरीजी की अपूर्व विशेषता है। पाठक एकदम रसमग्न हो अपनी सामान्य अनुभूति से ऊपर एक शुद्ध भाव भूमि पर उठ जाता है, जहाँ लहनासिंह का उत्सर्गशील और कर्त्तव्यपरायण चरित्र उसे भी उदात्तता का और जीवन परिष्कार और त्याग का सन्देश देती है। कहानी के आदि और अन्त की सूत्रबद्धता अत्यन्त लाघवपूर्ण है। कहानी के बीच में हास्य-व्यंगका सृजन भी सुन्दर ढंग से हुआ है, जो कथा को गति प्रदान करता है।

गुलेरीजी ने जन-साधारण-सुलभ, चलती बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। उसमें उर्दू के शब्दों का भी योग है, जो हिन्दी के साथ घुल-मिल से गये हैं। अँग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जो वातावरण को यथार्थता प्रदान करने वाले हैं। उन्होंने अपनी भाषा को भावों का समर्थवाहन बनाने का सफल प्रयत्न किया है। उनकी शैली में एक गति और स्फूर्ति है।

गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था' में स्थायी साहित्य के तत्व हैं जो गुलेरीजी के महत्व को भी स्थायित्व प्रदान करती है। वह मानव को व्यक्तित्व-विकासका एक उच्च धरातल प्रदान करती है, जो व्यक्तित्व मानव विकास का स्थायी सम्बल है।

होता तो निःसन्देह उनके उपन्यासों में एक जान आ जाती और चेतना की जो विशृङ्खलता हमें उनमें देखने को मिलती है कि एक ओर तो वे घोर उच्छृङ्खलता का नग्न चित्रण करते हैं और दूसरी ओर नारी को सारे बन्धनों में बाँध देने की बात कहते हैं, न मिलती।

उग्र ने 'दिल्ली का दलाल', 'बुधवा की बेटी', 'चन्द हसीनों के खतूत' तथा 'जीजी जी' आदि उपन्यास लिखे हैं। कहानियाँ आपने उपन्यासों से अधिक लिखीं हैं और वे 'तेजाब की आग', 'चिनगारियाँ', 'बलात्कार' तथा 'सनकी अमीर' के संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं।

'दिल्ली के दलाल' में भले घर की बहू-बेटियों को फुसलाकर फँसाने वाले दलालों और स्त्री बेचाओं के कुकृत्यों का वर्णन है। यह वर्णन समाज के नग्न व्यभिचार को उघाड़कर स्पष्ट कर देता है। वर्णन में सच्चाई और सजीवता है, पर पाठक के हृदय में समाज की इस गन्दगी को साफ करने की उत्कट विद्रोहात्मक प्रेरणा उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव है। 'बुधवा की बेटी' का थीम भी ऐसा ही है पर उसमें उपेक्षाकृत नग्नता का वर्णन संयमित है। 'चन्दहसीनों के खतूत' में लेखक ने सामाजिक समस्या के साथ-साथ हिन्दू-मुसलिम एकता की राजनीतिक समस्या को भी उपन्यास की कथा में लिया है। इस उपन्यास की नायिका मुसलमान है—नर्गिस और नायक हिन्दू है—मुरारी। दोनों का उत्कट प्रेम-उत्सर्ग हिन्दू मुसलिम एकता का प्रतीक बना है। इस उपन्यास की वर्णन शैली रोमांचकारी है। नग्नचित्रण में अपेक्षाकृत और संयम आया है। 'जीजी जी' उपन्यास में थीम एकदम आदर्शवादी हो गई है। उसमें लेखक स्त्री स्वातन्त्र्य और स्त्री समानता और स्त्री अधिकारों का विरोध कर स्त्रियों के सम्मुख पतिपरायण नारी के आदर्श की प्रतिष्ठा करता है। पति चाहे कैसा भी हो स्त्री का धर्म है उसे देवता मानना। नग्न यथार्थ से रूढ़िवादी आदर्श की यह कुलाँच अप्रत्याशित और इस बात की द्योतक है कि उग्र सामाजिक विकृतियों में खोकर भटक गए। मानव को उदात्तता की ओर ले जाने वाला मार्ग वे नहीं खोज पाए। एक बार सामाजिक जघन्यताओं ने उग्र में ऐसी विद्रोही चिनगारी फूँकी कि वे अपना संयम खो उस जघन्यता को गला फाड़-फाड़कर सबके सामने रखने लगे और फिर सही मार्ग न पा सकने के कारण उन्हें अपने नग्न चित्रण पर स्वयं ही ग्लानि हो उठी और वे रूढ़िवादी आदर्श की ओर फिसल पड़े। चेतना का संयम वहाँ भी न रख सके।

उपन्यास कला की दृष्टि से उग्र अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी कथा वस्तु चुस्त और गठी हुई होती है, उसमें एक गति और सुश्रृंखला

होती है और चरित्र-चित्रण कथा गर्भ से उद्घाटित होता हुआ स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। घटनाएँ और कथा—गति चरित्र-चित्रण में सहायक होती है। आधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथा में सुसम्बन्ध होता है। उसमें शिथिलता नहीं है। चरित्र-चित्रण में उनका बल पात्रों के वाह्य पक्ष पर ही अधिक रहा है। जो जैसा है उसी रूप में चित्रित हुआ है। उसके मानसिक अन्तरविरोधों और मनोगत भावों तक उग्र की पहुँच नहीं हो पाई है, इसीलिए सामाजिक परिस्थितियों से पड़ी कर्दम के भीतर दवे मानव पर उनकी दृष्टि नहीं जा पाई। मानव उनके सम्मुख मानव के रूप में स्पष्ट नहीं हो पाया, जैसा है वैसा ही वे उसे देख पाए हैं। इसीलिए उनके उपन्यासों में हल्कापन है। भाषा शैली निःसन्देह प्रांजल और सबल है। उसमें प्रवाह प्रभावमयता दोनों हैं।

उग्र की कहानियाँ उपन्यासों की अपेक्षा अधिक संयत, प्रेरक, और सफल हैं। कहानियों में उग्र का विद्रोह अधिक संयत होने के कारण अपेक्षया अधिक सोद्देश्य हो गया है। आपकी कहानियों में हमें अधिक स्पष्ट और सजग रूप से सामाजिक कुण्ठाओं, कुरीतियों, रुढियों और गतानुगतिकता के विरुद्ध सबल स्वर सुनाई पड़ता है। उनमें जीवन से घृणा और निराशा के स्थान पर जीवन के प्रति आस्था और संघर्ष की चेतना मिलती है और निःसन्देह वे प्रेरणादायक हैं। 'जी जी जी' में लेखक ने जिस अभिजात वर्गीय आदर्श का राग अलापा है कहानियों में उसी की उसने धज्जियाँ उड़ाई हैं। कला की दृष्टि से भी कहानियाँ सबल है, यद्यपि मनोभावों का चित्रण उनमें भी कम हैं और पात्रों के वाह्य को ही वे अधिक देख पाए हैं। शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में हमें सार लगता है कि उग्र के नये कहानी संग्रह 'सनकी अमीर' की कुछ कहानियाँ अपने यथार्थ चित्रण के कारण अंग्रेजी उपन्यासकार फील्डिंग की याद दिलाती हैं। आपकी नयी कहानी 'जल्लाद' वस्तुतः हिन्दी कहानी साहित्य में अपूर्व स्थान रखती है। कहानियों की भाषा शैली उपन्यासों की ही भाँति प्रांजल और सबल है उसमें प्रवाह तथा प्रभावमयता है। कहानियों में उग्र ने सामाजिक कथा के साथ साथ राजनीतिक, देश प्रेम, त्याग, हिन्दू मुसलिम एकता आदि क्षेत्रों से भी विषय लेकर सुन्दर चेतनावान कहानियाँ प्रस्तुत की हैं।

(१४)

ऋषभचरण जैन

जैन जी भी शास्त्री और उग्र की परम्परा के ही उपन्यासकार और कथाकार हैं। आपने भी अपने उपन्यासों और कहानियों में सामाजिक यथार्थ का नग्न चित्र प्रस्तुत किया है। आपका 'भाई' उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा का उपन्यास है। उसमें ग्रामीण जीवन की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है। उस पर प्रेमचन्द की चेतना और उपन्यास कला का प्रभाव स्पष्ट है। पर उस उपन्यास के बाद जैन जी के उपन्यासों और कहानियों में नितान्त परिवर्तन आया और आप उग्र और शास्त्री की परम्परा में नग्न यथार्थ का चित्रण करने की ओर झुक पड़े और समाज के विभिन्न 'अड्डों' का चित्रण करने लगे और उन 'अड्डों' की जघन्यता ही उनके वर्णन का मूल-प्राण बन गयी। आपके इसी प्रवृत्ति के उपन्यास हैं—'दिल्ली का कलंक', 'दिल्ली का व्यभिचार', 'दुराचार के अड्डे', 'वेश्यापुत्र', 'मयखाना', 'चाँदनी रात', 'चम्पाकली', 'हर-हाइनेस', 'पैसे का साथी', 'मास्टर साहब' आदि। 'चम्पाकली' की भूमिका में उन्होंने स्वयं अपनी प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"पाठक इस चीज को पढ़कर कसक और गुदगुदी का एक साथ अनुभव करेगा और शायद यह कसक और गुदगुदी उसे बहुत दिन तक परेशान रखेगी।" यही है उनके उपन्यासों के सृजन की प्रेरणा। इन उपन्यासों में सिवाय इस छिछली गुदगुदी और निम्न श्रेणी के वासनात्मक मनोरंजन के और कोई उपादेय तत्व नहीं हैं। इसी कारण उनसे भले ही पाठकों का और वह भी विकृत मनोवृत्ति के पाठकों का अल्पकालिक मनोरंजन हो जाय, पर उनसे उन्हें कोई गम्भीर चेतना या प्रेरणा की आशा नहीं करनी चाहिए।

भाषा आपकी भी सजीव और चलती हुई प्रवाहशील है वर्णन, में सजीवता है और कथागठन भी चुस्त और कसा हुआ है। किन्तु साहित्य की दृष्टि से आपके उपन्यासों और कहानियों का कोई महत्त्व नहीं है।

---

(१५)

रायकृष्णदास

रायकृष्णदास उन कहानीकारों में शीर्ष स्थान रखते हैं, जिन्होंने संस्कृत की गद्य शैली का हिन्दी में सफल प्रयोग किया है। आपने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक और सामाजिक तीन वस्तु-क्षेत्रों की कहानियाँ लिखी हैं। सामाजिक कहानियाँ अत्यन्त अल्प और साधारण कोटि की हैं। आपकी कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है रहस्योन्मुखी भावप्रधानता। आपकी सामाजिक कहानियों पर प्रेमचन्द और रहस्योन्मुखी भावप्रधान कहानियों पर प्रसाद और बंगला भाषा के अमर साहित्यकार रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजली का प्रभाव स्पष्ट है। आपकी पहले वर्ग की कहानियों की शैली गद्यगीतात्मक है। सामाजिक कहानियों में भी भाषा का प्रवाह गद्यगीत शैली से ही अधिक प्रभावित है।

आपकी कलागत मान्यता पश्चिम के 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त से प्रभावित है। अस्तु आपकी कहानियों में जीवन के ठोस वास्तविक यथार्थ चित्रों के अपेक्षा खोखले काल्पनिक (abstract imaginary) चित्र मिलते हैं। उनमें न तो कथातत्त्व होता है और न चरित्र-चित्रण और न कथा का घात-प्रतिघात युक्त विकास। केवल भावनाएँ होती हैं, कोरी भावनाएँ, जिन्हें लेखक अपने मन की तरंग की भाँति चित्रित करता चलता है। जैसे काव्य-क्षेत्र में हम एक धारा को छायावादी या रहस्यवादी धारा का नाम देते हैं, उसी प्रकार आपकी कहानियों को रहस्यवादी गद्य कहा जा सकता है। गद्यगीत से इन कहानियों के शैली में अन्तर होता है। उनकी अपेक्षा इनमें थोड़ा बहुत कथा-आधार होता है। गद्य-गीतों में तो केवल भावों की काल्पनिक उड़ान होती है, और किसी अज्ञात को सम्बोधन कर उसके सम्बन्ध में निकले हृदय के उच्छ्वासों का चित्रण होता है।

आपकी कला का एकमात्र उद्देश्य शुद्ध आनन्द की सृष्टि करना है। ऐसा आनन्द, जिसे मनुष्य अपने संघर्ष के क्षणों से अवकाश पा उपलब्ध करना चाहता है। किन्तु संघर्ष के बाद प्राप्त आनन्द का जीवन संघर्ष से एक सम्बन्ध होता है, जबकि आपकी कहानियों से जीवन संघर्ष का कोई दूर का भी नाता नहीं है। अस्तु आपकी कहानियों में एक निराशा और पलायन की भावना व्यंजित होती है। आप मनुष्य को एक काल्पनिक लोक में ले जाकर उसे जीवन के ठोस धरातल से अलग कर देते हैं, जो लोक केवल भावात्मक है। आपकी कहानियों में पात्रों का चरित्र एक विशेष प्रकार का होता है, जो सामान्य सांसारिक क्षेत्र के चरित्रों से नितान्त भिन्न और उनके लिए अ-अनुकरणीय

(११)

सुदर्शन

हिन्दी कहानीकार सुदर्शन का जन्म बींद में हुआ, पहले वे उर्दू में लिखा करते थे। हिन्दी में उनकी सबसे पहली कहानी सन् १९२० में सरस्वती में प्रकाशित हुई थी; और तब से आप हिन्दी में निरन्तर रूप से लिखते रहे हैं। उर्दू से आने के कारण हिन्दी भाषा में उर्दू की रवानी और उर्दू के मुहाविरों का सफल प्रयोग करने में प्रेमचन्द के बाद आप दूसरे कहानीकार हैं। आरम्भिक काल में कहानी कला को एक रूप देकर उसे संवारने में प्रेमचन्द, प्रसाद और कौशिक तथा गुलेरी जी के साथ आपका भी महत्वपूर्ण योग है। यद्यपि कहानी कला के रूप निखार में आप सबका समान लक्ष्य था किन्तु सुदर्शन का रचना तन्त्र तथा कला विधान उन से भिन्न है। आपने प्रेमचन्द के सामाजिक जीवन पर कहानी लिखने की परम्परा के साथ ही कहानी को विषय का एक नया क्षेत्र दिया और वह है पुराण। पुराण से आपने ऐसे पात्रों की अवतारणा कर उन्हें कहानी कला के माध्यम से वर्तमान की भूमिका में प्रस्तुत किया है जिनसे हम अपने आज के जीवन में कुछ प्रेरणा, मार्ग-दिशा, उच्च जीवन-दर्शन प्राप्त कर उत्थान के मार्ग पर सतत् गतिवान हो सकें। पुराण तथा प्राचीन रूपक कथाओं से आधार ग्रहण कर सुदर्शन ने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। आपकी कुछ कहानियाँ संसार की महानतम् कहानियों में अपना स्थान रखती है जैसे—'कमल की बेटी', 'संसार की सब से बड़ी कहानी' तथा 'हार की जीत'। इनमें जीवन के शाश्वत सत्य की झांकी लेखक ने दी है। इन कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह जनता में रुढ़ि और अन्धविश्वासों की जड़ें मजबूत करने की अपेक्षा इसके विपरीत प्रभाव उत्पन्न करती हैं। वर्तमान के राष्ट्रीय जागरण की गतिवान प्रगतिशील धारा के अनुकूल इन पुराण-कथाओं का अंकन हुआ है। अस्तु उन्हें हम प्रगतिशील ही कहेंगे।

आपकी कहानियाँ प्रमुख रूप से वातावरण-प्रधान कहानियाँ हैं और श्रीकृष्णलाल के शब्दों में वातावरण-प्रधान कहानीकारों में आपका शीर्ष स्थान है। प्रसाद ने अपनी कहानियों में वातावरण चित्रण में कवित्व का आरोप कर उन्हें कुछ अस्वाभाविक सा बना दिया है। किन्तु आपके वातावरण के चित्र सजीवता के साथ स्वाभाविक और यथार्थ हैं।

आपने अपनी कहानियों का सृजन जीवन को उदात्त और परिष्कृत बनाने वाले किसी महती उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर किया है। आपकी सबसे

प्रसिद्ध रचना 'हार की जीत' का आधार एक वाक्य बनता है—"-लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।" इस एक वाक्य की जीवन-परिष्कार-महत्ता स्थापित करने के लिए सारी कहानी गढ़ी गई है और बाबा भारती और डाकू के चरित्र तथा घटनाएँ कल्पित की गई हैं। इस महान् उद्देश्य को कहानी का रूप अत्यन्त कला-चातुरी से प्रदान किया गया है।

सुशर्दन ने अपनी कहानियों में जीवन, समाज, और उनमें उत्पन्न होने वाली समस्याओं की व्याख्या प्रस्तुत कर उनसे एक अभिव्यंजना गुंजित की है जो मानव पर चढ़े अमानवीय खोल को फाड़कर शुद्ध मानव बनाती है। सुदर्शन ने अपने एक निबन्ध 'कहानी की कहानी' में कहा है—'वर्तमान युग का कहानी लेखक बाहर का कहानी लेखक नहीं, अन्दर का कहानी लेखक है। दुनियाँ को देखने वाले बहुत हो चुके हैं, अब दिल और घर को देखने वालों की जरूरत है।" सुदर्शन की पंक्तियाँ ही उनकी कहानियों का प्रेरणा स्रोत हैं और यही उनकी विशेषता है। उन्होंने आज के मानव के सम्मुख अपनी कहानियों द्वारा जीवन के कुछ नैतिक मूल्य रखे हैं। नैतिक मूल्यों के उन आदर्शों से कोई सहमत हो या न हो यह बात दूसरी है, पर राष्ट्रीय जागरण की पीठिका पर उन नैतिक मूल्यों का महत्वपूर्ण योग रहा है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

नैतिक मूल्यों के आदर्श की प्रतिष्ठा उनकी कहानियों में बड़े कलात्मक ढंग से व्यक्त हुई है, यह उनकी कलागत विशेषता है। प्रेमचन्द की कहानियों में तो आदर्श की प्रतिष्ठा कथागति से अलग पड़कर कोरा उपदेश सा भी हो गयी है, पर सुदर्शन की किसी कहानी में कला का यह हल्कापन नहीं आ पाया है।

आपकी भाषा सरल, मुहाविरेदार, प्रवाहशील और भावों का समर्थ वाहन है। कथा गठन में एक अपूर्व एकता है जो आरम्भ से अन्त तक प्रभाव-एकता को बनाए रखती है और अन्त में पाठक के मन-प्राण को अपने प्रभाव से आवेष्टित कर देती है।

निश्चय ही आपने अपनी कहानियों से हिन्दी कहानी साहित्य का संवर्धन किया है और हिन्दी कहानी-कला को एक विशिष्ट सज्जा प्रदान की है। आपके कहानी संग्रह हैं—'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थ-यात्रा', 'पुष्पलता', 'गल्प-मंजरी', 'सुप्रभात', 'चार कहानियाँ', 'परिवर्तन', 'नगीना' और 'पनघट'।

(१२)

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

उपन्यासकारों और कहानीकारों के इस विवेचन में हम 'हृदयेश' जी के उपन्यास एवं कथा साहित्य पर कुछ लिखे बिना नहीं रह सकते यद्यपि उन्होंने लिखा बहुत थोड़ा ही है, पर जो भी लिखा है उसका महत्व हिन्दी साहित्य में एक निराला स्थान रखता है।

हिन्दी उपन्यासों और कहानियों के कला-कलेवर ने प्रायः आरम्भ से ही पाश्चात्य के अनुकरण पर अपनी साज-सज्जा आरम्भ की और उसी के अनुरूप उसने अपना सौन्दर्य निखारा। किन्तु हृदयेश जी ने संस्कृत के कथा साहित्य की शैली पर उसे सजाना चाहा। संस्कृत गद्य साहित्य अपनी काव्य-मयता के लिए प्रसिद्ध है। उसके पढ़ने में पद्य के श्लोकों का सा प्रवाह और लय प्रतीत होती है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने उसी अलंकृत वर्णन शैली में अपने कथा साहित्य को प्रस्तुत किया है। यद्यपि चरित्रचित्रण और विन्यास आदि में तो उन्होंने भी आधुनिक प्रणाली को अपनाया है, पर भाषा शैली और वर्णन शैली में संस्कृत कथा साहित्य से उन्होंने प्रेरणा ली है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य में कला का एक अभिनव प्रयोग किया और इस प्रयोग के कारण ही हिन्दी साहित्य में उनका ऐतिहासिक महत्व है। उनका यह प्रयोग आगे न चल सका और न उसका रूप ही संवर पाया क्योंकि दुर्भाग्य से असमय में ही उनकी मृत्यु हो गई।

हृदयेश' जी के दो उपन्यास—'मंगल प्रभात' और 'मनोरमा' तथा एक कहानी संग्रह—'नन्दन-निकुञ्ज' प्रकाशित हुए हैं।

'मंगल प्रभात' एक वृहद्काय धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों की भित्ति पर आधारित सामाजिक उपन्यास है। इसमें सेवा, त्याग, प्रेम और आत्मशुद्धि द्वारा हृदय परिवर्तन का चित्रण है। उपन्यास में लेखक ने दो प्रकार के—सुवृत्ति और कुवृत्ति वाले पात्रों का सृजन कर विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वर्गों के पात्रों का तुलनात्मक चरित्रचित्रण कर आदर्श की प्रतिष्ठा की है। इसी प्रकार 'मनोरमा' में भी तुलनात्मक चरित्र चित्रण है। एक ओर मनोरमा है जो अपने पति को छोड़ एक नवयुवक प्रोफेसर के साथ भाग जाती है और दूसरी ओर विधवा शान्ता है जो समस्त प्रलोभनों को ठुकरा कर अपने को पतन के मार्ग से बचाती है और सारे कष्टों और संघर्षों को झेलती है।

यही चेतना आपकी कहानियों में भी देखने को मिलती है।

उपन्यास और कहानियाँ प्रायः सभी भाव प्रधान हैं और उनकी भाषा अलंकृत है जिसमें उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों की सुन्दर छटा देखने को मिलती है और गद्य में पद्य का सा आनन्द आता है। यह काव्यमय शैली लेखक की सभी रचनाओं में है।

इस प्रकार हृदयेश जी हिन्दी उपन्यास एवं कहानी क्षेत्र में एक विशिष्ट संस्कृत गद्य साहित्य से प्रभावित काव्यमय अलंकृत भाव प्रधान भाषा की शैली के प्रवर्तक के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

---

(१३)

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

उग्रजी हिन्दी साहित्य में अपने उग्र स्वभाव और अक्खड़ व्यक्तित्व के लिए प्रसिद्ध हैं। उनका साहित्य भी उनके स्वभाव का सटीक प्रतीक है। वे शास्त्रीजी की परम्परा के ही लेखक हैं और उन्होंने भी प्रकृतवादी नग्न चित्रण अपने उपन्यासों और कहानियों में किया है। किन्तु शास्त्रीजी की अपेक्षा उनमें कला अधिक है। भाषा पर आपका अधिकार अद्भुत है। लेकिन कला का सदुपयोग आपके हाथों नहीं हो सका।

आपकी चेतना दो विरोधी सिरों पर चलती है। एक ओर तो आप सामाजिक कुत्सा और पापाचारों का नग्न और घृणित वर्णन करते हैं और ऐसा लगता है जैसे समाज में सर्वत्र व्यभिचार ही व्यभिचार है और कुछ नहीं है। मनुष्य बस जघन्यता का पुतला है, उसमें सुसंस्कार हैं ही नहीं; वह मनुष्य नहीं वासना का कीड़ा है। इसका वर्णन उग्रजी ने बड़े चस्के के साथ किया है और यह सारा वर्णन उनका अपना अनुभव-जन्य होने के कारण स्वाभाविक और सजीव बना है, पर उनके साहित्य में हमें कहीं उस बेचैनी के दर्शन नहीं होते कि आखिर मनुष्य का यह पतन क्यों हुआ, मनुष्य और समाज को इस दलदल से कैसे निकाला जाय। इसी कारण उनका साहित्य हमें कोई प्रेरणा नहीं देता। शास्त्री जी के उपन्यासों की भाँति मन में एक निराशा का भाव और जीवन और मनुष्य से घृणा ही उत्पन्न करता है। दूसरी ओर उग्रजी अपने उपन्यासों में नारी जीवन में उन्हीं आदर्शों की जकड़ का प्रतिपादन करते हैं जो रूढ़ होकर बहुत हद तक समाज में इस दलदल को पैदा करने का कारण हैं। सही मार्ग उनकी आँखों से ओझल है। यदि उन्होंने सामाजिक बुराइयों का कारण समझने-खोजने का प्रयास किया

होता है। 'अन्तःपुर का आरम्भ', 'भिठास', और 'रमणीका रहस्य' में ऐसे ही असामान्य चरित्रों की अवतारणा हुई है।

आपकी कहानियों का सबसे बड़ा आकर्षण आपकी भाषा-शैली है। आपकी भाषा में भावप्रवणता और भावों को व्यंजित करने की अपूर्व व्यंजनाशक्ति है। श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में आप "भाव-प्रकाशन की एक विचित्र-शैली लेकर गद्य-साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।" प्रसाद जी ने भी भावात्मक गद्य का सृजन किया है, जिसके दर्शन हमें उनकी अनेक कहानियों और नाटकों में होते हैं। किन्तु राय साहब और प्रसाद के भावात्मक गद्य में विशेष अन्तर है। प्रसाद को अपने गद्य को भावात्मकता प्रदान करने के लिए संस्कृत का सहारा लेना पड़ा था जबकि रायसाहब ने हिन्दी के साधारण बोल-चाल के रूप से ही उसका सृजन किया है। इस दृष्टि से आपका कार्य अधिक सराहनीय है। काल्पनिक भावों को शब्दों द्वारा चित्रित करना अधिक कठिन है और साधारण बोल-चाल के शब्दों द्वारा चित्रित करना तो और भी कठिन। भावों की कोमलता की अनुरूपता में आपने अपनी भाषा को भी कोमलता प्रदान की है, यह आपकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। आपने 'कलपते', 'अचरज', जैसे चालू शब्दों का खूब प्रयोग किया है। उर्दू के शब्दों को भी आपने ग्रहण किया है। किन्तु कहीं शुद्ध हिन्दी के आग्रह-दुराग्रह में आप भी बह गए हैं और उर्दू के बोल-चाल के मुहाविरों का शुद्ध हिन्दी में अनुवाद कर उनका प्रयोग आपने किया है, जैसे—'दिल का छोटा है' के स्थान पर आपने उसका शुद्ध हिन्दी में अनुवाद किया है—'हृदय का लघुतर है।' मुहाविरों के ऐसे अनुवादों ने भाषा में कृत्रिमता उत्पन्न करदी है। आपकी भाषा पर प्रान्तीयता का भी प्रभाव है और अनेक प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग आपने किया है, जैसे—'साहुत', 'काँदने', 'आराव', 'महीनवें' आदि। ऐसे शब्दों को सबके लिए समझना कठिन हो जाता है और प्रयोग उचित नहीं है। कविता की तरह आपने जैसा के स्थान पर 'सा', हो के स्थान पर 'हौ' तक के स्थान पर 'लौं' आदि का प्रचुरता से प्रयोग किया है।

आपकी भाषा में कविता की सी लयता और आनन्द है। आपकी कहानियाँ भावात्मक होती हैं किन्तु उनमें घटना और वर्णन भी होता है। इस प्रकार आपने हिन्दी कहानी-कला के क्षेत्र में अपनी कहानियों के द्वारा एक नवीन शैली का चलन किया। पर यह युग कोरी कल्पनाजनित भावुकता न थी और न है, अस्तु उनकी कहानी शैली हिन्दी-कहानी-कला के क्षेत्र में अपना स्थान न बना सकी।

---

(१६)

वृन्दावनलाल वर्मा

वर्मा जी हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में अग्रणी हैं। यद्यपि आपने अनेक सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं पर ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही आपका विशेष महत्व है।

हिन्दी में सर्वप्रथम प्रसाद ने 'इन्दुमती' नामक ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रारम्भ किया था पर वह अधूरा रह गया। उनके बाद वृन्दावनलाल वर्मा ने इस ओर ध्यान दिया और ऐतिहासिक उपन्यासों की एक नवीन धारा प्रवाहित करने में वे सफल हुए। इस प्रकार आपको हिन्दी का सर्व प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार कहा जाय तो असंगत बात न होगी। आपने वर्तमान युग की अनुरूपता में इतिहास की घटनाओं का चयन कर उन्हें उपन्यास के कला-कलेवर में सजाया है। राष्ट्रीय जागरण और राष्ट्रीय परिवर्तन में इतिहास की ओर दृष्टि जाना और इतिहास से ऐसे पात्रों का तथा घटनाओं का चयन करना जो हमें आज के जीवन की विविध समस्याओं में मनोबल और साहस प्रदान कर सके, सामान्य और स्वाभाविक है। यह दृष्टि दो प्रकार की हो सकती है, एक तो वह जिसमें अतीत की ओर उन्मुख होने का निर्देश होता है और दूसरी वह जो स्वस्थ प्राचीन भूमिका पर नवीन की दिशा का निर्माण करती है। एक को प्रतिक्रियावादी या रुढ़िवादी कहा जायगा तो दूसरे को प्रगतिशील। वर्मा जी का इतिहास के प्रति दृष्टिकोण दूसरी कोटि का है अस्तु उसे प्रगतिशील ही कहेंगे। वर्मा जी ने राजपूत शौर्य के इतिहास से लेकर १८५७ तक के काल को अपने उपन्यासों का क्षेत्र बनाया है। उनके उपन्यासों में इतिहास दो रूपों में आया है—एक तो वे उपन्यास जिनकी कथा, घटनाएँ और पात्र ऐतिहासिक सत्य हैं और कल्पना द्वारा उनमें सजीवता उत्पन्न कर उनको एक सुसम्बद्ध कथा में गूँथा गया है और दूसरे उपन्यास वह हैं, जिनमें ऐतिहासिक वातावरण में नितान्त कल्पित कथा, पात्र और घटनाएँ नियोजित कर उपन्यास का सृजन किया गया है।

वर्मा जी के सभी उपन्यास बृहद्काय हैं। आकार में बड़े होने के साथ ही उनका कथा सूत्र भी अत्यन्त लम्बा है फिर भी बिखरी और लम्बी अनेक मुखी कथाओं का विधान-कसाव वर्मा जी ने बड़ी चातुरी और बड़े लाघव से किया है। आपके उपन्यासों में आधिकारिक कथा के साथ अनेक प्रासंगिक कथाएँ चलती हैं और घटना क्षेत्र भी भिन्न होते हैं पर कथा सूत्र में शृंखला कहीं भी नहीं टूटने पाती; वरन् प्रासंगिक कथाएँ मूल कथा को गति प्रदान

करती हैं, चरित्रों का निर्माण करती हैं, और कथा अभीष्ट को अन्त की ओर अग्रसर करने में सहायक होती हैं। सारी कहानी, वातावरण, पात्र, परिस्थितियों एवं घटनाएँ, प्रासंगिक कथाओं और मूल कथा के शृंखला-बद्ध मेल से सजीव एवं मुर्तिमान हो जाती हैं। चरित्र चित्रण भी इसी चातुरी से हुआ है। ऐतिहासिक उपन्यासों के पात्रों के चरित्र चित्रण में लेखक को अधिक सजग और सचेत रहना होता है कि कहीं उनकी ऐतिहासिकता न मारी जाय। यह सजगता वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में सफलता से निभायी है। वर्मा जी के प्रायः सभी उपन्यासों में प्रेम की धारा मूल रूप से प्रवाहित हुई है। 'मृगनयनी', 'गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'प्रेम की भेंट', 'कुण्डली चक्र' यहाँ तक कि 'झाँसी की रानी' में प्रेम और रोमान्स का अपूर्व चित्रण है। किन्तु यह रोमन्स गम्भीर और त्याग की भावना लिए हुए है। उसमें छिछोरापन नहीं है। अधिकांश पात्रों में प्रेम उन्हें वीरता का साहस देता है और युद्ध में मनोबल को बनाए रखने का काम देता है। वह कर्मठ कर्तव्यपरायण प्रेम है। आपके उपन्यासों में यथार्थ चित्रण के साथ आदर्श परायण प्रेम का वर्णन हुआ है। आपने 'गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', मुसाहबजू', 'झाँसी की रानी' और 'मृगनयनी' जैसे ऐतिहासिक उपन्यास तथा 'लगन', 'कुण्डली चक्र', 'कभी न कभी', 'प्रेम की भेंट', 'प्रत्यागत', 'अचल मेरा कोई' आदि जैसे सामाजिक उपन्यास हिन्दी साहित्य को भेंट दिए हैं। आपके ऐतिहासिक उपन्यासों में काल विशेष की राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि समस्त परिस्थितियों का विस्तृत चित्रण प्राप्त होता है जिन्हें वर्मा जी ने अपने गहन ऐतिहासिक अध्ययन और मौलिक चिन्तन से और भी प्राणवान बना दिया है। सामाजिक उपन्यासों में यथार्थ के साथ आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में ऐसे चरित्रों का निर्माण किया है जो हमारे ऊपर अपनी एक अमिट छाप छोड़ जाते हैं, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई उनमें से एक हैं। ऐसे पात्र उनके प्रायः सभी उपन्यासों में आए हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे बड़ा खतरा इस बात का रहता है कि कहीं उपन्यास उपन्यास न होकर उपन्यास के रूप में वर्णित इतिहास न हो जाय। कुछ आलोचकों ने आपके उपन्यासों में यह दोष दिखाया है। किन्तु हमारी सम्मति में उनके उपन्यास इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं। न तो उनकी उपन्यासिकता मारी गई है और न ऐतिहासिकता। यही वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों की कला-उत्कृष्टता है। कथोपकथन, वातावरण सृजन, चरित्र-चित्रण, आदि सभी उपन्यास कला के तत्वों पर आपके उपन्यास खरे उतरते हैं। कथोपकथनों में सजीवता है।

भाषा शैली में ओज, प्रवाहमयता, प्रभावोत्पादकता और भावों की सफल अभिव्यक्ति की शक्ति है। उसमें यत्र-तत्र बुन्देली भाषा के शब्दों तथा मुहाविरों का प्रयोग आ गया है। यह प्रयोग एक ओर तो उपन्यास को उपयुक्त बुन्देली वातावरण देने में सफल हुआ है, क्योंकि आपके अधिकांश उपन्यास बुन्देली प्रदेश के जीवन पर ही हैं, तो दूसरी ओर उसने थोड़ी दुरुहता भी उत्पन्न कर दी है। मनोभावों के सफल चित्रण में तो आप प्रवीण हैं और आपकी भाषा उसमें सहज सहायक है। कहीं-कहीं बुन्देली शब्दों का प्रयोग भाषा में अशुद्धता भी उत्पन्न कर देता है। आपने कहीं-कहीं अंग्रेजी मुहाविरों का अनुवाद कर उनका भी प्रयोग किया है।

वर्मा जी ने कहानियाँ भी प्रर्याप्त लिखीं हैं, और कहानी लिखने में भी आप वैसे ही सिद्धहस्त और प्रवीण हैं जैसे उपन्यास लिखने में। आपने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं जिनमें चरित्र प्रधानता के साथ-साथ पात्रों के मनोभावों का चित्रण भी है और घटनाओं का सुनियोजन भी। उनमें चरित्र प्रधानता, घटना प्रधानता तथा मनोवैज्ञानिकता का सुन्दर और अभूतपूर्व समन्वय है और साथ ही सबमें एक आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है जो राष्ट्रीय जागरण की प्रेरणा बना है। आप अपने साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय जागरण के सजग सैनानी रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु हिन्दी साहित्य में वर्मा जी कहानीकार की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में अधिक सम्मानित हैं और महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं क्योंकि उस धारा के प्रवर्तक होने का श्रेय और गौरव आपको प्राप्त है।

---

(१७)

जैनेन्द्रकुमार

जैनेन्द्र के हाथों उपन्यास साहित्य ने भाव, वस्तु और कला क्षेत्र में एक नयी करवट ली। प्रसाद, प्रेमचन्द और कौशिक ने समाज की समस्याओं में उपन्यास की पैठ कराई और उनके उपन्यासों में मानव का एक सामाजिक प्राणी के रूप में चित्रण हुआ। उसके क्रियाकलाप, आचरण और भावनाएँ सामाजिक सीमाओं में या उसके विद्रोहों के प्रतीक रूप में चित्रित हुए और उनके पात्र अपने व्यक्तिगत सीमा से उठ कर समाजिक वर्गों का प्रतिनिधित्व करने लगे। जैनेन्द्र के उपन्यासों ने मानव एक व्यक्ति के रूप में आया

है और उसके जीवन में उठने वाली मनोवैज्ञानिक समस्याओं को—जो भले ही प्रत्यक्ष रूप में सामाजिक महत्व न रखती हों और उस व्यक्ति के जीवन की ही निराली समस्याएँ हों और जो व्यापक सामाजिक जीवन में सामंजस्य न पा सकने के कारण स्वयं की आत्म पीड़ा और कुण्ठा-जन्य कुछ मनोवैज्ञानिक अन्तर्विरोधों और भावों को तथा व्यक्तिगत असन्तोषों को जन्म देती हों—अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। यह बात दूसरी है कि व्यक्ति सामाजिक प्राणी है और उसके जीवन में उठने वाली समस्याएँ किसी न किसी रूप में अपना सामाजिक रूप भी रखती हैं, पर जैनेन्द्र के उपन्यासों में यह गौण है प्रमुख है व्यक्ति और उसके मनोभाव। इसीलिए उन्होंने अनोखे चरित्रों (Types) का निर्माण किया है। प्रेमचन्द, प्रसाद आदि के पात्रों का चरित्र अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठता हुआ समाजगत हो जाता है; इसलिए उनके चरित्र-चित्रण में अधिक सर्वाङ्गीणता है; जब कि जैनेन्द्र के पात्र अपनी व्यक्तिगत समस्याओं में ही सीमित रहते हैं, अस्तु उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण एकांगी और सीमित होता है, जो पात्र के जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों का मनोवैज्ञानिक चित्रण भर प्रस्तुत कर समाप्त हो जाता है, और पाठक को संकेत की स्थिति में डाल पात्रों के भविष्य के सम्बन्ध में—जिसे उपन्यासकार नहीं बताता—सोचने पर विवश कर देता है। जैनेन्द्र के चरित्र-चित्रण में अधिक गहराई होती है। लघुता, सांकेतिक चित्रण, मनोवैज्ञानिकता, अनोखे चरित्रों का निर्माण, भाषा की सरलता—जैनेन्द्र के उपन्यास की विशेषता है। उनके समस्त उपन्यास विचार प्रधान हैं। जैनेन्द्र का यह कथन उनके उपन्यासों की कला पर प्रकाश डालता है—'व्यक्ति क्या एकांगी के अतिरिक्त सर्व सम्पूर्ण हो सकता है?''''''''प्रभु के Relation में किसी एक के Relation क्या हैं उसे दिखाते-दिखाते मैं कहीं भी आत्मा के गहरे तल को छू जाता हूँ, तो यही मेरे लिए बहुत है।" इनके सारे ही पात्र विशेषकर नारी पात्र सहानुभूति, करुणा, दया, स्नेह सौहाद्र्य के प्रतीक हैं और उनमें एक ऊँची मानवता के दर्शन होते हैं। उनके चरित्र में हमें कहीं छिछोरापन नहीं मिलता। वे अपने पात्रों को किसी आदर्श की ओर अभिमुख नहीं करते वरन् जैसे हैं वैसे ही चित्रित हुए हैं—अपने यथार्थ रूप में। कथा में भी सोद्देश्यता का लक्ष्य गौण होता है। व्यक्ति के जीवन में आई कुछ घटनाओं और सम्बन्धित पात्रों का ही वर्णन मात्र होता है, और उनके प्रसङ्ग से कुछ विचारों का वर्णन जो उपन्यास के पात्रों के प्रेरक होते हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में ग्रामीण तथा मध्यवर्गीय जीवन और देशगत एवं समाजगत समस्याओं के एक विशाल क्षेत्र को लिया है। जैनेन्द्र ने मध्यवर्ग के

व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं और वह भी केवल स्त्री-पुरुष के प्रेम सम्बन्धों की समस्या को ही अपना आधार बनाया है। इस प्रकार इनका केनवेस बहुत छोटा है पर जो भी चित्र आपने इस पर गढ़े हैं वे अनूठे हैं।

आपके सभी उपन्यासों में पुरुष और नारी के प्रेम की समस्या ही उनके जीवन की आधारभूत समस्या बनी है। यह समस्या तो सामाजिक समस्या भी है, पर जैनेन्द्र के उपन्यासों में यह व्यक्तिगत समस्या ही बनकर रह गई है और अपनी सांकेतिक व्यंजना में वह सामाजिक महत्व रखती है, क्योंकि व्यक्ति भी तो सामाजिक ही है। उनके उपन्यासों की यह विशेषता उन पर बंगाली उपन्यासकार शरत के प्रभाव को स्पष्ट करती है। वैसे उनके उपन्यासों पर टाल्सटाय के आध्यात्मिक मानवतावाद का प्रभाव भी पर्याप्त है। 'परख', 'त्यागपत्र', 'सनीता', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत' आदि सभी उपन्यासों में हमें यही एक रूपता और प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अधिकांश उपन्यासों में नायक क्रांतिकारी है। अज्ञेय का शेखर भी क्रांतिकारी है, पर नारी के व्यक्तित्व से संचालित और अपनी कुण्ठाओं में स्वयं ही उमड़ने-घुमड़ने वाला है, जब कि जैनेन्द्र के क्रांतिकारी नायक अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रखते हैं और उनमें एक स्वतन्त्र विचारधारा भी है। सभी उपन्यासों में आपने प्रेम का त्रिकोण निर्मित किया है। सभी उपन्यासों की नायिकाएँ सम्पर्क में आने वाले पर पुरुष की ओर आकृष्ट होती है और उनके पति सहिष्णु अतिमानव, की इसकी वेदना को जुबान पर नहीं आने देते। नायिकाओं की पर पुरुष के प्रति आसक्ति भी छिछोरी नहीं है, उसमें गम्भीरता, साहस और त्याग की भावना है। उपन्यासों की कथा बड़ी सूक्ष्म होती है और पात्र भी अत्यन्त थोड़े ही। सुखदा में केवल छः सात ही मुख्य पात्र हैं और उन्हीं की क्रिया प्रक्रिया से सारा उपन्यास समाप्त हो जाता है और एक ही स्थान पर अधिक से अधिक दो स्थानों में ही समाप्त हो जाता है।

संक्षेप में आप यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक चित्रण-प्रधान उपन्यासों के प्रवर्तक उपन्यासकार हैं, और प्रेमचन्द के बाद हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठतम उपन्यासकार हैं।

उपन्यासों की ही तरह आपकी कहानियों में भी मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रधानता है और उनमें भी व्यक्ति की समस्याएँ और उनसे जनित अन्तर्द्वन्द ही कथा का आधार बनते हैं। सांकेतिक व्यंजना, भाषा की सरलता, जीवन की गहराई, हृदय की उदात्तता का चित्रण आपकी कहानियों के कुछ विशेष गुण हैं। कहानीकार के रूप में भी प्रेमचन्द के बाद आपका स्थान अद्वितीय है। कहानियों में आप शरत से प्रभावित हैं। आपने व्यक्ति के आन्तरिक

जीवन की उथल-पुथल को अपने यथार्थ रूप से कहानी का विषय बनाया है और उसे मानवीय संवेदनशीलता तथा विचारात्मकता प्रदान की है। इस प्रकार आपने कहानियों में भी एक नवीन धारा का प्रवर्तन किया है।

यह सत्य है कि जैनेन्द्र का वस्तुगत और पात्रगत क्षेत्र अत्यन्त छोटा है और उसमें भी एकांगिता है और वे चेतना से समन्वयवादी हैं, पर निःसन्देह यह भी सत्य है कि उन्होंने हृदय के तल में पैठकर आभ्यान्तरिक भाव-तरंगों का चित्रण किया है। प्रसाद ने भी व्यक्ति के मनोभावों का चित्रण अपनी कहानियों में किया है। पर कला की दृष्टि से जैनेन्द्र की कहानियाँ अधिक सजीव हैं। उनमें पात्रों की चारित्रिक विशेषता को उभारने की शक्ति अधिक है। प्रसाद में जहाँ-तहाँ दृश्यों के भावात्मक काव्यमय वर्णनों तथा पात्रों के मनोभावों के काव्यमय वर्णन में उसके शुद्ध मनोभावों की क्रिया-प्रक्रिया दब-सी जाती है और उनमें एक दुरुहता आ जती है। जैनेन्द्र की कहानियाँ बड़ी सुलझी हुई और सरल होती हैं उनमें एक संवेदनीय एवं मार्मिक पकड़ होती है। उनकी कहानियाँ अपनी सीमा में बेजोड़ हैं।

भाषा-शैली उपन्यास और कहानी दोनों ही की अत्यन्त सहज, सरल और स्वाभाविक नित्य प्रति की बोलचाल की भाषा है। आपकी भाषाशैली में सांकेतिक अभिव्यंजना की शक्ति है। भाषा हृदय के गहनतम विचारों और भावों को सजीव एवं मूर्तिमान करने में सफल है पर उसमें प्रसाद की तरह आपने संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का सहारा नहीं लिया है। नित्यप्रति की बोल-चाल की भाषा में ही यह अभिव्यक्तिकरण हुआ है। इस दृष्टि से आपकी भाषाशैली अनूठी है। उसमें साहित्यक सौष्ठव और परिष्कार के साथ-साथ सहजता, स्वाभाविकता, सरलता और सांकेतिकता के गुण हैं, और उसमें मार्मिकता और अपना एक अनूठापन है जिसके लिखने में लेखक को किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यास और उनकी कहानियाँ हिन्दी साहित्य में अपनी सानी नहीं रखतीं और हिन्दी साहित्य में उपन्यासकार तथा कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द्र के बाद आपका श्रेष्ठतम स्थान है।

(१८)

इलाचन्द्र जोशी

जोशी जी के उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक चरित्र-प्रधान होते हैं। उनके मनोवैज्ञानिक चित्रण का आधार 'फ्रायड, एडलर और जुंग जैसे मनोवैज्ञानिकों' के सिद्धान्त हैं। फ्रायड मनुष्य की हर मनोगत गुत्थी के मूल में यौन विकृतियों को मानता है। यही मान्यता जोशी जी ने ग्रहण की है और कला-कलेवर ही नहीं भावों में भी पाश्चात्य का प्रभाव ग्रहण कर अपने उपन्यासों का सृजन किया है। आपके उपन्यासों के सारे पात्र विशेषकर पुरुष पात्र यौन विकृतियों के शिकार हैं और वे किसी न किसी विरोधी परिस्थिति या घटना-वश हीन भावना जैसी कॉम्प्लेक्सों और मानसिक विकृत ग्रन्थियों से ग्रसित होते हैं। आपके उपन्यास पात्रों के उन्हीं अवचेतन कॉम्पलैक्सों के विश्लेषण होते हैं। कोई न कोई घटना या परिस्थिति उनके मन में कोई न कोई यौन ग्रन्थि उत्पन्न कर उनके मन में विकार उत्पन्न कर देती है और फिर जब उस ग्रन्थि का विश्लेषण मिल जाता है तो पात्र पुनः स्वस्थ प्रकृति का हो जाता है जैसे 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ। आपके सभी पात्र मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्ति हैं और समाज में जिन-जिन से उनका सम्बन्ध स्थापित है उन सबके जीवन में विश्रृङ्खलता उत्पन्न करते हैं। और सभी का एक रोग है यौन-हीनता और परिणामतः वे समाज में विकृत यौन सम्बन्धों का जनक बनते हैं। जोशी जी अपने उपन्यासों में लिखने से पूर्व ऐसी ग्रन्थियों की कल्पना कर लेते हैं तब उनके चारों तरफ कहानी का ताना-बाना पूर कर उपन्यास का कलेवर निर्मित करते हैं। अस्तु कथा और पात्र उनके हाथ की कठपुतली के समान चलते हैं, उनका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। वे डाक्टर के हाथ के रोगी हैं। उनके उपन्यासों में उद्देश्य की कोई ऐसी गहराई नहीं है कि जीवन की तह में बैठकर मानव के मनोभावों का शुद्ध स्वस्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण कर सकें जैसा जैनेन्द्र ने किया है। उन्हें तो सर्वत्र विकृत मानव ही दीख पड़ते हैं। इस प्रकार जोशी जी ने मानसिक विकृतियों और रुग्णताओं के साहित्यक का सृजन किया है। उनमें जीवन का कोई महती सन्देश नहीं, जीवन की गहराई नहीं। पात्र और घटनाएँ परिस्थितियों की दास हैं। यह जैनेन्द्र और जोशी जी के मनोवैज्ञानिक चित्रण में अन्तर है। जैनेन्द्र के पात्र स्वस्थ मस्तिष्क के हैं, और चिन्तनशील हैं। उन्हें अपने कृत्यों पर संयम है और उनके चरित्र में स्थिरता है। जबकि जोशी जी के पात्र अचिन्तन-शील, असंयमी और अस्थिर चित्त के व्यक्ति हैं।

'संन्यासी' का नन्दकिशोर सन्देही प्रवृत्ति का व्यक्ति है और शान्ती तथा जयन्ती के जीवन-विनाश का कारण बनता है। वह पुरुष की आदिम प्रवृत्तियों का प्रतीक है। 'पर्दे की रानी' का इन्द्रमोहन यौनाशक्ति में इतना उन्मादी हो जाता है कि अपनी पत्नी शीला के, और अपने जीवन के विनाश का कारण बनता है। निरंजना को जब पता चलता है कि वह एक वेश्या की पुत्री है तो उसके मन में भी एक ग्रन्थि पड़ जाती है और उसमें उपचेतन में दबे संस्कार बल पकड़ जाते हैं और वह वेश्या जैसी छिछली नारी की तरह इन्द्रमोहन को अपनी ओर आकर्षित करती है। उसके संस्कृत संस्कार उसके 'सु' को कभी-कभी उभारते भी हैं और वह शीला की सखी होने के कारण उसके जीवन का विनाश नहीं करना चाहती, पर फिर भी कर डालती है और जब उसे इन्द्रमोहन के छल का पता चलता है तो वह उसे घृणा करने लगती है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ जब अपने पिता से जानता है कि वह अपनी माँ के पाप की सन्तान है तो उसमें मानसिक विकृति आ जाती है और वह अनेकों नारियों के सतीत्व को भंग करता है और उस पर सतीत्व भंग करने का उन्माद छाया रहता है। सतीत्व भंग करने के बाद उसके मस्तिष्क में उसकी माँ के सतीत्व-भंग की तस्वीर घूम जाती है और वह उस नारी को छोड़कर चल देता है। उस नारी के प्रति उसके मन में भय और घृणा का भाव जाग्रत हो जाता है। अन्त में जब उसका पिता उसे बताता है कि उसकी माँ सती साध्वी नारी थी तो उसे मानसिक स्वस्थता पुनः प्राप्त हो जाती है और हीरा नामक वेश्या से जिससे उसका अन्तिम सम्पर्क था विवाह कर गृहस्थ बन जाता है। इस सारे चित्रण में एक कृत्रिमता और यान्त्रिकता है, जीवन के प्रति स्वस्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं। 'मुक्तिपथ' में जोशीजी ने अपनी इस प्रवृत्ति में परिवर्तन उपस्थित किया है। नायक राजीव को देशोद्धारक के रूप में चित्रित किया है। किन्तु जोशीजी उपन्यास तथा पात्र योजना में यान्त्रिक हैं, उनकी कला सहज नहीं कृत्रिम प्रयासों से यान्त्रिक ढंग से चलती है। यह बात जैसी मानसिक विकारों के उपन्यासों के सम्बन्ध में सत्य है वैसी ही 'मुक्तिपथ' के सम्बन्ध में भी। जैसे इनके अन्य उपन्यासों के नायक यौन सम्बन्ध के लिए उन्मादी हैं और एक नहीं अनेक स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित कर भी नहीं अघाते, उनके ठीक विपरीत 'मुक्तिपथ' का नायक राजीव यौन सम्बन्धों, नारी और प्रेम से घृणा करने वाला रोगी मानव है। वह विकारग्रस्त भी है। इस प्रकार जोशीजी ने एक भी स्वस्थ पात्र नहीं निर्मित किया। उनकी कला में भी कृत्रिमता है। वैसे कला में निखार है, कथा विन्यास में चुस्ती और गठाव है। वर्णन सजीव है।

उपन्यासों की भाँति आपकी कहानियों में भी विकृत पात्रों के जीवन का विश्लेषण है जो और कुछ नहीं उनकी विकृतियों का विश्लेषण मात्र ही है। आपकी कहानियों के पात्र भी विक्षिप्त मानव हैं, जिनकी जघन्यताओं को परिस्थिति-जन्य मानसिक ग्रन्थि का परिणाम सिद्ध कर व्यर्थ का औचित्य प्रदान किया जाता है। आपने यौन उच्छृङ्खलताओं को ही सामाजिक विद्रोह मान लिया है। भाव और वस्तु की उदात्तता के अभाव में आप अपनी कहानी को उपन्यासों की ही भाँति कृत्रिम कला साधनों से महिमामंडित कर उच्चता प्रदान करने का असफल प्रयास करते हैं। उन्होंने उक्ति वैचित्र्य, संकेतकथन, अलंकृत भाषा आदि से उस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया है। फलतः पात्र और घटनाएँ अपने स्वाभाविक रूप में नहीं चित्रित हो सके हैं। उनमें सजीवता का अभाव है और वे मनुष्यता का मखौल सा प्रतीत होते हैं। 'उग्र' परम्परा के लेखक यदि अपनी अश्लीलता के कारण समाज में विकृतियाँ और निराशा उत्पन्न करते हैं, तो जोशीजी और उनकी परम्परा के उपन्यासकार विकृत मानवों का चित्रण कर उसकी आड़ में अश्लीलता का वर्णन करते हैं और उस पर मनोवैज्ञानिक औचित्य का पर्दा डालते हैं। इनका साहित्य भी जीवन पर से आस्था उठाता है और निराशा उत्पन्न करता है।

---

(१६)

प्रतापनरायण श्रीवास्तव

श्रीवास्तव जी ने पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगे भारतीय अभिजात्य वर्ग को अपने उपन्यासों के चित्रण का विषय बनाया है; किन्तु उस वर्ग के जीवन में भी वे ही समस्याएँ ली हैं, जो साधारण मध्यम वर्ग के जीवन में होती हैं। अभिजात्य वर्ग के होने के नाते उनकी समस्याओं में और पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के रंग में रंगे होने पर भी उनके उपन्यासों के पात्रों के व्यवहार, आचार-विचार और स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आया है। उनमें हमें शुद्ध भारतीय संस्कारों और आदर्शों के दर्शन होते हैं। केवल उनके वाह्य जीवन में अवश्य पाश्चात्य फैशन की झलक आ गई है, पर वह उनके मन पर प्रभाव नहीं डालती यह कुछ बड़ी अनमेल सी बात है। उन्होंने अपने उपन्यासों में भारतीय आदर्श की प्राण-प्रतिष्ठा की है।

उनके उन्यास हैं 'विदा', 'विजय', 'विकास', 'आशीर्वाद' तथा 'पाप

की ओर'। 'विदा' प्रथम और सबसे पहला उपन्यास है। विदा में श्रीवास्तव जी ने तीन परिवारों की कहानी एक साथ ली है, जो अलग-अलग चलती है; फिर भी उसमें अद्भुत एकसूत्रता है। इसमें शिक्षिता बहू के सास से मिलकर न रह सकने के कारण पति से वियोग और फिर जीवन में अनेक जटिलताओं के उत्पन्न हो जाने की कहानी है। कुमुद अपनी सास से न पटने के कारण अपने पिता के घर चली जाती है, वहाँ वर्मा जी उसे प्रलोभन देकर अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। पर उसका पाश्चात्य शिक्षा-जन्य अहम् इस सीमा तक नहीं बढ़ गया है कि वह सास के साथ-साथ पति से भी विमुख हो जाय। वह पतिपरायणा बनी रहती है। वर्मा जी असफल होते हैं और घटनावशात् उनकी मृत्यु भी हो जाती है। कुमुद के पति पीछे चपला की ओर आकर्षित होते हैं, पर ऐन मौके पर आकर कुमुदनी पुनः अपने पति को प्राप्त कर लेती है और चपला निराश होकर इंगलैंड चली जाती है। इस उपन्यास के वस्तु-संघटन में नाटक के वस्तु संघटन की सी कसावट और गति है। उसी चातुरी से चरमसीमा और फल-प्राप्ति का नियोजन हुआ है। परिणाम के प्रति कौतूहल भी अन्त तक बना रहता है। संवादों में भी वैसी ही चुस्ती और सजीवता है। चरित्र-चित्रणों में भी श्रीवास्तव जी को इस उपन्यास में बड़ी सफलता मिली है। इस प्रकार कला की दृष्टि से यह उपन्यास अपूर्व है। ऐसी सफलता उन्हें अन्य उपन्यासों में नहीं मिली। 'विजय' में लेखक अभिजात्य वर्ग की विधवा की समस्या को लेकर चला है, पर इसमें भी अभिजात्य वर्ग की विधवा होने के नाते उसके जीवन या उसकी समस्या में लेखक कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखा पाया है। इसमें भी उसने विधवा के आदर्श जीवन की ही प्रतिष्ठा की है कि वह आजीवन धर्म-मार्ग पर आरुढ़ और अडिग रहती है। उन विधवाओं के लिए जो अपनी इच्छाओं का दमन नहीं कर सकती विवाह व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। समस्या में कोई मौलिकता नहीं है और कला की दृष्टि से भी उपन्यास उतना चुस्त और कसा हुआ नहीं है जितना 'विदा'। 'विजय' में स्वगत कथनों की भरमार कथा गति में बाधक है। कथा संघटन भी शिथिल है। निरर्थक विस्तार भी है और लेखक व्यर्थ के छोटे-छोटे प्रसंगों के अति विस्तृत वर्णन में फँस गया है जिससे उपन्यास की सजीवता नष्ट हो गई है। 'विकास' में भी यही दोष है पर कुछ कम। उसमें भी जीवन अभिजात्य-वर्गीय ही है पर समस्याएं और वर्णन सामान्य है। इसमें मनुष्य की कुटिलताओं का यथार्थ चित्रण है। मातादीन स्त्री भगाने से लेकर पुंसत्व और नपुंसकत्व तक की दाइयाँ बनाने और नाना प्रकार के छल-प्रपंच करने में सिद्ध-हस्त

है। किन्तु अन्त में इस उपन्यास में भी कुटिलताओं की पराजय और मानव आदर्श की प्रतिष्ठा होती है। यही बात आपके 'आशीर्वाद' और 'पाप की ओर' में है।

आपके सब उपन्यासों का विकास प्रायः एक ढंग से हुआ है और समस्याएँ भी तथा थीम भी बहुत कुछ मिलती जुलती सी है और ऐसा प्रतीत होता है कि थोड़े से हेर-फेर के साथ विदा के पात्र विजय में नाम बदलकर आ गए हैं। उपन्यासों की यह एक-तानता अखरती है। चरित्र-चित्रण में भी शिथिलता है। पात्रों का चरित्र कथा प्रसंगों और अन्य पात्रों के पारस्परिक संवादों क्रिया-प्रक्रियाओं से स्वाभाविक रूप से विकसित नहीं हो पाया है। लेखक पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए लम्बे-लम्बे प्रकरण देता है जिनसे यह प्रकट होता है कि लेखक चरित्र-चित्रण की कला में निपुण नहीं है। यह दशा संवाद योजना में भी है और 'विदा' को छोड़कर कथा योजना में भी। भाषा की भी अशुद्धि खटकने वाली है। कहीं शुद्ध संस्कृत के साथ क्लिष्ट उर्दू का संयोग है, तो कहीं अंग्रेज़ी के शब्दों का हास्यास्पद अनुवाद-शेक हैन्ड' (Shake Hand) के लिए 'करमर्दन' का प्रयोग। कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे बाद विवाद भी कथा में नीरसता उत्पन्न कर देते हैं। आपकी भाषा प्रवाह और गति का भी अभाव है।

---

(२०)

भगवतीचरण वर्मा

वर्माजी के चार उपन्यास इस समय तक प्रकाशित हो चुके हैं—'चित्र-लेखा', 'टेढ़े-मेढ़े-रास्ते', 'तीन वर्ष' और 'आखिरी दाँव'। 'चित्रलेखा' आपका सर्वोत्तम उपन्यास है और उसके कारण ही हिन्दी के उत्कृष्ट उपन्यासकारों की कोटि में आपकी गणना होने लगी है, किन्तु उसके बाद आपने वैसी सफल रचना अभी तक हिन्दी साहित्य को नहीं दी है।

'चित्रलेखा' का निर्माण लेखक ने अनातोले फ्रान्स की प्रसिद्ध रचना 'थाया' के आधार पर नितान्त मौलिक रूप में किया है। इस उपन्यास पर सफल 'चलचित्र' का भी निर्माण हो चुका है।

वर्माजी जोशीजी के समान ही फ्रायड के सिद्धान्तों से बहुत हद तक प्रभावित उपन्यासकार हैं और आपके उपन्यासों के पात्र तथा कथा भी आपके

स्वयं के आग्रहों और मान्यताओं से परिचालित होते हैं; और मानव अपने अस्वस्थ विकारग्रस्त विक्षिप्त और पतित रूप से चित्रित होता है। 'चित्रलेखा' इसका अपवाद है। 'चित्रलेखा' में आपने 'पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है?' की समस्या को अपना विषय बनाया है और उसे ऐतिहासिक वातावरण में एक सर्वथा कल्पित कथा के रूप में निर्मित किया है। आपने उसमें पाप का निवास कहाँ है का समाधान प्रस्तुत किया है कि समाज प्रत्यक्ष रूप से जिन्हें भोगी समझता है वे ही सच्चे योगी हैं—बीजगुप्त और जिन्हें योगी समझता है वे ही भोगी हैं—कुमारगिरि। 'पाप क्या है?' यह मनुष्य की अपनी कल्पना है और मान्यता है। इस उपन्यास में वर्माजी ने कुमारगिरि के चरित्र के द्वारा योगियों पर करारी चोट की है। उपन्यास कला, कथा-योजना, वातावरण-सृजन, संवाद, चरित्रचित्रण आदि की दृष्टि से यह उपन्यास अनुपम है और हिन्दी के सर्वोत्तम उपन्यासों में गिना जाने योग्य है। 'तीन वर्ष' जोशी-परम्परा का ही उपन्यास है। उसमें युवक रमेश, जो कि नई सभ्यता की चकाचौंध से पथभ्रष्ट हो जाता है और पतित होकर जुआ खेलता है, भोग विलास में रत रहता है; शराब, वेश्यावृत्ति आदि दुर्गणों में फँसा है—के मानसिक विकारों और विकृत भावों का विश्लेषण है। रमेश एक विक्षिप्त, अस्थिर चरित्र और उद्देश्य-हीन युवक है। वह जीवन में एक आदर्श को लेकर चलना चाहता है, जो थोथा और बेसूद है। पात्र तथा कथा यन्त्र चालित से हैं। लेखक अपने पूर्वाग्रहों के अनुरूप कथा और पात्रों की गति को सञ्चालित करता चलता है और पात्र तथा कथा उसकी अनुवर्तिनी होकर चलती है। यह कृत्रिमता और यान्त्रिकता खटकने की सीमा तक पहुँच गई है। इस उपन्यास की घटनाओं, परिस्थितियों, पात्रों किसी में भी स्वाभाविकता नहीं है। सभी कल्पना जगत के हैं। संवाद, कथा संघटन, वातावरण सृजन सभी कलातत्वों की दृष्टि से यह उपन्यास कमजोर है। भाषा अवश्य चुस्त और प्रवाहशील है। 'टेढ़ेमेढ़े-रास्ते' भी असफल उपन्यास है। इसका विस्तार इतना अधिक हो गया है कि कथा उखड़ी-उखड़ी सी हो गई हैं। इसमें निरर्थक विस्तार भी अधिक है। लेखक ने इस उपन्यास में एक साथ राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं को लिया है। पुराने बिगड़े हुए रईस के तीन पुत्रों के अलग-अलग रास्तों पर चले जाने का विशद वर्णन है। इस प्रकार लेखक ने एक साथ कम्यूनिस्ट, सोशलिस्ट और कांग्रेसी तथा जमीदार वर्ग की राजनीति का इस उपन्यास में जमघट सा लगा दिया है। सभी पात्र देश-भक्ति, मानव-प्रेम, त्याग और दया की आड़ में स्वार्थी, अधम, ही चित्रित हुए है। किसी पात्र में भी वर्माजी उदात्तता का

समावेश नहीं कर पाए हैं, उन्हें जोशीजी की तरह सर्वत्र अधम पात्र ही मिले। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' स्वयं इस बात का परिचायक है कि वर्माजी मानते हैं कि मानव-मुक्ति का कोई मार्ग नहीं। सभी मानव स्वार्थ के पुतले हैं। मानवता किसी में है ही नहीं। वर्माजी ने इस उपन्यास में राष्ट्रीय जागरण की त्याग, देश-प्रेम, निस्वार्थता और मानव स्नेह की परम्परा को ठुकरा कर उसमें घोर स्वार्थ के दर्शन किए हैं। आपकी सहानुभूति यदि किसी वर्ग के साथ दीखती है तो वह है सामन्त वर्ग। गान्धीवाद का राग अलापा गया है पर वह भी कुछ ऐसा ही बन पड़ा है जैसे शराबखाने में बैठकर सदाचार की बात करना। आपका अन्तिम उपन्यास है—'आखिरी दाँव'। यह भी साधारण कोटि का उपन्यास है। इसमें जुआरी के असफल प्रेम को कहानी का रूप दिया गया है। इस उपन्यास पर फिल्मी अस्वाभाविक चित्रण का पर्याप्त प्रभाव है। इधर सिनेमा ने उपन्यासों को प्रभावित कर उनमें सिनेमाई अस्वाभाविक प्रेम और रोमान्स का चलन चला दिया है। वर्माजी उससे बहुत प्रभावित दीख पड़ते हैं।

आपने कहानियाँ भी काफी लिखी हैं जो 'खिलते फूल', 'इन्स्टालमेंट' और 'दो बाँके' नामक संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी कहानियों पर भी फ्रायडवाद का प्रभाव है और उपन्यासों की भाँति कहानियों में भी आपने सामाजिक विषमताओं से खंडित मानव का प्रकृत चित्रण किया है उनमें खंडित मानव को पुनः पूर्णत्व प्रदान कराने की प्रेरणा नहीं है। उनमें अवचेतन में दबी कामवासनाओं की परितृप्ति के वीभत्स दृश्य ही उपस्थित किए गये हैं और सारे ही पात्र किसी न किसी रूप में किसी दमित कामवासना से असन्तुष्ट और उसकी सन्तुष्टी के लिए दुराचारों में लिप्त दीख पड़ते हैं। आपकी कहानियाँ चरित्र प्रधान मनोविश्लेषणात्मक कही जा सकती है और उपन्यासों को चरित्र प्रधान प्रकृतवादी।

भाषा शैली आपकी साधारण है। चित्रलेखा की भाषा में तो उत्कृष्टता है, शेष की भाषा सामान्य कोटि की है। उसमें सरलता और प्रवाह है। यही बात आपकी कहानियों की भाषा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

---

(२१)

राधिका रमणप्रसादसिंह

आप मूलतः कहानीकार हैं और कहानी क्षेत्र में ख्याति प्राप्त कर चुकने के बाद आप उपन्यास क्षेत्र में भी आए हैं। आपने 'सूरदास', 'पुरुष और नारी', 'राम और रहीम', 'टूटा तारा', 'सावनी समा', 'गाँधी टोपी' आदि उपन्यास लिखे हैं। आपने अपने साहित्य में सामाजिक जीवन का चित्रण किया है और विषमता-जनित समस्याओं का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत किया है। इस आदर्शवादी आग्रह से सामाजिक यथार्थ दब सा गया है और चित्रण अधिक काल्पनिक और अस्वाभाविक हो गया है। आपने पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित उच्चवर्ग की वर्णशंकरीय सभ्यता के छिछलेपन को अपनी कहानियों और उपन्यासों का विषय बनाया है। साथ ही नैतिकता के दो तुलनात्मक रूप भी प्रस्तुत किए हैं। कहानियों तथा उपन्यासों के कथा-संघटन पात्र-योजना, चरित्र-चित्रण, वातावरण सृजन, उद्देश्य-निर्वाह आदि कला-उपकरणों के निर्वाह में बड़ी कुशलता और सजगता का परिचय दिया है। आपकी कहानी कला एवं उपन्यास कला निखरी और परिमार्जित है। उसमें गठाव की चुस्ती, सन्देश की गरिमा और कला की उच्चता है। आपने चरित्रप्रधान, मनोवैज्ञानिक, व्यंग-प्रधान कहानियों का सृजन किया है। कहानियों में व्यंग अत्यन्त ही सांकेतिक व्यंजना के रूप में आया है। उपन्यासों में भी यही बात है। सामाजिक चित्रण के साथ राजनीतिक जागृति और चेतना का गुम्फन-निर्वाह भी बड़े लाघव के साथ किया गया है। किन्तु आपने जो समस्याएँ अपनी कहानियों और उपन्यासों में ली हैं उन्हें बहुत सतही ढंग से छुआ है। उनमें जीवन की गहराई नहीं है। मानव जीवन का मन्थन आप कम कर पाये हैं बाह्य पक्ष ही अधिक सफलता से चित्रित हो पाया है, यद्यपि मनोभावों के द्वन्द्वों का चित्रण भी आपकी कहानियों और उपन्यासों में हुआ है। भाषा आपकी सजीव, प्रांजल, प्रवाहशील और प्रभावमयी है।

---

(२२)

महादेवी वर्मा

महादेवी जी हिन्दी गद्य की प्रायः प्रथम नारी लेखिका हैं। आप पहले कवित्री हैं फिर गद्य लेखिका। कवित्री के रूप में रहस्यवादी कवियों में आपका शीर्ष स्थान है। किन्तु गद्य लेखिका के रूप में आप रायकृष्णदास की भाँति रहस्यवादी नहीं हैं। आपकी कहानियाँ जीवन के ठोस और सत्य अनुभवों पर आधारित हैं। वे वस्तुतः आपके अपने जीवन के संस्मरण हैं। आपके जीवन में जो व्यक्ति आए, जो घटनाएँ घटीं उन्हीं में से आपने कुछ को चुनकर; जिन्होंने आपको अत्यधिक प्रभावित किया, अपने संस्मरणों का विषय बनाया है। शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में 'उन संस्मरणों में कहानी है कहानी में संस्मरण।' रायकृष्णदास ने उन्हें कहानियाँ माना है। वस्तुतः उनमें कहानीत्व है। 'अलोपी' और 'घीसा' उत्कृष्ट कहानियाँ कही जा सकती हैं। उनमें कथानक, घटनाएँ, चरित्रचित्रण आदि कहानी के सभी विशिष्ट तत्व हैं। 'घीसा' और 'अलोपी' ऐसे चरित्र हैं जो महादेवी जी के जीवन में आये और अपनी चारित्रिक विशेषता से उन पर अपनी अमिट छाप छोड़ गए। महादेवीजी ने उन्हें कहानी कला में प्रतिष्ठित कर वह रूप प्रदान किया कि वे आज हम सब पर अपने प्रभाव की अमिट छाप छोड़ते हैं।

आपकी संस्मरणात्मक कहानियों में जीवन की वास्तविक अनुभूतियों का स्वर मुखरित हो उठा है और उनमें समाज का एक मार्मिक और संवेदनीय चित्र है। इन कहानियों में महादेवी जी की दृष्टि जीवन के दुख दैन्य, सामाजिक कुरीतियों गरीबी आदि पर गई है और स्वभावतः समाज के निम्न वर्ग के प्रतिरूप 'घीसा' और 'अलोपी' के प्रति उनकी करुणा उमड़ पड़ी है। महादेवजी ने नारी जीवन की वास्तव समस्याओं को भी अपनी कहानियों में लिया है। नारी द्वारा नारी समस्या का चित्रण अत्यन्त ही मार्मिक हो गया है और समस्याएँ कटु सत्य बन गई हैं। महादेवीजी ने नारी जीवन की समस्याओं की कटुता का स्वयं भी अनुभव किया है। अस्तु नारी समस्या के प्रति आपका दृष्टिकोण अधिक स्वस्थ, स्पष्ट और सत्य है। महादेवीजी की रचनाएँ ममता का मुखर स्वर है। उन्होंने ग्राम और नगर दोनों स्थानों के जीवन का और उनकी समस्याओं का सजीव चित्रण किया है। और कहानीकारों ने तो कहानी लिखी हैं पर आपने तो अपने जीवन के सच्चे अनुभवों को लिखा है। ग्रामीण स्त्रियों के संस्कारों, उनकी धर्मपरायणता और उनके दुखी जीवन की नित्य की एकरसतापूर्ण खटखट के बीच भी उनके हृदय की सरलता आदि

का सुन्दर चित्रण आपकी कहानियों में हुआ है। 'घीसा' में लेखिका ने गाँव की ही एक विधवा जो समाज से उपेक्षित और लांछित है, का मार्मिक अंकन किया है। श्रीबासुदेवजी के शब्दों में—"आस्तिकता पर अडिग विश्वास रखने वाली महादेवी ने इनमें 'भगवान की असहिष्णुता और 'क्रूरतम नियति' पर कठोर व्यंगबाण छोड़े हैं।" इन कहानियों में महादेवी की दृष्टि यथार्थवादी अधिक रही है।

हम यह पहले कह आए हैं कि महादेवी की कहानियों को संस्मरणात्मक कहानियाँ कहना ठीक होगा। अस्तु उनकी कहानियों की शैली संस्मरणों की शैली है। संस्मरणों में लेखक अपनी ओर से पात्र घटना आदि के विषय में स्वयं विश्लेषण करता चलता है। इन संस्मरणों में महादेवी ने अतीत के चित्रों को उनके प्रभावों समेत अपने सजीव और मार्मिक विश्लेषण के साथ प्रस्तुत किया है जिससे पाठक पर उनका सीधा प्रभाव पड़ता है। यह संस्मरणात्मक कहानियाँ अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक चार्लस लैम्ब के व्यक्तिगत निबन्धों (Personal Essay) की कोटि में आते हैं। महादेवी की इन कहानियों में निबन्धात्मकता, कहानीपन, संस्मरणात्मकता, रेखाचित्र सभी की विशेषताएँ एक साथ आ जाती हैं—यह महादेवी की कहानियों की कलागत विशेषता है।

महादेवी कवित्री हैं। अस्तु उनके गद्य पर कविता की भाषा का बड़ा प्रभाव है। काव्य की भाषा के समान ही उनकी गद्य की भाषा भी अलंकृत है। उसमें चित्रोपमता तो गजब की ही है, उसमें अपूर्व भावप्रवणता भी है। इस प्रकार महादेवी जी अपनी भाषा शैली तथा कला की दृष्टि से कहानी क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखती हैं।

---

(२३)

ठाकुर श्रीनाथसिंह

आप उस युग के साहित्यकार हैं जब राष्ट्रीय जागरण एक देश व्यापी संगठित आन्दोलन का विस्तार और व्यापकत्व ग्रहण कर रहा था। इस आन्दोलन ने साहित्य को भी प्रभावित किया था। हमारा गद्य साहित्य वस्तुतः इसी की उपज है, यह हम पहले भी कह आए हैं। श्रीनाथसिंह की रचनाओं में राष्ट्रीय जागरण का ही स्वर गूंज रहा है। यद्यपि कला की दृष्टि से आपके उपन्यास उतने गठे हुए और सुन्दर नहीं है, फिर भी वस्तु की

दृष्टि से उनका महत्व है। राष्ट्रीय जागरण के प्रभाव से मानव जीवन और समाज में नयी मान्यताएँ जन्म ले रही थीं; मनुष्य अपनी और समाज की समस्याओं के नये समाधान खोज रहा था। आपकी रचनाएँ उन्हीं नए समाधानों की खोज का परिणाम हैं। आपने कहानियाँ भी अनेक लिखी हैं और उपन्यास भी। आपके 'उन्यास हैं—'जागरण', 'उलझन', 'प्रभावती' और 'प्रजामंडल'। सभी उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के साथ राजनीतिक चेतना गुंथी हुई है। किसी में राजनीतिक चेतना मूल और सामाजिक समस्याएँ गौण और प्रांसगिक हो जाती है तो किसी में राजनीतिक समस्याएँ प्रासंगिक। आपने अपने नायकों को नए नैतिक आदर्श में ढाला है जो समाज सेवा का ध्येय लेकर चलते हैं।

आपकी भाषा बहुत सजीव और चरित्र चित्रण अत्यन्त मार्मिक होता है। समस्याओं के समाधान की गति के साथ चरिच में उत्थान-पतन का सुन्दर चित्रण हुआ है।

---

(२४)

अज्ञेय

'अज्ञेय' फ्रॉयड के मनोविश्लेषण-विज्ञान, जिसका आधार जीवन में कुछ दमित वासनाएँ होती हैं, और अग्रेज़ी के कवि टी० एस० ईलियट और उपन्यासकार डी० एच० लारेंन्स से प्रभावित लेखक हैं। यह प्रभाव उनकी कहानियों और उपन्यासों पर स्पष्ट दीख पड़ता है। अज्ञेय उसी परम्परा के कलाकार हैं जिस परम्परा के कलाकार जोशी और वर्मा जी हैं। किन्तु उनकी अपेक्षा आपकी कला अधिक चुस्त और परिमार्जित है। प्रवृत्ति वही है, उसका अधिक कलात्मक और पालिश्ड रूप हमें आपकी रचनाओं में देखने को मिलता है। उन्होंने केवल दो उपन्यास-'शेखर एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप'—ही लिखे हैं। पर उन दो उपन्यासों से ही बल्कि 'शेखर एक जीवनी' से ही आप अपनी मंजी हुई भाषा और निखरी हुई कला के कारण हिन्दी साहित्य के सफल रचनाकारों की पंक्ति में स्थान पाने लगे हैं।

'शेखर एक जीवनी' का नायक शेखर स्वयं अपनी आत्मकथा कहता है। यह आत्मकथा कुछ ऐसी बन पड़ी, जैसे मानसिक रोग से ग्रस्त कोई रोगी किसी मनोवैज्ञानिक डाक्टर को अपनी मानसिक ग्रन्थियों के सुलझाव के लिए अपना जीवन इतिहास बतलाता है। शेखर अपने बालपन

से ही दमित भावनाओं का रोगी है। मरे हुए शेर को सच्चा शेर समझकर उसमें भय समा जाता है और भयंकर भयंकर स्वप्न देखने लगता है और जब उसे मरे हुए शेर के रहस्य का पता चल जाता है तो उसका डर दूर हो जाता है। वह आरम्भ से ही अहम्‌वादी और उद्धत है। भय तथा सेक्स भावनाओं से आक्रान्त और अपनी बुद्धि-परिचालित लीक पर चलने वाला युवक है। वह बचपन से ही विद्रोही स्वभाव का है और समाज, धर्म, ईश्वर, नैतिकता सबके प्रति वह विद्रोह करता है, पर उसके जीवन में संयम और स्थिरता नहीं है। अस्तु उसका विद्रोह अराजकतावादी और समाज में उच्छृंखलताओं को प्रश्रय देने वाला हो जाता है। उसे न अपने ऊपर आस्था है और न वह किसी के प्रति आस्था कर सकता है। उसमें स्नेह का पुट लेखक ने दिया है, पर वह स्नेह निरुद्देश्य और आन्तरिक घृणा से परिपूरित है। वह अनेक नारियों से प्रेम करता है पर उसे सामाजिक रूप देने में घबड़ाता है और अन्त तक इसी द्वन्द्व में बना रहता है, और नारी मात्र से विमुख हो जाता है, फिर भी उनका संग नहीं छोड़ पाता। वह एक मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्ति है। उसका विद्रोह एक प्रकार से मानसिक विक्षेप का रूप धारण कर कुण्ठित हो आत्मकेन्द्रित और अन्तर्मुखी हो जाता है और वह 'मनघुन्ना' व्यक्ति बन जाता है, जो अपने आप ही अपनी कुण्ठाओं और मनोविज्ञान का विश्लेषण करता रहता है। अनौचित्य को विद्रोह का नाम देकर औचित्य का जामा पहनाता है। अज्ञेय ने शेखर पर अपनी मानसिक कुण्ठाओं को आरोपित कर उसे लेखक के हाथ की कठपुतली बना दिया है।

'शेखर एक जीवनी' जीवनी शैली में लिखा गया है। उपन्यास का कलेवर बहुत संक्षिप्त है। सारी कथा एक पात्र पर केन्द्रित है। जिसमें लेखक की प्रवृत्तियों के अनुरूप भावनाओं का विस्तृत विश्लेषण हैं। भाषा निखार और रचनातन्त्र की चुस्ती की दृष्टि से यह उपन्यास अनुपम है। इस उपन्यास के दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं, तीसरे की प्रतीक्षा है।

'नदी के द्वीप' अज्ञेय का दूसरा उपन्यास है। यह भी एक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है किन्तु इसका मनोविश्लेषण 'शेखर एक जीवनी' की तुलना में हलका है। किसी मौलिक समस्या को लेखक ने इसमें भी नहीं लिया है। इसका नायक भुवन भी आत्मकुण्ठाओं से ग्रस्त एक अतिमानव है, शेखर की ही भाँति। वह आत्म प्रवंचना में और रेखा और गोरा से प्रणय व्यापार में ही जीवन की सार्थकता समझता है। उसे जीवन में कुछ और काम ही नहीं दीखता। लेखक ने ईलियट और लारेंस की कविताओं के

समावेश से उपन्यास में एक अतिरोमानी वातावरण-सृजन करने का प्रयास किया है और उसी में भुवन, गौरा और, रेखा ऊब डूबे रहते हैं। यह 'शेखर एक जीवनी' के समान प्रौढ़ रचना नहीं बन पाया है। भाषा भी इस उपन्यास की उतनी सशक्त नहीं है।

आपकी कहानियों के संग्रह हैं—'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात' और 'जयदोल'। आपकी कहानियों में मानव की भावनाओं का शुद्ध मनोवैज्ञानिक चित्रण कम है, फ्रायडवादी मनोविश्लेषण अधिक और पात्र शेखर और भुवन की ही भाँति मानसिक विकारों से ग्रस्त; जिनके जीवन की कोई न कोई दमित भावना ही जाने-अनजाने उनके समस्त क्रिया-कलाप की संचालिका बनती है। आपकी कहानी-कला में सांकेतिकता अपूर्व है और कला तथा भाषा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अपना गौरवमय स्थान रखती हैं।

---

(२५)

यशपाल

यशपाल हिन्दी साहित्य के एक समर्थ साहित्यकार हैं। आपने प्रेमचन्द की ही भांति व्यापक और विशाल जन-जीवन को अपने उपन्यासों और कहानियों में समेट कर उनसे प्रगतिकामी चेतना की आभा विकीर्ण की है। आप प्रेमचन्द और जैनेन्द्र जैसे उत्कृष्ट कलाकारों की कोटि में आते हैं; किन्तु उनसे आपकी चेतना, प्रवृत्ति और कला भिन्न है। प्रेमचन्द ने यद्यपि व्यापक राष्ट्रीय चेतना को अपना आधार बनाया है, पर उनमें उतनी सजगता और समाज के वर्ग वैषम्य को समझने की उतनी पैनी अन्तर्दृष्टि न थी जैसी यशपाल में है। कुछ समय का भी तकाजा है। यशपाल का उद्भव ऐसे काल में हुआ जब सामाजिक वर्ग वैषम्य और अन्तर्विरोध बिल्कुल स्पष्ट हो चुके हैं और एक नया वर्ग समाज व्यवस्था की नूतन चेतना की मशाल लिए अलमबरदार के रूप में आगे बढ़ रहा था। सामाजिक संघर्ष में और भी जुझारुपन और तीव्रता आ गई है। यही अन्तर प्रेमचन्द और यशपाल के साहित्य में पड़ गया है अन्यथा दोनों ही समर्थ कलाकार हैं। जैनेन्द्र में 'दृष्टि-पथ' की व्यापकता तो है पर क्षेत्र और समस्याएँ सीमित है, जब कि यशपाल के दृष्टि-पथ, क्षेत्र और समस्याओं में भी व्यापकता है। जैनेन्द्र की कला में कसावट और सूक्ष्मता है यशपाल की कला में विस्तार। यशपाल अपने पात्रों और वर्णनों में विस्तार

से रंग भरते हैं और उसके हर पहलू को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं जब कि जैनेन्द्र सांकेतिक रंगों से ही और कभी मात्र रेखाओं से ही काम निकाल लेते हैं। फिर भी उनकी कला की यह विशेषता है कि उसमें दुरुहता और उलझन नहीं आ पाती। यशपाल एक यथार्थवादी सजग कलाकार की निस्संगता और संयम के साथ वर्तमान समाज की जर्जर रुढ़िगत मान्यताओं के थोथेपन और उनसे प्रसूत सामाजिक विकारों का चित्रण कर मानव-मन में इस सब को पलटने के लिए उद्यत होने की प्रेरणा और शक्ति फूँकते हैं। प्रेमचन्द के यथार्थ पर आदर्श हावी रहता था पर आपका यथार्थ उससे मुक्त है और संघर्षशील मानव युग-परिस्थितिओं से जूझता अडिग रह अपना मार्ग गढ़ता चलता है, जो नया मार्ग है। उसके संघर्ष से नये मार्ग का आलोक फूटता है, उसे किसी आदर्श की कल्पना नहीं करनी होती। यदि कोई आदर्श है जो सम्बल बनता है तो वह है मानव की समानता, शोषण का अन्त और मानव को मानव समझना। आपके उपन्यासों में रोमान्स होता है। क्या बिना रोमान्स के जीवन संघर्ष नहीं है! और क्या हर संघर्ष में रोमान्स होता ही है? बात ऐसी नहीं है। आज जब एक नई आर्थिक व्यवस्था का संघर्ष चल रहा है तो समाज तथा प्रेम आदि की नई मान्यताओं का भी संघर्ष चल रहा है। यशपाल आर्थिक संघर्ष को तो नई चेतना की अनुरुपता में चित्रित कर पाए हैं पर प्रेम पक्ष का चित्रण पूँजीवादी समाज के प्रेम के रूप में ही चित्रित कर पाये हैं। यह उनके उपन्यासों की बड़ी कमजोरी है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अस्तु आप उपन्यासों तथा कहानियों में नग्न रोमान्स के चित्रण कर उसे मनोरंजक बनाते हैं। यदि इन नग्न चित्रों को उनसे निकाल दिया जाय तो हमारा विचार है कि उनके उपन्यास आज के युग संघर्ष के अग्रदूत बन सकते हैं। 'दादा कामरेड' में यही कमजोरी है। आपके उपन्यासों में एक और कमजोरी है, वह यह कि आपने सर्वहारा के संघर्ष का जो चित्रण किया है वह बौद्धिक अधिक हो गया हैं। यह दोष इस युग के इस चेतना के सभी कलाकारों में है। इसका कारण है उस वर्ग से दूरी का नाता जिस वर्ग का वे चित्रण करते हैं। आपके नायक अधिकतर मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी होते हैं, जो मजदूर संघर्ष में भाग लेते हैं। 'देशद्रोही' के खन्ना साहब ऐसे ही चरित्र हैं। वे कानपुर में मजदूरों का आन्दोलन करते हैं पर प्रेम उनका यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ता। कला की दृष्टि से यह एक सशक्त और सुगठित उपन्यास है। 'दिव्या' एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास में बौद्धधर्म का ह्रास, ब्राह्मणत्व की पुनः प्रतिष्ठा और उनके षडयन्त्रों और कुचालों के मध्य में पड़ी नारी को चित्रित किया गया है। सामन्ती व्यवस्था

में वह किस तरह समर्थ की वासना पूर्ति का एक साधन मात्र है। इस उपन्यास की कथा ऐतिहासिक वातावरण में कल्पनाप्रसूत है। उपन्यास में ऐतिहासिक वातावरण का सृजन दिव्य हुआ है। 'मनुष्य के रूप' में लेखक ने एक साथ मनुष्य के विविध रूपों को अंकित किया है। पर वह अंकन एकांगी है। पूँजीवादी समाज में प्रेम एक व्यवसाय बन जाता है और नारी का रूप क्रय विक्रय की वस्तु। सामन्ती समाज में भी नारी का यही रूप था, पर पूँजीवादी समाज में उसे नारी स्वातन्त्र का आवरण देकर और पोलिश्ड बना लिया गया है। 'दिव्या' और 'मनुष्य के रूप' इन दोनों व्यवस्थाओं में नारी के स्थान का ऐसा ही अंकन हैं। इनके अतिरिक्त 'पार्टी कामरेड' आपका एक छोटा उपन्यास है जिसमें नेवी विद्रोह का तथा अँग्रेजी दमन और जनता के प्रतिरोध का चित्रण है।

कहानीकार के रूप में भी यशपाल सफल कलाकार हैं। उनकी कहानियों के लगभग दस संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'अभिशाप', 'वो दुनियां', 'ज्ञानदान', 'पिंजरे की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत चिनगारी', 'फूलों का कुर्ता', 'धर्म युद्ध', 'उत्तराधिकारी' और 'चित्र का शीर्षक।' कहानियों में यशपाल ने मानववादी परम्परा को नयी चेतना के प्रकाश में आंका है और मानव को युग-कर्दम से निकल कर चमकते प्रकाश में आने का सन्देश दिया है, जहाँ वह नई दुनियाँ गढ़ने का मार्ग ढूँढ़ सके। कहानियों की कथा-वस्तु, चरित्रचित्रण तथा भाषा शैली प्रौढ़ और परिमार्जित है। उन्होंने अपनी कहानियों में व्यक्तिगत तथा समाजगत जीवन की मौलिक समस्याओं का यथार्थ अंकन किया है और समाधान अपनी ओर से न देकर कथा-संघटन एवं विकास से तथा कहानी में चित्रित सघर्ष से स्वतः स्पष्ट होता चलता है। उन्होंने अपने उपन्यासों तथा कहानियों में आज के युग की सामाजिक एवं राजनीतिक तथा व्यक्ति के जीवन की समस्याओं को मार्क्सवादी ढंग से सोचा है और नये संघर्षशील मानव का रूप प्रस्तुत किया है। उनमें मनोभावों और मनोगत द्वन्द्वों का भी चित्रण और विश्लेषण है पर अज्ञेय और जोशीजी की तरह फ्रायड के मनोविश्लेषण विज्ञान के आधार पर नहीं। वह तो केवल सामाजिक वैषम्य और उससे प्रसूत परिस्थिति जन्य मानव मनोभावों का द्वन्द्वात्मक रूप दिखाकर उसे सामाजिक वैषम्य का अन्त करने की प्रेरणा देते हैं। उनकी कहानियों की भाषा शैली अत्यन्त ही परिमार्जित एवं प्रांजल है। यशपाल हिन्दी के उच्चकोटि के उपन्यासकार तथा कहानीकार हैं।

(३६)

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'अश्क' एक यथार्थवादी उपन्यासकार और कहानीकार हैं और प्रेमचन्द तथा यशपाल की परम्परा में आते हैं। आपका पहला उपन्यास है 'सितारों का खेल।' उसमें एक प्रेम कहानी है जो असाधारण है। उसकी नायिका लता जीवन भर प्रेम में असफल रहती है। वह एक आधुनिक शिक्षिता लड़की का प्रतीक चरित्र है जो प्रेम के रूमानी काल्पनिक विचारों में रहती है और आत्मिक प्रेम की अपेक्षा रुमानी प्रेम में ही विभोर रहती है। वह वंशीलाल जो निर्धन है की उपेक्षा कर जगत से प्रेम करती है, जो उसे प्रेम के रुमानी सब्ज बाग की सैर कराता है और फिर छोड़ जाता है 'जैसे रस गंध लेकर भौंरा'। वंशीलाल लता को सच्चा प्रेम करता है और प्रेम प्रदर्शन में लता की छत से कूद पड़ता है। उसके हाथ पैर बेकार हो जाते हैं। लता मानवता के नाते उसके साथ सहानुभूति दिखाकर उसका उपचार कराती है और अपना रक्तदान देती है। वह बच जाता है। पर लता उसे प्रेम नहीं कर पाती भले ही उसे लेकर तीर्थ करने जाती है और एक डाक्टर से प्रेम करने लगती है और वंशीलाल को जहर देकर मार डालती है। उसका प्रेम वैभव की वासना वाला प्रेम है। 'गिरती दीवारों' में लेखक रुमानी कहानी के क्षेत्र को छोड़कर घोर संघर्ष की कहानी ग्रहण करता है और मध्यवर्ग के एक ऐसे युवक का चित्रण करता है जो वर्तमान समाज व्यवस्था-जन्य परिस्थितियों से जूझता है। 'चेतन' एक अडिग संघर्ष शील चरित्र है जो मध्यवर्ग के सघर्ष का प्रतीक है। संघर्ष में उसकी चेतना और भी प्रखर होती जाती है और चेतना की प्रखरता के साथ संघर्ष भी तीव्र होता जाता है। इस उपन्यास में मध्यवर्ग के जीवन का सुन्दर और यथार्थ चित्रण है। मध्यवर्ग में किस प्रकार कुसंस्कार और जघन्यताएँ तथा अमानवीयता घर करती जा रही है और दूसरी ओर भावी विद्रोह के बीज भी उसी में अंकुरित हो रहे हैं; यही है संक्षेप में इस कहानी की थीम जिसे लेखक ने बड़ी सफलता से चित्रित किया है। कला की दृष्टि से भी उपन्यास प्रौढ़ है। संघर्ष शील चेतन, उग्र कठोर शराबी पिता शादीराम, त्याग सेवा, ममता की मूर्ति पर आत्मभीरु माँ लज्जावती, स्नेहशीला नीला, सरलहृदया चन्दा, धूर्त वैद्यराज रामदास मध्यवर्ग के विभिन्न प्रतीक पात्र हैं। अश्क के पात्रों में प्रतीकात्मकता की व्यापकता अपूर्व है। आपका तीसरा उपन्यास है 'गरमराख'। इस उपन्यास में भी मध्यवर्ग का चित्रण है। जिस प्रकार प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन और किसान वर्ग के प्रतिनिधि

कलाकार थे, उसी प्रकार 'अश्क' को नगर जीवन के मध्यवर्ग का प्रतिनिधि कलाकार कहा जा सकता है। 'गरमराख' में मध्यवर्गीय समस्याओं का तथा संघर्षों का सुन्दर अंकन है।

'अश्क' के उपन्यासों में कथागठन सुन्दर हुआ है। कहानी चरित्रों और अभीष्ट को स्पष्ट करती तीव्र गति से अग्रसर होती है। उसमें स्वतः प्रवाहशीलता है। भाषा परिमार्जित और सजीव हैं। भावों और वातावरणों के सजीव चित्र उपस्थित करने में सक्षम है।

'अश्क' की कहानियों में भी सामाजिक विषमता जन्य मध्यवर्गीय संघर्ष, जो राजनीतिक और सामाजिक भी है, चित्रित हुआ है। यह संघर्ष बहुक्षेत्रीय है जो एक साथ राजनीति, समाज, सभ्यता-संस्कृति की मानवताओं, धर्म आदि में चलता हैं। अस्तु आपकी कहानियाँ बहुक्षेत्रीय हैं और उनमें समस्याएँ भी बहुत हैं। कहानीकार के रूप में 'अश्क' एक समर्थ यथार्थवादी कहानीकार हैं। सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता आपकी कहानीकला की सबसे बड़ी विशेषता है। आपकी कहानियों में वातावरण तथा परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण है। उनके पात्र असाधारण परिस्थितियों में भी अपना मार्ग बनाते हुए आगे बढ़ते जाते हैं, झुकते नहीं, टूट भले जायँ। इस संघर्ष यात्रा में ही उनकी मानवोचित दुर्बलताओं और शक्तियों का चित्रण होता है और चरित्र के उत्थान-पतन का चित्र प्रस्तुत हुआ है।

आप हिन्दी में लिखना आरम्भ करने से पहले उर्दू के लेखक थे, और पंजाबी में भी आपने लिखा है। इसलिए आपकी भाषा पर इन दोनों भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव है। उर्दू के शब्दों का बड़ा सरस प्रयोग आपने किया है जिससे भाषा में सजीवता और बढ़ गई है। पंजाबी प्रयोग भी आगए हैं जो अवश्य खटकते हैं। मुहाविरों का प्रयोग आपने खूब किया है। प्रेमचन्द के बाद मुहाविरों का सुन्दर प्रयोग करने वाले साहित्यकारों में आपका स्थान अग्रिम है।

आपकी कहानियों के संग्रह हैं—'पिंजरा', 'कालेसाहब', 'जुदाई की शाम का गीत', 'छींटे' और 'बैंगन का पौधा'। 'दो धारा' कहानी संग्रह में उनकी तथा उनकी श्रीमती कौशल्या 'अश्क' लिखित कहानियाँ संग्रहीत हैं।

———

(२७)

डा० रांगेय राघव

रांगेय राघव हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानीकार हैं। आपने सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार की कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में आपका स्थान महत्त्वपूर्ण है। वृन्दावनलाल जी वर्मा ने ऐतिहासिक क्षेत्र से जहाँ भारतीय इतिहास के उन गौरवशाली पात्रों और घटनाओं को अपने उपन्यास का आधार बनाया है, जो आज भी हमें राष्ट्रीय उत्थान में प्रेरणा प्रदान करते हैं या जिनके द्वारा हम अपने देश की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वहाँ रांगेय राघव ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में मानव विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि, विभिन्न ऐतिहासिक विकास-चरणों के मानव-अन्तरभावों, उनकी मान्यताओं, विश्वासों और सामाजिक व्यवस्थाओं तथा प्राचीन सामाजिक अन्तर-विरोधों से औपन्यासात्मक अध्ययन के द्वारा विभिन्न युगों के मानव को समझने में हमारी दृष्टि को एक दिशा दी है, एक प्रकाश दिया है। आपके ऐतिहासिक उपन्यास हैं—'मुर्दों का टीला', 'प्रतिदान', 'चीवर', 'अँधेरे के जुगनू', 'राणा की पत्नी'। 'मुर्दों का टीला' में लेखक ने ईसा से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व की मोहन-जो दाड़ो की सभ्यता, जो आर्यों की सभ्यता से पुरानी सभ्यता थी, का तथा तत्कालीन समाज और दास प्रथा का चित्रण किया है। 'प्रतिदान' में महाभारत कालीन ब्राह्मण-क्षत्रिय द्वन्द्व का द्रोणाचार्य के माध्यम से वर्णन है और वर्णाश्रम धर्म-जनित तत्कालीन विषमता का चित्रण है। 'चीवर' हर्षवर्धन एवं राजश्री युगीन उपन्यास है और सामन्ती ह्रास की परिस्थितियों का वर्णन करता है। 'अँधेरे के जुगनू' में लेखक ने महाभारत युद्ध के बाद और बुद्ध से पूर्व के भारत के प्रायः अन्धकार-पूर्ण इतिहास को उपन्यास की विषय वस्तु बनाकर तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन—गणतन्त्र, राजतन्त्र और वर्णव्यवस्था के आन्तरिक और बाह्य संघर्ष पर इसकी रचना की है। उस काल पर लिखा जाने वाला हिन्दी का यह प्रथम ही उपन्यास है। 'राणा की पत्नी' महाराणा की पत्नी के माध्यम से अकबर—युगीन भारत की राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थिति का चित्रण प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। इन ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त लेखक ने औपन्यासिक कलेवर में कुछ ऐतिहासिक जीवनियाँ भी लिखी हैं—'देवकी का बेटा' (श्रीकृष्ण); 'यशोधरा जीत गई' (गौतम बुद्ध); 'लोई का ताना' (कबीर); 'रतना का बात' (तुलसीदास); और 'भारती का सपूत' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)। ऐतिहासिक पुरुषों की जीवनियों को उपन्यास-बद्ध करने का यह सफल प्रयास है। इनमें लेखक ने कृष्ण, बुद्ध, कबीर,

तथा तुलसी की विचार धारा तथा समाज साहित्य या धर्म में उनके स्थान पर अपना दृष्टिकोण रखा है।

लेखक के सामाजिक उपन्यास हैं—'घरौंदे', 'विषाद मठ', 'पराया', 'उबाल', 'काका', 'हजूर', 'सीधा साधा रास्ता', 'अधूरा किला'। 'घरौंदे' कालेज जीवन पर लेखक का प्रथम उपन्यास है। 'विषाद मठ' में बंगाल की अकाल-जनित स्थिति का सजीव मार्मिक चित्रण है। 'उबाल' तथा-कथित सभ्यता और संस्कृति तथा बाह्य चमक-दमक की पोल खोलने वाला उपन्यास है। 'काका' तीर्थ स्थान के मध्यकालीन विश्वासों का ह्रास, हिन्दू समाज की रूढ़िवादिता, मनुष्य के नवयुगीन आत्मसम्मान तथा सामाजिक विषमताओं के प्रति संघर्ष-भावना की प्रेरणा का उपन्यास है। 'हुजूर' कुत्ते की आत्मकथा के माध्यम से अँग्रेजी दासता से भारत की मुक्ति के अन्तरिम-कालीन समाज की विषमताओं पर व्यंगात्मक चित्र है। कुत्ता शासक वर्ग के चाटुकारों का व्यंग प्रतीक हैं। इस उपन्यास में पलायनवादी कला का भी असामाजिक रूप दृष्टिगोचर होता है। 'सीधासाधा रास्ता' उपन्यास भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' का उत्तर है। वर्माजी के पात्र ही इस उपन्यास के पात्र हैं, और उस उपन्यास की कथा-वस्तु का वहीं से आरम्भ होता है जहाँ 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की कथा का अन्त होना है। जहाँ वर्माजी ने अपने उपन्यास में व्यक्तिवाद को उभारा है, वहाँ रांगेय राघव ने अपने उपन्यास में समाज और व्यक्ति को सापेक्ष दृष्टिकोण से देखा है। 'अधूरा किला' लेखक द्वारा राजस्थान के गाँवों में रहने वाली निम्न जाति नट के जीवन को लेकर लिखा गया उपन्यास है, जिसमें रजवाड़े की स्थिति तथा विभिन्न संस्कृतियों की विवेचना पात्रों के द्वारा ही वर्णित है। यह रांगेय राघव का प्रायः कला की दृष्टि से सबसे मँजा हुआ और श्रेष्ठ उपन्यास है।

लेखक के पाँच कहानी संग्रह भी—'साम्राज्य का वैभव', 'समुद्र का फेन', 'अँगारे न बुझे', 'इन्सान पैदा हुआ' और 'ऐयाश मुर्दे' प्रकाशित हो चुके हैं। इन संग्रहों में लेखक की ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनैतिक कहानियाँ संग्रहीत हैं; जिनमें राजकुल से लेकर मध्यमवर्ग तथा निम्न मध्यमवर्ग एवं जनता के विभिन्न स्तरों और क्षेत्रों के पात्रों के जीवन और उनकी समस्याओं का सजीव यथार्थ चित्रण हुआ है। ऐतिहासिक कहानियों की भाषा अधिकाँशतः संस्कृत गर्भित है, किन्तु अन्य कहानियों की विषयानुकूल।

'तूफानों के बीच' लेखक का बंगाल के अकाल पर आँखों देखा वर्णनपूर्ण रेखाचित्र है जो हिन्दी साहित्य में अपना अनूठा स्थान रखता है।

(२८)

अमृतलाल नागर

अमृतलाल नागर संवादों के शिल्पी, घरेलू जीवन के कुशल चित्रक, कथागठन में माहिर, मनुष्य के अन्तरविरोधों को उभाड़ कर उसकी दुर्बलताओं पर करारे व्यंग करने वाले तथा मनुष्य की मूर्खताओं का गम्भीरता के साथ मजाक उड़ाने वाले निम्न वर्ग, मध्यवर्ग तथा अभिजात्य वर्ग की विषम परिस्थितियों एवं उनकी संस्कृति के सफल और कुशल चित्रकार हैं। अभिजात्य वर्गीय नवाबों के जीवन के खोखलेपन और उनकी मुलम्मा चढ़ी संस्कृति और सभ्यता का नागर ने अत्यन्त ही सजीव एवं सत्य चित्रण प्रस्तुत किया है। आपने अपने उपन्यासों और कहानियों में जिस स्थान की कथा ली है वहाँ का चित्रण अत्यन्त ही सजीव, स्वाभाविक एवं सत्य किया है। भाषा में भी स्थानीय बोलचाल का पुट लाकर उसे और भी स्वाभाविक बना दिया है। आगरे और लखनऊ की बोली के स्लैंग का सुन्दर रूप उनके उपन्यासों में मिलता है।'सेठ बाँकेमल' में आगरे के एक मुहल्ले गोकुलपुरे का हू-बहू चित्रण मिलता है यहाँ तक कि बोल-चाल का ढंग भी। इस पुस्तक में उच्चवर्ग के खोखलेपन का चित्रण है।

कहानियों में नाटकीयता है। दृश्य चित्रण तथा पात्रों की भावभंगी के चित्रण से वर्णन में नाटकीयता का अपूर्व गुण आ जाता है। आपकी इस शैली पर सिनेमा का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

आप वर्तमान लेखकों में हास्य और व्यंग के उत्कृष्ट कलाकारों में स्थान रखते हैं। आपके हास्य और व्यंगों में गाम्भीर्य होता है और उनके द्वारा जीवन की किसी गम्भीर समस्या पर तथा जीवन के गम्भीर पहलू पर प्रकाश पड़ता है। हास्य और व्यंग साध्य नहीं अपितु साधन है जो जीवन के खोखले-पन को उद्घाटित कर मन में उद्वेलन और आलोड़न उत्पन्न करने की शक्ति रखते हैं। 'सूखती नदियाँ', 'नवाबी मसनद', 'बूँद और समुद्र' आपके सुन्दर कहानी संग्रह और उपन्यास हैं।

भाषा में उर्दू के शब्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है किन्तु उससे हिन्दी की स्वाभाविकता में कोई बाधा नहीं पहुँचती।

---

(२६)

नागार्जुन

नागार्जुन ने प्रमुख रूप से ग्रामीण जीवन का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन की यथार्थ झाँकी अपने उपन्यासों में प्रस्तुत की थी। उनके उपन्यासों में एक सत्य था। नागार्जुन ने उसमें सरसता का समावेश किया है। किन्तु ग्रामीण जीवन की वह उदात्तता जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में है नागार्जुन के उपन्यासों में नहीं आ पाई। प्रेमचन्द ने ह्रासोन्मुख ग्रामीण जीवन में जुझारु मानवता का चित्रण किया है जो किसान-वर्ग की अपनी चिरसंचित विरासत है। नागार्जुन ने जब ग्रामीण जीवन का चित्रण करना आरम्भ किया उस समय तक वर्तमान व्यवस्था ने ग्रामीण जीवन की रही-सही उदात्तता को भी समाप्त कर दिया था और उसी यथार्थ को नागार्जुन ने ग्रहण किया है। अस्तु इनके उपन्यासों में वह उदात्तता नहीं आ पाई है।

आपने अब तक ग्रामीण जीवन पर चार उपन्यास लिखे हैं और चारों में प्रायः ग्रामीण-मस्तिष्क का क्रमिक विकास दिखाया गया है। 'रतिनाथ की चाची' में ११-१२ वर्ष तक के बालक का विकास चित्रित है। 'बलचनवाँ' में यह विकास १२-१३ वर्ष के बालक से आरम्भ होता है। 'बाबा बटेश्वरनाथ' में बट वृक्ष को केन्द्र मानकर कथा का ताना-बाना बुना जाता है। एक ग्रामीण गाँव से शहर में आता है। शहर में आकर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है और वह नगर जीवन से सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाता, अतः लौट कर गाँव चला जाता है। यही इस उपन्यास की मूल कथा है। नागार्जुन ने गाँव में जन्म लेने वाले एक नये किसान का, जो अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करता है चित्रण किया है। किन्तु उस चित्रण में गहराई और उदात्तता की कमी है, इसी कारण ग्रामीण जीवन के आपके उपन्यास प्रेमचन्द के उपन्यासों के समान ग्रामीण जीवन के प्रतिनिधि उपन्यास नहीं बन पाए। फिर भी प्रेमचन्द की चेतना के आगे एक कदम बढ़ाने का प्रयत्न आपके उपन्यासों में हमें दिखाई पड़ता है जिसे सफलता से निबाहने के लिए नागार्जुन का कलाकार सचेत प्रतीत होता है।

भाषा में स्थानीय शब्दों और स्लैंग का प्रयोग है। स्थानीय संस्कृति रीति-रिवाज और विश्वासों का भी सजीव चित्रण आपके उपन्यासों में हुआ है। आप कवि भी हैं। कवि की अपेक्षा आप उपन्यासकार अधिक सफल हैं। इसमें सन्देह नहीं। भाषा आपकी सरल और स्वाभाविक है।

"नई पौध" नागार्जुन का नया उपन्यास है, जिसमें मैथिली ब्राह्मणों के पेशेवर दामादों की कुरुचिपूर्ण—नहीं जघन्य—कहानी को यथार्थ के ढाँचे में ढाला है। एक बूढ़ा चौदह वर्ष की बालिका से पाँचवा विवाह करना चाहता है। गाँव के युवक-वर्ग इससे लुब्ध हो उठते है और उसका विरोध करते हैं। पण्डितों की जघन्यता और तरुणों के नवीनता मूलक विद्रोह का संघर्ष उपन्यास को यथेष्ट सजीवता प्रदान करता है।

भाषा मैथिली शब्दों की मिलावट से सजीव हो उठी है। कथोपकथनों में पात्रोचित अनेकरूपता है। प्रेमचन्द की परम्परा नागार्जुन उपन्यासों में फिर से करवटें लेने लगी है।

---

(३०)

उदयशंकर भट्ट

उदयशंकर भट्ट हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि और नाटककार हैं। आपने 'वह जो मैंने देखा' और 'नए मोड़' उपन्यासों की रचना की है। 'वह जो मैंने देखा' विषय-वस्तु की दृष्टि से शरतबाबू के 'श्रीकान्त' के अधिक निकट और शैली की दृष्टि से अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' के निकट है। उस उपन्यास के पात्र रोमेन्टिक जीवन व्यतीत करने की अदम्य लालसा से ग्रसित हैं; और लेखक पग-पग पर अपने पात्रों की इस लालसा की पूर्ति के लिए सजग प्रतीत होता है और वह कथा को ऐसी मोड़ देकर उसके लिए अवसर प्रदान करता चलता है। इससे कथा-गति में एक कृत्रिमता सी आ गई है। उपन्यास में 'श्रीकान्त' की सी उदात्तता नहीं आ पाई है। शैली आत्म कथात्मक है। उपन्यास का नायक अजय आप बीती स्वयं कहता है। बीच-बीच में आत्म विश्लेषण भी करता चलता है।

"नये मोड़" में मध्यवर्गीय जीवन की क्रान्तिकारी भावनाओं का चित्रण है। इसमें राजनीतिक समस्याओं को लिया गया है। वातावरण घटनाओं और स्थितियों का वर्णन कहीं-कहीं अस्वाभाविक और अतिरंजित सा लगता है।

भाषा-शैली की दृष्टि से दोनों उपन्यास सुन्दर हैं। उनमें काव्यमयी कल्पना की अपेक्षा यथार्थ चित्रण अधिक है। उपन्यास-कला तथा भाषा की दृष्टि से आप सफल हैं। यद्यपि उसमें विशेष मौलिक नवीनता नहीं है फिर भी कलात्मक गठन तथा कथन-चातुरी की विशेषता है। विशेषकर अपाने परम्परागत कला

उपकरणों को ही अपनाया है। भाषा में काव्यमयता और प्रांजलता है। जीवन के संघर्षों का चित्रण करने का भी प्रयास किया गया है। किन्तु उस चित्रण में लेखक अपने आग्रहों से ऊपर नहीं उठ पाया है।

---

(३१)

भगवतीप्रसाद बाजपेयी

बाजपेयी जी हिन्दी के एक माने हुए और सफल उपन्यासकार तथा कहानीकार हैं। आपके उपन्यास हैं—'प्रेम पथ', 'ललिता', पिपासा', 'पतिता की साधना', 'दो बहिनें', 'निमन्त्रण', 'गुप्त धन', 'चलते चलते' आदि। 'प्रेम पथ' में वासना और कर्त्तव्य का सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व चित्रित हुआ है। वासना के विविध रूप इस उपन्यास में दिखाए गए है। यह एक आदर्शवादी उपन्यास है जिसमें चरित्र का पतन से उत्थान दिखाया गया है। पिपासा में भी प्रेम और कर्तव्य का चित्र है।शकुन अपने पति के प्रति कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए भी मास्टर कमलनयन से प्रेम करती है। पर इससे उसकी पति परायणता में कोई अन्तर नहीं आ पाता। पर मन में एक अशान्ति उत्पन्न हो जाती है और कमलनयन के प्रति अपने प्रेम को वह स्वयं ही सहन नहीं कर पाती और आत्म हत्या कर लेती है। 'पतिता की साधना' में लेखक ने विधवा नन्दा और हरी के परस्पर प्रेम को साधना के आदर्श का जामा पहनाया है। 'दो बहिनें' में दो बहिनें एक साथ एक ही व्यक्ति ज्ञान प्रकाश से प्रेम करती हुई दिखाई गई हैं। इस कहानी पर फिल्म टेकनीक का प्रभाव है। 'निमन्त्रण' की कथा के सम्बन्ध में लेखक ने स्वयं यह दावा किया है कि 'इसमें जो कुछ कहा गया है वह सब सच्चा और यथार्थ है, इसके सभी पात्र महात्वाकांक्षी, और कल्पना लोक के जीव हैं, सभी पात्र लेखक के हाथ की कठ पुतली हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण का भी आप पर थोड़ा सा प्रभाव है, पर उसका कलात्मक निर्वाह आप नहीं कर सके हैं।

कहानियों के सम्बन्ध में भी यह कहना ही सत्य होगा कि आपने चरित्र प्रधान मनोविश्लेषणामक कहानियाँ लिखी है। आपकी भाषा बोल-चाल की सरल, पर साहित्यिक और प्रांजल है।

---

(३२)

राहुल सांकृत्यायन

राहुल का महत्व हिन्दी उपन्यास और कहानी क्षेत्र में टेकनीक के कुछ नये प्रयोगों के कारण हैं। उन्होंने अनेक उपन्यास लिखे हैं। जिनमें रोमांचकारी ऐतिहासिक, सामाजिक-राजनीतिक सभी प्रकार के हैं। उनके उपन्यास हैं— 'बीसवीं सदी', 'जादू का मुल्क', 'भागो नहीं बदलो', 'सोने की ढाल', 'जीने के लिए', 'सिंह सेनापति', 'शैतान की आँख' 'जय यौधेय' आदि और अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया है। 'सिंह सेनापति' में उपन्यास लिखने की एक नितान्त नई टेकनीक का प्रयोग किया गया है। वह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। ऐतिहासिक वातावरण में उसकी कथा की कल्पना लेखक ने की है। प्राचीन गणराज्यों की सभ्यता और संस्कृति को इसमें दर्शाया गया है। इस उपन्यास का आरम्भ लेखक एक कल्पित खोज से करता है कि उसे एक स्थान पर जमीन से कुछ ईंटें प्राप्त हुईं और उन पर ही यह कथा वर्णित की। वह ईंटें लेखक ने पटना म्यूजियम में रखदी हैं। यह सारी कपोल कल्पना है और ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का हिन्दी में एक नया ढंग है जिसे फ्रांस और अँग्रेजी लेखकों ने पहले अपनाया था।

आपका एक कहानी संग्रह 'बोलगा से गंगा तक' प्रकाशित हुआ है। उसकी कहानियाँ इतिहास के आदिकाल से आरम्भ होकर वर्तमान तक आती हैं। यह कहानियाँ विभिन्न युगों की सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन है और सारी कहानियाँ मिलकर बोल्गा से लेकर गंगा तक की संस्कृति का एक क्रमवद्ध इतिहास-विकास प्रस्तुत करती हैं। इसी टेकनीक में भगवतशरण उपाध्याय ने भी अपनी कहानियाँ लिखी थीं।

---

(३३)

निराला

निराला प्रमुख रूप से कवि हैं, गद्यकार पीछे, किन्तु उन्होंने हिन्दी गद्य का भी सुन्दर निर्माण किया है। गद्यकार के रूप में वे प्रमुखतः उपन्यासकार हैं उनका कहानी साहित्य नगण्य है। उनमें उपन्यासकार की प्रतिभा है और उनके उपन्यासों में हमें उत्कृष्ट कला के दर्शन होते हैं। आपने ग्रामीण मध्यवर्ग शिक्षित-अशिक्षित, अभिजात्यवर्ग और किसान मजदूर सबकी समस्याओं को

और उनके जीवन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। उनके उपन्यासों पर शरत-टेकनीक का प्रभाव दीख पड़ता है। कविता क्षेत्र में भी निराला जी बंगाली भाषा की कविताओं से अत्यधिक रूप से प्रभावित हैं। आपके उपन्यासों में आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याएँ ली गई हैं और यथार्थवादी चित्रण आपकी रचनाओं में मिलता है। आरम्भ में आपकी रचनाओं पर लोगों ने नग्नता का आक्षेप किया था; किन्तु वस्तुतः वह उग्र आदि जैसी नग्न रचनाएँ नहीं है, वरन् यथार्थवादी रचनाएँ हैं। आपका पहला उपन्यास 'अप्सरा' इस विवाद का केन्द्र बना था। उसके बाद आपने 'अलका' 'निरूपमा', 'प्रभावती', 'चमेली', 'कुल्लीभाट', 'बल्लेसुर बकरिहा' का सृजन किया। अधिकांश उपन्यासों में नारी पात्रों की प्रधानता है, उन्हीं के चरित्र-गत उत्थान-पतन की धुरी पर उपन्यास के समस्त घटना चक्र चलते हैं। निरूपमा में तो बंगाली और युक्त प्रान्तीय संस्कृति का मेल कराया गया है। 'कुल्ली भाट' और 'बल्लेसुर बकरिहा', यथार्थ जीवन के आपके सबसे प्रसिद्ध उपन्यास हैं। बल्लेसुर बकरिहा तो अपने ढंग का हिन्दी साहित्य में निराला उपन्यास है। इसमें ग्राम चित्र चित्रित है, जिसे बड़ी सजीवता से से निराला जी ने वर्णित किया है। लेखक के अपने अनुभव से चित्र के रंग और भी प्रखर और स्वाभाविक एवं सजीव हो उठे हैं। सामन्ती समाज और पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के दो पाटों के बीच गाँव का किसान वर्ग किस मुसीबत का सामना कर रहा है, उसकी अवस्था कैसे जर्जर हो गई है और वे गांव जहाँ भारतीय संस्कृति निवास करती थी कैसे शमशान हो रहे है उसका बड़ा हृदयग्राही चित्रण हुआ है। आपका अन्तिम उपन्यास है 'चोटी की पकड़'। इस उपन्यास में भी 'निरूपमा' की तरह बंगाली जमीदार वर्ग का चित्रण लेखक ने किया है। यह उपन्यास इस बात का प्रमाण है कि लेखक को बंगाली समाज का भी कितना गहरा अनुभव है। उन्होंने बंगाल में रहकर बंगाली समाज, उनके परिवार और उनकी सम्यता-संस्कृति का बड़ी निकटता से अध्ययन-अनुभव किया था। इस उपन्यास में लेखक ने बंगाली जमींदारों की ऐयाशी, जनता पर उनके अत्पाचारों, उनकी स्त्रियों के चारित्रिक पतन आदि का बड़ा ही सुन्दर और मार्मिक वर्णन किया है।

आप कवि हैं और आपके कवि होने का प्रभाव आपकी गद्य की भाषा पर भी पड़ा है, और उसमें भी लाक्षणिकता, अलंकारिकता, सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता आदि काव्य गुण सहज में आ गए हैं। इससे उनकी भाषा-शैली में भी एक अनूठापन आ गया है।

(३४)

रावी

कहानियाँ :—रावी जी हिन्दी कथा साहित्य में अपनी लघु प्रतीकात्मक कहानियों के लिए एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। आपकी लघु कहानियों के पाँच संग्रह—(१) 'किसके लिए', (२) 'पत्नियों का द्वीप', (३) 'उपजाऊ पत्थर', (४) 'पाप का पुण्य', (५) 'पहिला कहानीकार'; प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी कहानियों की कथा-वस्तु प्रायः कल्पित होती है। लेखक जब अपना कोई विशेष सन्देश या विचार अभिव्यक्त करना चाहता है तो वह इन लघु कथाओं के माध्यम से करता है। सभी कहानियों में कोई न कोई विचार है या समाज के लिए आदर्श है। अस्तु संक्षेप में उन्हें वर्तमान जीवन के किसी पहलू या समस्या पर प्रकाश डालने अथवा जीवन में एक आदर्श उपस्थित करने अथवा व्यंग करने वाली प्रतीकात्मक कहानियाँ कह सकते हैं। लेखक का एक संग्रह और है 'पूर्व और पश्चिम' जिसे लेखक ने स्वयं नाट्य कहानियाँ कहा है—'उन कहानियों को एकांकी न कहकर 'नाट्य कहानी का नाम देकर मैंने अपना बहुत कुछ बचाव कर लिया है।' किन्तु वस्तुतः इन 'नाट्य कहानियाँ' की शैली देखने मात्र से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह एकांकी हैं न कि कहानियाँ। इसी कारण उस संग्रह को हम यहाँ छोड़ते हैं।

इन कहानियों का पौराणिक, ऐतिहासिक, किबंदन्तियों और लोक कथाओं से कथा-वस्तु-चयन की दृष्टि से कोई सन्बन्ध नहीं होता, सभी की कथा काल्पनिक है सिवाय एक दो को छोड़कर—जिसकी कल्पना का आधार मात्र पौराणिक होता है, कल्पना पौराणिक तथ्य से सर्वथा स्वतन्त्र है, जैसे—'अजेय शक्ति', जिसमें प्रहलाद की कथा का आधार लिया गया है। किन्तु इनकी शैली को हम पौराणिक कथाओं, किबंदतियों और लोक-कथाओं की शैली कह सकते हैं। भाषा अत्यन्त रोचक सजीव, सरल और मर्मस्पर्शिनी होती है। उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी यथा प्रसंग प्रयोग हुआ है जो खटकता नहीं।

उपन्यास :—लेखक का केवल एक उपन्यास 'नए नगर की कहानी' अब तक प्रकाश में आया है। यह एक भावात्मक और विचारात्मक उपन्यास है, जिसमें लेखक ने अपने विचारों के अनुसार एक भावी आदर्श समाज का 'युटोपिया' प्रस्तुत किया है। मानव की आज की समस्याओं से जूझते हुए एक

नए समाज के शिलान्यास की अदम्य शक्ति से उपन्यास का कथानक परिपूर्ण है। लेखक ने जिस नैतिक आदर्श का सन्देश दिया है उसे प्राचीन नैतिकता का गान्धीवादी दर्शन के अनुरूप आधुनिकीकृत दर्शन कह सकते हैं। लेखक पर थ्योसोफिस्ट दर्शन का प्रभाव भी स्पष्ट है।

उपन्यास की शैली रहस्यात्मक ढंग से चलती है जिसमें जासूसी उपन्यासों की सी रोचकता है। सामाजिक कथा वस्तु को जासूसी शैली में लिखा कहा जा सकता है। भाषा कहानियों की ही भाँति सरल और सरस है।

---

(३४)

डॉ० देवराज

आपकी उपन्यास-कला अँग्रेजी, विशेषकर नये फ्रांसीसी उपन्यासों से प्रभावित है—विशेषतः मार्शल प्रूस्त से। आप अपने उपन्यास में मानव मस्तिष्क के मानसिक संघर्षों का चित्रण करते हैं जो दार्शनिक विवेचन के स्तर तक पहुँच जाता है और पात्र लम्बी-लम्बी दार्शनिक बहसों में उलझ जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है, मानों अपनी दार्शनिक विचारधारा को रोचक रूप से प्रस्तुत करने के हेतु उसे उपन्यास-कला के कलेवर में सजाकर रखा गया हो। आपके उपन्यास 'पथ की खोज' में दार्शनिकता अधिक है। यद्यपि लेखक ने कथा को विस्तार बहुत दिया है पर उसमें एक ऐसी उलझन है जो सुलझने का नाम ही नहीं लेती। आपके दूसरे उपन्यास 'बाहर भीतर' में दार्शनिकता अपेक्षतया कम है इसीलिए उसमें सरसता भी है और सरलता भी भाषा शैली पांडित्यपूर्ण है। सरल भाषा के बीच-बीच में कहीं-कहीं संस्कृत के ऐसे दुरुह शब्दों का भी प्रयोग हो गया है जो व्यर्थ और अनुपयुक्त है और जिससे भाषा की स्वाभाविक प्रवाहशीलता मारी जाती है।

'बाहर भीतर' में 'पथ की खोज' की अपेक्षा कला-पक्ष प्रबल है। कथानक सुगठित है और भाषा स्वाभाविक है। संवादों में भी प्रवाह है। मध्यमवर्गीय समस्याओं का सुन्दर चित्रण इस उपन्यास में हुआ है विशेष-कर पारिवारिक सम्बन्धों का चित्रण अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक हुआ है।

---

(३६)

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'

शिवप्रसाद मिश्र ने उपन्यास कला में एक नया प्रयोग कर अपना उपन्यास 'बहती गंगा' प्रस्तुत किया है। 'बहती गंगा' एक ऐतिहासिक उपन्यास है और काशी नगरी के गत दो सौ वर्षों के लम्बे काल का विवरण बड़ी कुशलता के साथ उपन्यास की टेकनीक से सँवार-सजाकर प्रस्तुत किया गया है। यह अपने ढंग का एक नया ही उपन्यास है, जिसमें न तो एक काल की क्रम-बद्ध कथा है और न उसका कोई एक नायक ही है। वरन् काशी नगरी में चेतना के विकास के विभिन्न चरणों, विभिन्न मोड़ों का विविध पात्रों के माध्यम से सुन्दर चित्रण हुआ है। ऐसा चित्रण जो एक क्रम-बद्ध कथा न होते हुए भी एक सूत्र में बँधा है और वह सूत्र है चेतना का, बनारसी जनता की दो सौ वर्षों से बदलती भावनाओं, विचारों, मान्यताओं और समग्र जीवन का। राजवर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक, भिखारी और साधू तक, सब उसमें मूर्तिमान और सजीव रूप में चित्रित हुए हैं। दो सौ वर्षों के विकास स्तर की विभिन्न मणियों को जिस सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत किया गया है वह है—राष्ट्रीय चेतना, देश-भक्ति की भावना। यह भावना राजा चेतसिंह के विद्रोह से आरम्भ होकर विकास के विभिन्न स्तरों को पार करती संगठित मजदूर आन्दोलन और कम्यूनिस्ट पार्टी के संगठन तक आती है।

लेखक ने बिखरी ऐतिहासिक सामिग्री, जनता में प्रचलित किंवदन्तियों और विश्वासों में बिखरे ऐतिहासिक सत्यों को बड़ी चातुरी से बटोर कर उसे चेतना की एक सुसम्बद्ध लड़ी में पिरो कर उपन्यास के कलेवर में सजाया है। इसका प्रत्येक परिच्छेद अपने में एक स्वतन्त्र कहानी भी है और अगले परिच्छेद से सम्बन्ध रखते हुए उपन्यास का एक अंग भी है। यही इस उपन्यास की सबसे प्रमुख कलागत विशेषता है।

उपन्यास की घटनाओं में कौतूहल, मार्मिकता और हृदय की पकड़ है। पात्रों में सजीवता, बनारसी जिन्दादिली, अलमस्ती और अक्खड़ता किन्तु मानवीय सहृदयता, करुणा, दया, त्याग की भावना है। उनके चरित्रों में अपनापन होते हुए भी समाज सापेक्षता है। नागर और भंगड़ भिक्षुक गुण्डे थे पर दूसरों के प्राण लेने वाले समाज के निकृष्ट प्राणी नहीं, वरन् दूसरों के प्राणों की रक्षा करने वाले, जिन पर समाज गर्व कर सकता है। दुलारी और अमीरजान वेश्या हैं, पर उनमें भी हृदय है, वह प्रेम को जानती हैं, उनमें भी

चारित्रिक उच्चता है, जो निकृष्ट पेशेवाली होते हुए भी हमारा मन अपनी ओर बरबस खींच लेती हैं। उपन्यास के छोटे से कलेवर में ही लेखक ने राष्ट्रीय, सामाजिक तथा व्यक्तिगत् जीवन की देशभक्ति, सामाजिक मान्यताओं तथा प्रेम की विविध-पहलू-समन्वित समस्याओं का सजीव एवं मार्मिक चित्रण किया है।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता इसकी भाषा है। इसकी भाषा में हमें भारतेन्दु युगीन सजीव और जिन्दादिल, सीधी मुहाविरेदार भाषा के दर्शन होते हैं और साथ ही उसमें परिमार्जन और आधुनिक गठाव और अपूर्व प्रवाहशीलता है। उपन्यास की शैली ने निश्चय ही उपन्यास कला में एक नई टेकनीक की देन दी है, विशेषकर ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए।

---

(३७)

शिवमूर्ति शिव

हिन्दी के तरुण उपन्यासकार हैं। आपका प्रथम उपन्यास 'धरती के हरे लहँगे' क्रान्तिकारी जीवन का उपन्यास है। लेखक ने सच्ची घटनाओं का आधार लेकर उपन्यास को ठोस यथार्थ आधार देने का प्रयास किया है किन्तु वह विशेष सफल नहीं हो पाया। उसका नायक केशव सामाजिक रूप से मानसिक च्युति का रोगी है। उसको लेखक ने जिस ढंग से रोग-मुक्त कराया है वह अत्यन्त यान्त्रिक है। उसमें सजीवता नहीं है। क्रान्तिकारी जीवन का तथा जंगली जातियों में नये जीवन के अरुणोदय का चित्रण भी यान्त्रिक सा ही बन पड़ा है। घटनाएँ जीवन के गर्भ से नहीं उद्भूत होती वरन् लेखक द्वारा निर्मित की गई हैं और पात्रों का चित्रण भी ऐसा ही कृत्रिम है।

भाषा में कोई सजीवता नहीं है। यत्रतत्र बड़े अटपटे वाक्यों का प्रयोग मिलता है जैसे 'वे जाते रहे', 'खाते रहे' आदि। शैली की दृष्टि से भी उपन्यास शिथिल है। उसमें क्रान्तिकारी जीवन की गहराई नहीं उभरती वरन् एक प्रकार से उसका व्यंग चित्र सा वह प्रतीत होता है।

---

(३८)

धर्मवीर भारती

भारती उपन्यास क्षेत्र में भी मूलतः प्रयोगवादी कलाकार हैं। आपके प्रयोगों में एक प्रकार का चमत्कार होता है, जिस चमत्कार की चकाचौंध में कथावस्तु की गहराई काफूर हो जाती है। केवल ऊपरी ढाँचा ही जिसे बड़े लाघव के साथ बना चुनाकर नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया होता है, अपनी नवीनता के कारण आँखों को अपनी ओर आकर्षित करता है।

आपके दो उपन्यास—'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और 'गुनाहों का देवता' तथा एक कहानी संग्रह 'मुर्दों का गाँव' प्रकाशित हुए हैं।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की कथा का वर्णन माणिक मुल्ला करता है। माणिक मुल्ला अलग-अलग सात कहानियाँ कहता है। इन कहानियों के द्वारा ही उपन्यास का ताना बाना बुनने का प्रयास किया गया है, किन्तु कहानियाँ विच्छृङ्खल हैं अतः वह एक क्रमबद्ध उपन्यास नहीं बन पाता। कथा का आरम्भ एन्जेलो सिकेलिआनों की एक कविता से आरम्भ होता है। उस कविता का निराशापूर्ण भाव ही उपन्यास की कथा की मूल आत्मा है। वर्तमान पीढ़ी से कोई आशा नहीं है कि वह सामाजिक जीवन की गुत्थी को सुलझा सके, दलदल में फँसे सूरज के सातवें घोड़े को निकाल सके। अब तो अगली पीढ़ी से ही ऐसी आशा है कि वह उसे निकाल सके। सारी कथा एक रूपक है। किन्तु उसकी व्यंजना से स्पष्ट है कि लेखक किस हद तक निराश है। कहानी कहने के ढंग में एक अपूर्णता है। उपन्यास में विभिन्न वर्गों के जीवन का चित्रण है, पर सभी में निराशा का ही चित्रण लेखक ने किया है। मानव का जुझारुपना उसमें दब गया है। वह एक निराश निर्जीव मानव समाज का चित्रण है, एक ऐसे मानव का प्रतीक चित्रण है जो बात बात में निराशा प्रगट कर कह देता है—अब तो आने वाले लोग करेंगे, हमारा जमाना तो बीत गया और बड़ी आसानी से अपने कर्तव्य से विमुख हो जाता है।

'गुनाहों के देवता' में पुराने प्लेटोनिक प्रेम को नए ढंग से प्रस्तुत किया है। उसके चित्रण के लिए लेखक ने प्रेम के नग्न-प्रकृतवाद का आश्रय लिया है। विरह चित्रण में मनोवैज्ञानिकता है। आज समाज में आर्थिक विषमता के कारण प्रेम जैसे पवित्र सम्बन्ध भी टूट जाते हैं। यही समस्या उपन्यास की कथा का केन्द्र-विन्दु है। किन्तु लेखक समस्या के कारणों की तह में न जाकर उसकी नग्नता के चित्रण में ही अधिक मजा लेता रह गया है सर्वत्र एक रुमानी वातावरण ही छाया रहता है। कथा आधार इसका बहुत कमजोर

और अस्वस्थ है। शैली का चमत्कार ही इसकी जान है। लेखक ने अनेक लेखकों की शैली का मिश्रित रूप अपनी शैली में प्रस्तुत किया है।

भारती के उपन्यासों की विषय वस्तु पर हिन्दी के लेखकों में अज्ञेय और भगवतीचरण वर्मा का प्रभाव स्पष्ट है और लेखक उन्हीं की तरह मनोवैज्ञानिक चित्रण के नाम पर मन की सारी गन्दगी का वमन करना ही सबसे बड़ी प्रगतिशीलता समझता है जो प्रगतिशीलता नहीं है और कुछ भी भले हो, क्योंकि समाज पर उसका स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ता।

---

(३६)

अमृत राय

अमृतराय प्रमुख रूप से कहानीकार हैं। यों आपने एक उपन्यास 'बीज' भी लिखा है। कहानियों में आपने मध्यवर्गीय पारिवरिक जीवन की विभिन्न समस्याओं का चित्रण किया है। उस चित्रण में सजीवता स्वाभाविकता और मार्मिकता है। भाषा पर आपका अधिकार है। भाषा सरल और सहज किन्तु परिष्कृत होती है। कहानी-कला का गठाव भी सुन्दर है। आपकी कहानियाँ कला तथा वस्तु दोनों ही दृष्टियों से सुन्दर हैं। जीवन को अपने प्रगतिशील दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। कुछ कहानियाँ आपने राजनैतिक जीवन पर लिखी है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

उपन्यास क्षेत्र में आपका प्रयास प्रथम है जो प्रथम होने के नाते सफल है। वर्तमान समाज में सामाजिक और पारिवारिक जीवन में राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से किस प्रकार सन्तुलन स्थापित हो सकता है—यह दिखाना ही उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। उसमें एक साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं जीवन की व्यक्तिगत् समस्याओं को लिया गया है और उन सबका एक समाधान समाज एवं राज व्यवस्था के परिवर्तन की चेतना की पृष्ठ भूमि में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। एक साथ जीवन की इतनी विविध समस्याओं को लेकर चलने से ही उसमें कथा—गठाव और निर्वाह की शिथिलता आ गई है। उपन्यास में अंग्रेजी के उद्धरण से उपन्यास सीमित वर्ग के उपयोग का रह गया है। यह प्रभाव अज्ञेय का है जो अपनी ऊपरी चमक-दमक से लोगों को प्रभावित करता है। शैली का कोई नवीन रूप हमें इसमें देखने को नहीं मिलता।

कहानियाँ और उपन्यास दोनों की ही भाषा में उदू के शब्दों के तथा मुहाविरों के प्रयोग की प्रचुरता है।

---

(४०)

देवेन्द्र सत्यार्थी

देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक साहित्य पर अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। रथ के पहिए' उनका लोक जीवन पर लिखा गया एक सुन्दर उपन्यास है। आसाम की जंगली जातियों के जीवन पर उन्होंने अपना यह उपन्यास लिखा है। इसमें जंगली जातियों की रीति-रिवाजों, उनके विश्वासों, मान्यताओं, सभ्यता और संस्कृति से संकुल जीवन का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में लेखक के घुमक्कड़पन की झलक भी हमें देखने को मिल जाती है। अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' में हमें शेखर और भुवन के रूप में लेखक में घुमक्कड़ जीवन की एक झलक देखने को मिलती है, किन्तु वहाँ एक बौद्धिकता है। सत्यार्थी के उपन्यास में एक सरसता है और जीवन की सहजता। पात्र बौद्धिक तनाव में खिंचे-खिंचे से नहीं रहते; उनमें एक सरलता और लोक साहित्य का सा भोलापन और सरसता है।

हिन्दी साहित्य में उपन्यासों का कथानक अधिकांश में निम्न मध्यवर्ग, या उच्चवर्ग से ही लिया गया है। नया क्षेत्र खोजने और उस जीवन पर उपन्यास लिखने का प्रयास बहुत कम हुआ है। बंगला और गुजराती साहित्य में तो इस प्रकार के कुछ प्रयास हुए भी हैं। सत्यार्थी ने जीवन के एक नये क्षेत्र को लेकर सजीव उपन्यास की रचना की है। उसके लिए उनकी शैली भी उपयुक्त है।

सत्यार्थी जी की भाषा में भी सजीवता और सरलता है। जिस जीवन का वह उपन्यास है उस जीवन के उपयुक्त ही उनकी भाषा है जिससे उपन्यास में और भी सरसता और स्वाभाविकता आ गई है।

'कठपुतली' देवेन्द्र सत्यार्थी का नया उपन्यास है। इसका नायक सुशील एक नाटककार है जो एक कलाकार के समवेदनशील हृदय के कारण देश के विभाजन की घटना से अभिभूत हो जाता है और झकझोर उठता है। इस उपन्यास में मनुष्य परिस्थितियों का दास बनकर कठपुतली नहीं बन जाता, वरन् उससे संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ता है। यह एक संघर्षशील कलाकार की कहानी है। इसमें विश्व मैत्री और उदात्त मानवता का स्वर प्रबल है।

---

(४१)

शिवसागर मिश्र

आपका उपन्यास 'चाँद के धब्बे' में मध्यवर्गीय मानव की परिस्थिति-जन्य घोरतम निराशा और निम्नमध्य वर्ग के परिस्थिति-जन्य पतन का चित्रण है। भुवन एक शिक्षित मध्य वर्गीय युवक है जिसके जीवन में पारिवारिक कलह के कारण निराशा घर कर जाती है और वह जीवन और मनुष्य के प्रति आस्था और विश्वास खो एकान्तिक और व्यक्तिवादी हो जाता है और अन्त तक वह ऐसा ही रहता है। उसकी घोर निराशा में ही उपन्यास का अन्त होता है। उपन्यास का दूसरा मुख्य पात्र है—रामू परिस्थितियों के कारण प्रसिद्ध डकैत हो जाता है पर उसकी 'मानवता' नहीं मरती और अन्त तक वह अपनी 'मानवता' को सजग रखने का संघर्ष करता रहता है। हमारी सम्मति में रामू ही उपन्यास का नायक है। वही उपन्यास पर उसकी आत्मा बनकर छाया रहता है। किन्तु उपन्यास का आरम्भ और अन्त लेखक ने भुवन से और उसकी घोरतम निराशा से किया है जिससे प्रगट होता है कि वह भुवन को ही उपन्यास का नायक मानकर चला है। उपन्यास का अन्त अत्यन्त ही लचर है जो पाठक पर निराशावादी प्रभाव डालता है, कुछ-कुछ उसमें साम्प्रदायिकता की भी बू आगई है।

शिल्प की दृष्टि से उपन्यास में पर्याप्त गठाव नहीं है। कथा यद्यपि सुसम्बद्ध चली है फिर भी उसका विकास अच्छा नहीं है। भाषा परिमार्जित है किन्तु बीच बीच में कुछ अटपटे प्रयोग बड़े खटकने वाले हैं, जो भाषा की शिथिलता के द्योतक हैं। जैसे—'शायद बराबर (हमेशा) के लिए', 'धम कूचड़' अधम के अर्थ में 'रंज' क्रोधित के अर्थ में, आदि। रामू जब जेल में जाता है तो उसके आदेश पर नित्य गोश्त प्याज आदि भोजन में आने लगते हैं, रामू कहता है "मैं तो बिना प्याज के खा नहीं सकता और गोश्त भी चाहिए।" यह जेल जीवन के सम्बन्ध में लेखक के अज्ञान का सूचक है। इसी तरह की अज्ञान सम्बन्धी कई त्रुटियाँ उपन्यास में मिलती हैं।

उपन्यास की शैली विश्लेषणात्मक है। लेखक पहिले कुछ सिद्धान्तों की स्थापना कर उनका विश्लेषण करता है और तब पात्र और कहानी उसके अनुरूप चलती है। कहीं-कहीं यह विश्लेषण भुवन और रामू के द्वारा कराया गया है। इससे उपन्यास की कथा के विकास में एक कृत्रिमता आगई है।

---

(४२)

विष्णु, प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर हिन्दी के सफल कहानीकार हैं। आपने अपनी कहानियों में एक आदर्श की स्थापना की है, किन्तु वह आदर्श जीवन संघर्ष की धरती की उपज है। वह जीवन के भीतर से उत्पन्न होता है। उनका यह आदर्श गान्धीवाद से प्रभावित है; किन्तु वे जीवन यथार्थ के सत्य से आँखें नहीं मूंद सके; इसलिए उनका गान्धीवाद अन्य गान्धीवादी लेखकों की भाँति संकीर्ण नहीं हो गया है। गान्धी जी के अतिरिक्त आप टालस्टाय और चेखव से प्रभावित हैं। लेखक के कहानीकार का जन्म सन् १६३४ में 'स्नेह' नामक कहानी से हुआ था। तब से अब तक लेखक के कहानीकार ने जीवन के विविध क्षेत्र देखे, उसकी कला ने अनेक रूप सँवारे और वह क्रमिक विकास करता रहा है। १६३४ से अब तक देश सामाजिक राजनीतिक एवं चेतना की दृष्टि से अनेक मोड़ ले चुका है और लेखक उन मोड़ों पर देश-जीवन का सक्रिय हमराही रहा है। उसने जीवन को नजदीक से देखा है—यह उसकी कहानियों से स्पष्ट झलकता है। तभी वे सजीव हैं, और हमारे मन-प्राण को छूती हैं। उसकी कहानियों से जीवन के सत्य संघर्षों और प्रबल प्रत्याघातों के आधार पर पाठक के हृदय में वह हूक और ऐंठन उठती है, जिसमें वह 'खुदा से भी लोहा' लेने को कटि बद्ध होता है।

'ढलती रात' आपका प्रसिद्ध उपन्यास है। उसमें निम्न मध्यवर्ग का सुन्दर चित्रण है। बहुधा आज के उपन्यासों में रोमान्स का चित्रण एकांगी रूप में मिलता है, और ऐसा प्रतीत होता है मानों जीवन में रोमान्स के अतिरिक्त और कोई समस्या ही न हो। 'ढलती रात' इस एकांगिता से बचा है। इस उपन्यास में जीवन संघर्ष के साथ प्रेम का चित्रण है। एक प्रेमी भी है और संघर्षशील प्राणी भी जो समाज की विषमताओं से संघर्ष भी कर रहा है। वह क्लर्क भी है और प्रेमी भी है। लेखक ने चरित्र को सम्पूर्ण बनाने का सफल प्रयास किया है।

(४३)

मार्कंडेय

आपने अपनी कहानियों में गांव और नगर के निम्न मध्यवर्ग के परिवारों की समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। 'पान फूल' आपका एक

कहानी संग्रह है। भाषा-शैली में एक ताजगी और नया-पन है। भाषा में स्वाभाविक प्रवाहशीलता है। कहानियों में कला की दृष्टि से गठाव है।

---

(४४)

हंस राज रहबर

रहबर उपन्यासकार की अपेक्षा कहानीकार अच्छे हैं। आपने प्रगतिशील दृष्टि से समाज के संघर्षों का चित्रण किया है। किन्तु उपन्यासों में विशेषतः वह चित्रण यथार्थवादी न होकर प्रकृतवादी ही हुआ है। 'परेड ग्राउन्ड' फकीरों के जीवन पर एक उपन्यास है। यह उपन्यास न होकर फ़कीर-फ़कीरनियों के जीवन की बिखरी हुई कहानियों का समूह है—ऐसा समूह जिसमें परस्पर कोई तारतम्य नहीं है। आपकी उपन्यास कला अभी रुप संवार रही है--उसका विकास अभी होना है। कहानियों में 'नयी माँ' एक अच्छी कहानी है।

---

(४५)

सत्येन्द्र शरत्

आपकी कहानियों के पात्रों में एक भावुकता है। उनका भावुक मस्तिष्क जब जीवन के यथार्थ से टकराता है तो उनके हृदय में एक विशेष प्रकार की जो मानसिक प्रतिक्रिया होती होगी। वह मानसिक प्रतिक्रिया ही आपकी कहानियों का आधारभूत भाव है। इसी कारण आपको भाषा-शैली में भी भावुकता है। 'हम पेशा' और 'नीरू' आपकी सुन्दर कहानियां हैं।

---

(४६)

भैरवप्रसाद गुप्त

आपने अपने उपन्यासों और कहानियों में मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग के सामाजिक, पारिवारिक एवं राजनैतिक समस्याओं का चित्रण प्रगतिशील दृष्टि से किया है। शैली की नवीनता आप की रचनाओं में नहीं है। आपके उपन्यास और कहानी-संग्रह हैं—'मशाल', 'गंगामैया' तथा 'मंजिल'।

---

(४७)

मोहनसिंह सेगर

आप कुशल सम्पादक और सुन्दर कहानीकार हैं। आपने नारी-जीवन की समस्याओं पर सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। वर्तमान समाज में नारी की विषम परिस्थिति-जन्य समस्या पर अनाथ ईसाई लड़की जोज़ेफ़ के जीवन पर आधारित 'जोज़िफ़' कहानी आपकी एक अत्यन्त सुन्दर कहानी है। कला की दृष्टि से आप एक कुशल शिल्पी हैं।

---

(४८)

जनार्दन मुक्तिदूत

आपने अपनी कहानियों में गाँव और नगर जीवन की विषमताओं को विशेष रूप से चित्रित किया है। आपका दृष्टिकोण प्रगतिवादी है और शैली विश्लेषणात्मक। चित्रण सजीव और स्वाभाविक होता है। भाषा में चित्रोपमता है। जीवन की गहन समस्याओं की पकड़ और उनको कला-कलेवर में अनुभूति का विषय बनाने की आपकी शक्ति अपूर्व है। भाषा विषयानुकूल होती है।

---

(४९)

चन्द्रकिरण सौनरिक्सा

महिला कहानीकार हैं। आपने पारिवारिक जीवन में उठने वाली गहन समस्याओं को, विशेष रूप में नारी जीवन की समस्याओं को अत्यन्त मार्मिक तथा व्यापक सचेतन दृष्टि से अपनी कहानियों में चित्रित किया है। उन कहानियों में निम्न मध्यवर्ग के जीवन में उठने वाली आर्थिक-विषमता-जनित समस्याओं को विशेष रूप से लिया है। 'आदमखोर' आपकी कहानियों का प्रसिद्ध संग्रह है। शैली की दृष्टि से भी आपने कई नये प्रयोग किये हैं। भाषा बड़ी सजीव, व्यंगात्मक एवं स्वाभाविक है और हृदय पर सीधा प्रभाव करती है। कहानियों में कला का निखार है। आपकी कहानियों को हम प्रगतिशील यथार्थवादी कहानियाँ कह सकते हैं। वर्तमान कहानीकारों में आपका एक महत्वपूर्ण स्थान है।

---

(५०)

राजेन्द्र यादव

आपकी उपन्यास कला में प्रयोगवादिता के चिन्ह मिलते हैं। 'प्रेत-बोलते हैं' आपका प्रथम उपन्यास है। इसमें भारतीय सामूहिक परिवारों की आर्थिक विषम परिस्थिति-जन्य विशृंखलता को उपन्यास का विषय बनाया गया है। इनकी कहानी रेडियो द्वारा प्रसारित होती है; और सारी कथा को रेडियो के माध्यम से एक रूपक बनाने का प्रयास किया गया है। इस उपन्यास में सामाजिक-यथार्थ का सुन्दर और सच्चा चित्रण देखने को मिलता है। सम्मिलित परिवारों की समस्याओं का अत्यन्त सजीव, यथार्थ और संवेदनाशील चित्रण है।

कहानियों में राजेन्द्र यादव ने निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक सामाजिक, एवं बौद्धिक समस्याओं का चित्रण किया है। आपने पूँजीवादी-कला माध्यम से समाजवादी प्रगतिशील विषय-वस्तु का चित्रण करने की सजग दृष्टि से अपनी कला को संवारा है। लघु कहानियों के कुछ अत्यन्त सुन्दर प्रयोग आपने किए हैं जिनमें 'मेरा तन-मन तुम्हारा है' और 'कुतिया' विशेष हैं। यह कहानियाँ विस्तार में दो ही पृष्ठों की हैं फिर भी इनमें कहानी की पूर्णता है, यही उनकी कलामौलिकता है। आपकी सारी कहानियों में अपूर्व सामाजिक व्यंग है। कहानियों के पात्र, विषय, घटनाएँ सभी हमारे जीवन के हैं। सभी कहानियों में एक सांकेतिक व्यंजना है। कहानियों की सांकेतिकता ने कहानियों की शिल्प-विधि को एक नयापन और अनूठापन प्रदान किया है।

---

(५१)

उषा देवी मित्रा

आप हिन्दी की प्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानी लेखिका हैं। आपके अब तक प्रकाशित उपन्यास हैं—'बचन का मोल', 'पिया', 'जीवन की मुसकान', 'आवाज,' 'पथचारी,' 'सोहिनी'। कहानी संग्रह हैं—'आंधी के छन्द', 'महावर' 'नीम चमेली'। आपने अपनी रचनाओं के लिए समाज के वर्तमान जीवन की विविध पक्षी समस्याओं का चयन किया है। उनमें हमें एक आदर्श की किरण फूटती सी दीखती है जो मानव को नया आलोक देती है और जागरण का सन्देश भी।

आपकी भाषा प्राञ्जल, सरल और सजीव है। आपका रचनाक्रम अभी जारी है और आपकी उपन्यास कला का विकास अपने उत्कर्ष पर पहुँचने को है।

---

(५२)

कंचनलता सब्बरवाल

कंचनलता सब्बरवाल ने ऐतिहासिक सामाजिक उपन्यासों की रचना की है। वे हिन्दी की सफल उपन्यास लेखिकाओं में अपना विशेष स्थान रखती हैं। 'पुनरुद्धार' आपका एक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें भारत के १५० ईसवी से ३५० ईसवी तक के इतिहास का एक चित्र उपस्थित किया गया है। कुशानों को नष्ट कर भारतियों द्वारा हिन्दू साम्राज्य की पुनः स्थापना उपन्यास की आधारभूत कथा है। 'संकल्प' आपका एक राजनीतिक और सामाजिक उपन्यास है जिसमें वर्तमान जीवन की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के संघर्ष का सजीव चित्रण है। इसके अतिरिक्त 'मूक प्रश्न' और 'भोली की भूल' भी आपके सुन्दर सामाजिक उपन्यास हैं।

आपके उपन्यास में कथा आपके अपने बिचारों के रंग में रंगकर चित्रित हुई है।

भाषा-शैली की दृष्टि से यद्यपि उपन्यास सुन्दर हैं, किन्तु उनमें गठन की शिथिलता भी देखने को मिलती है।

---

(५३)

राधाकृष्ण

राधाकृष्ण तरुण कहानीकार हैं। आपकी कहानियों में चित्रण की सूक्ष्मता ही मुख्य विशेषता है। आपकी शैली में एक सांकेतिकता है। कथा का चुनाव करने में बड़ी सावधानी से काम लिया है। कथानक में समाज के हर वर्ग का चित्रण हुआ है मुख्य रूप से मानव जीवन की आर्थिक समस्याओं का। कहानियाँ बड़ी ही प्रभावशाली हैं। 'कटे पर' आपका कहानी संग्रह है।

'आदि और अन्त' आपका एक उपन्यास भी है। एक साधारण निम्न मध्यवर्गीय क्लर्क के जीवन में जो आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, विशेषकर पुत्री के विवाह के समय दहेज की, उसको लेकर यह एक छोटा सा सुन्दर उपन्यास है। कला की दृष्टि से उपन्यास गठा हुआ है। यद्यपि समस्या बड़ी पुरानी है, फिर भी लेखक ने उसे बड़े सजीव रूप में चित्रित किया है।

भाग ५

हिन्दी गद्य साहित्य की कुछ अन्य विधाएँ—

—गद्य गीत

—जीवनी, आत्मकथा और संस्मरण

—रेखा चित्र

—रिपोर्ताज

गद्य-गीत

हिन्दी गद्य-गीतों का आरम्भ और विकास

हिन्दी गद्य-साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में गद्य-गीत की मान्यता और प्रतिष्ठा हिन्दी में छायावादी और रहस्यवादी युग की देन है; किन्तु मधुर गद्य के रूप में उसका जन्म हिन्दी गद्य के लगभग आरम्भ के साथ ही हुआ था। संस्कृत का मधुर, सरस, भावात्मक गद्य उसकी पीठिका थी। आधुनिक गद्य-गीतों की माधुरी का स्रोत प्राचीन वैदिक और उपनिषद साहित्य में तथा दण्डी के 'दशकुमार चरित' और बाणभट्ट की 'कादम्बरी' की सरस, मधुर एवं भावुकता पूर्ण भाषा में खोजा जा सकता है।

किन्तु संस्कृत में भी गद्य-गीत की कोई शैली नहीं थी। वहाँ से केवल मधुर सरस भाषा के प्रभाव के स्रोत ही खोजे जा सकते हैं, शैली की परम्परा को वहाँ खोजना असंगत होगा। हिन्दी में इसका विकास शैली के रूप में नितान्त मौलिक ही कहा जा सकता है।

भाषा के इसी मधुर, भाव प्रवण रूप को लेकर भारतेन्दु ने हिन्दी में सर्वप्रथम मधुर गद्य का निर्माण किया। किन्तु उस समय तक गद्य-गीतों की एक स्वतन्त्र विधा की प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी। इसलिए आलोचकों की दृष्टि उन पर नहीं गई और जब गद्य-गीतों पर लोग लिखते हैं, तो प्रायः उनके सूत्रपात में भारतेन्दु की देन को भूल जाते हैं। हम भारतेन्दु को ही हिन्दी का सर्वप्रथम गद्य-गीतकार मानते हैं।

गद्य-गीत में अज्ञात ईश्वर को प्रिय रूप में सम्बोधित कर लेखक अपने हृदय के भावों का समर्पण करता है। वेदों में भी ईश्वर के प्रति भावुक अभिव्यक्ति के अनेक स्थल आते हैं। हिन्दी साहित्य में भी कबीर और जायसी के रहस्यवादी काव्य में अज्ञात् प्रियतम को सम्बोधित कर हृदय की भावनाओं का समर्पण किया गया है। हिन्दी गद्य-गीत में काव्य की यह परम्परा विकसित हुई है। काव्य के स्थान पर मधुर गद्य में ईश्वर के प्रति आत्म समर्पण की भावना ने एक प्रकार से हिन्दी गद्य-गीतों को जन्म दिया, ऐसा कहा जाना असंगत न होगा।

हिन्दी गद्य-गीतों पर मध्ययुगीन भक्ति भावना का भी प्रभाव हो सकता है। भक्ति-काव्य की भावुकता पूर्ण अभिव्यक्ति ने सम्भवतः गद्य में उसी भावुकता को उत्पन्न करने की लालसा ने गद्य को गद्य-गीत का रूप प्रदान किया हो।

जो भी हो यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि अज्ञात ईश्वर को प्रिय रूप में सम्बोधित करते हुए भावुक सरस एवं मधुर गद्य में आत्म समर्पण की लालसा ने गद्य-गीत की शैली को जन्म दिया।

आरम्भ में गद्य-गीत मधुर गद्य के रूप में ही जन्मे और फिर रविन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजली के प्रभाव से हिन्दी में छायावादी और रहस्यवादी काव्य धारा के साथ साथ गद्य-गीत-साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। हिन्दी गद्य-गीतों को शैली, वर्ण्य विषय और भावना की दृष्टि से रहस्यवादी-गद्य भी कहा जा सकता है।

गद्य-गीत के लक्षण

जब मनुष्य का हृदय अपने प्रिय के प्रति प्रेम से अभिभूत हो उठता है और वह अपना आपा बिसार कर प्रियमय हो जाता है, तो उसकी भावना का क्षेत्र व्यापक हो जाता है और उसकी भावना का तादात्म्य ईश्वर के साथ हो जाता है और ईश्वर ही अज्ञात प्रियतम का रूप ले लेता है। इस व्यापक अनुभूति का चित्रण ही रहस्यवादी काव्य की भाँति गद्य-गीतों का विषय बनता है। गीत की ही तरह इनमें भी कुछ पक्तियों में ही एक पूर्णभाव की अभिव्यक्ति होती है। भाषा अत्यन्त सरस, मधुर और भावना-पूर्ण होती है। अनन्त प्रियतम ही उसका विषय होता है। गीत की भाँति उसमें भी रसमयता होती है। गीत की ही भाँति उसमें भी स्वर की माधुरी होती है। गद्य-गीतों में शब्द चयन और शब्द विन्यास गीत की सी ही लाघवता चाहता है। इस प्रकार गद्यगीत और गीत में केवल यही अन्तर है कि वह छन्दोबद्ध होता है और यह गद्यमय। केवल वाक्य रचना का ही अन्तर कहा जा सकता है। जो गीत अतुकान्त लिखे जाते है उनमें यह अन्तर भी बहुत कम रह जाता है। इसकी शैली कविता की ही भाँति अंलकृत शैली होती है।

हिन्दी का गद्य-गीत साहित्य

जैसा हम अभी ऊपर कह आए हैं कि हिन्दी में गद्य-गीतों की रचना का सूत्रपात भारतेन्दु से होता है। भारतेन्दु कृष्ण-भक्त कवि थे। उन्होंने अपने नाटकों की जो भूमिका या समर्पण लिखे हैं उनमें कृष्ण को प्रियतम रूप में सम्बोधित कर अपने हृदय के उद्गार व्यक्त किए हैं। अस्तु—

गद्य-गीत साहित्य रहस्यवादी काव्य की ही तरह एक समय खूब विकसित हुआ और चमका किन्तु अब उसकी धारा में एक ठहराव आ गया है और प्रायः इस कला का विकास अब रुद्ध हो गया है। इसके विकास की अब आगे कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती।

भारतेन्दु

हिन्दी के सर्वप्रथम गद्य-गीतकार हैं। उनके सभी गद्यगीतों में गद्य-गीत के सम्पूर्ण लक्षण खरे उतरते हैं। उनकी कविता संग्रहों—'प्रेम-सरोवर'; 'प्रेमाश्रु वर्षण'; 'होली'; 'फूलों का गुच्छा'; प्रेमफुलवारी'; तथा नाटकों में 'पाखण्ड विडम्बन'; 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'; 'धनंजय विजय'; 'सत्य हरिश्चन्द्र'; तथा 'चन्द्रावली' की भूमिका और समर्पण ही भारतेन्दु के गद्य-गीत-साहित्य का निर्माण करते हैं। उनके गद्य-गीतों में सरसता, मधुरता और भावना का आवेश है।

"आज अक्षय तृतीया है, देखो जल-दान की कैसी अच्छी महिमा है! क्या तुम मुझे फिर भी जलदान दोगे। कहाँ! वरंच जलांजलि दोगे! देखो कैसा प्यासा हूँ और प्यासे में भी चातकाभिमानी हूँ।...." (भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग २, पृ० १०१; समर्पण-प्रेमसरोवर।)

"मेरे प्यारे!

भला उससे पाखंड का विडम्बन क्या होना है! यहाँ तो तुमरे सिवाह सभी पाखंड है, क्या हिन्दू क्या जैन? क्योंकि मैं पूछता हूँ कि बिना तुमको पाए मन की प्रवृत्ति ही क्यों है? तुम्हें छोड़ मेरे जाने सभी झूठे हैं, चाहे ईश्वर हो, व्रचाहे ब्रह्म, चाहे वेद हो चाहे इन्जील...." (भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, पृ० ५०; पाखंड विडम्बन का समर्पण।

रायकृष्णदास

हिन्दी के प्रसिद्ध गद्य-गीतकार हैं। आपके गद्यगीतों पर रविबाबू का विशेष रूप से प्रभाव है। आपके गीतों में अनुभूति की तीव्रता है, भावना की उच्चता और सात्विकता है और भाषा की माधुरी है। भाव गम्भीर है तो भाषा सरल है। आपके गद्य-गीतों में रहस्य की दुरुहता कम है। उनमें एक प्रकार की सहजता और सरलता है। अमूर्त भावनाओं को मूर्त और साकार रूप प्रदान करने में आपकी कल्पना और भाषा दोनों समर्थ हैं। वाक्य-विन्यास में प्रवाह और लचशीलता है। आपके गद्य-गीतों के संग्रह—'साधना' और 'प्रवाल' तथा 'छायापथ' प्रकाशित हो चुके हैं। 'साधना' में प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। 'प्रवाल' के गद्यगीत वात्सल्य भावना से ओतप्रोत हैं।

"वर्षा की रात्रि में जब प्रकृति को अपने सारे संसार से छिपाकर सम्भवतः अभिसार करती है, तब तुमने मृदंग के घोष से मेरी ही हृदय-गाथा सुना-सुनाकर मुझे मोह लिया है। जब शान्तिवसना कुमुद मालिनी प्रकृति पर

चंदा अमृत बरसाता है और मैं विशाल दृग्गोचर की ओर देखता हूँ अपने ज्ञान विचारों में अज्ञात हो जाता हूँ तब तुमने मुझे अपनी बंसी की तानों और रंग के पियूष से प्लावित करके मोह लिया है।....." ('मोहन' साधना)

"मेरे नाच में न लय है न भाव। तो भी मुझे उसी में खूबी मिल जाती है। मेरी पैंजनी कभी एक दम से बज उठती है; और कभी मन्द पड़ जाती है। मेरा कठुला मेरे वक्ष पर हिलोरे मार रहा है और उसके घुँघरू चुन-मुन, चुन-मुन ध्वनि करते हैं।........" (प्रवाल)

वियोगी हरि

अत्यन्त ही भावुक कलाकार हैं। उनके गद्य-गीतों में उनके भावुक भक्त हृदय की अभिव्यक्ति हुई है। भावुकता, सरलता और मधुरता आपके गद्य-गीतों की विशेषता है। आपके गद्य-गीतों में दो प्रकार की भाषा-शैली प्रयुक्त हुई है। जिन गद्य-गीतों में हृदय की भावुकता उमड़ी है उनमें एक सारल्य पूर्ण भोलापन प्रगट होता है। भाषा भी सरल सहज है, वाक्य छोटे और सुष्ठ हैं। दूसरे प्रकार के गद्य-गीतों में अलंकृत भाषा का प्रयोग हुआ है। लेखक भावों की सरलता को भूलकर भाषा को समास, अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से सजाने में अधिक रम गया सा प्रतीत होता है। उसमें संस्कृत के शब्दों के साथ-साथ उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग, भावों का भोलापन समाप्त कर रचना में पांडित्य की गुरुता उत्पन्न कर देता है। रवीन्द्रनाथ से आप भी प्रभावित हैं। भारतेन्दु के समान ही आपने भी अपने गद्य-गीतों में कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति का समर्पण किया है। आपके गद्य-गीतों के संग्रह—'अन्तर्नाद' और 'भावना' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। आपके गद्य-गीत का एक उदाहरण देखिए—

"दया धाम! काँटा निकाल कर क्या करोगे? चुभा सो चुभा। उसकी कसकीली चुभन ही तो अब तक मेरे इन अधीर प्राणों को धैर्य बँधाती आई है।......"

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

आपके गद्य-गीत भावना और अनुभूति की तीव्रता से ओतप्रोत होते हैं। गद्य-गीतों में आपने संवादात्मक शैली का सुन्दर प्रयोग किया है। भाषा प्रांजल और मधुर है। शब्द योजना अत्यन्त ही मनोहर और सरस है। आपकी भाषा विषय के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। उसमें गीत की सी मधुरता और लय है। 'अन्तस्तल' आपके गद्य-गीतों का सुन्दर संग्रह है। एक उदाहरण देखिए—

"और एक बार तुम आये थे, यही तुम्हारा ध्रुव श्याम रूप था, यही तुम्हारा विनिन्दित अभ्यस्त दृश्य था, अक्षुण्ण मस्ती थी। इसी तरह तुमने तब भी भारत के नर-नारी सब लोगों को मोह लिया था, कृष्ण यमुना इसकी साक्षी है।

दिनेशनन्दिनी चौरड्या

आपने प्रायः सबसे अधिक गद्य-गीतों की साधना की है। आपके गद्य-गीतों में रायकृष्णदास की सी सादगी और भोलापन होता है। सभी गद्य-गीतों में लेखिका के भावुक हृदय की झाँकी है। उनमें नारी हृदय की सरलता और आत्म समर्पण की भावना है। घरेलू जीवन के साधारण चित्रों के द्वारा व्यापक अव्यक्त आलम्बन की रहस्यमय अभिव्यक्ति आपके गद्य-गीतों की विशेषता है। कुछ गद्य-गीत भावना की अपेक्षा विचार प्रधान अधिक हो गए हैं, जैसे—'दुपहरिया के फूल' संग्रह के गद्य-गीत। कुछ गीत अत्यन्त ही छोटे हैं, दो तीन पक्तियों में ही समाप्त हो जाते हैं। आपकी आध्यात्मिक भावनाएँ प्रायः वेदान्त, शैव, वैष्णव और सूफी धर्म से प्रभावित हैं। आपके गद्य-गीतों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'शबनम', 'मौक्तिक माल', 'शारदीया' 'दुपहरिया के फूल', 'उनमन', 'स्पन्दन' और 'सारंग'। भाषा में उर्दू के शब्दों का भी यथास्थान प्रयोग हुआ है।

सियारामशरण गुप्त

आपके गद्य-गीत अपेक्षाकृत सरल और सरस हैं। उनमें रहस्य का अभाव है। भावना अत्यन्त स्पष्ट और सुलझी हुई है। भाषा भी अत्यन्त सरल और मधुर है। भाषा गम्भीरभावों को सरल रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ है—

"इनमें कौन प्रकाश है और कौन अन्धकार, इसका पता मुझे नहीं लगने पाता। इन दोनों सहोदरों का चिन्तन द्वन्द्व मिट चुका है, दो होकर भी दोनों जैसे यहाँ एक हैं। अपूर्ण और पूर्ण, दुख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया है।"

रावी

हिन्दी के सुन्दर गद्य-गीतकार हैं। आपके दैनिक अनुभवों के बीच आपकी जो भावना का स्रोत उमड़ा है और जिसे आपने आरम्भ में अपनी दैनिक डायरी के रूप में लिखा था, उन्हीं का संकलन आपके गद्य-गीतों के रूप में हुआ है। उनमें प्रेम की मधुर अभिव्यंजना है। वह प्रेम यदि पार्थिव भी है तो आध्यात्मिक व्यापकता पर उठने का उसमें प्रयास है। आपकी कल्पना बड़ी सजीव है। वर्णन अत्यन्त मार्मिक है। भाषा में मधुरता और सरसता है। आपके गद्य-गीतों के दो संग्रह 'पूजा' और 'शुभ्रा' नाम से प्रकाशित हुए हैं। 'पूजा के गद्य-गीत गुरु या भगवान् के प्रति समर्पण भावना से ओतप्रोत है और 'शुभ्रा' के गद्य-गीत मानव नारी के प्रति भावुक हृदय की अभिव्यक्ति हैं। आपकी भाषा में सरसता के साथ सरलता का सुन्दर योग है—

"जब मैं अपने गोखार गिरि की गुफा में बैठकर अपने शरीर के चारों ओर हल्की चादर तान लेता हूँ, तब दिशाओं की चादरें, जिन्होंने अपने संकरे घेरे में मुझे बन्द कर रखा है, अपने आप फट जाती हैं!......."

जीवनी: आत्मकथा और संस्मरण

जीवनी : साहित्य की एक विधा

जीवनियाँ भी हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है, जिसने हिन्दी गद्य साहित्य के संवर्धन में बड़ा योग दिया है। यद्यपि पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में राजाओं, ऋषियों एवं महापुरुषों की कथाएँ एक प्रकार से उनकी जीवनियाँ ही है; किन्तु साहित्य की एक महत्वपूर्ण स्वतन्त्र विधा के रूप में उसका विकास आधुनिक युग की देन है।

जीवनी में वर्णन का केन्द्र एक व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व होता है और उसमें उस व्यक्ति के व्यक्तित्व—निर्माण की परिस्थितियों, उसके जीवन की सत्य घटनाओं का ज्यों का त्यों अपने सत्य रूप में वर्णन होता है। उस मूल व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों का वर्णन भी होता है। व्यक्ति के जीवन की बिखरी घटनाओं को एक क्रम-बद्ध रूप प्रदान करने में ही—ताकि वह समग्र रूप से वर्णित व्यक्ति के व्यक्तित्व को उभार कर रख सके और पाठक पर अपना प्रेरणादायक प्रभाव डाल सके तथा उसमें एक सजीवता और रोचकता आ सके—कल्पना का उपयोग होता है, अन्यथा उसमें सब कुछ ऐतिहासिक रूप से सत्य होता है।

जीवनी की शैली को हम उपन्यास और इतिहास लेखन की शैली का मिश्रित रूप कह सकते हैं। उसमें वर्णित नायक के जीवन सम्बन्धी सत्य घटनाओं का इतिहास भी होता है और उपन्यास की सी रोचकता और अपनी सीमा में कल्पना का उपयोग भी।

जीवनी की अपनी एक स्वतन्त्र विधा है, जो साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक और स्वतन्त्र है, और साहित्य में उसका अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है।

जीवनी में वर्णित नायक के जीवन के 'कु' और 'सु' दोनों पक्षों का सांगोपांग और यथार्थ अनावृत चित्रण होता है और जिस रूप में उसने अपने जीवन में विकास किया है, उस रूप में उसका सही रूप जीवनीकार प्रस्तुत कर देता है। जीवनीकार अपनी ओर से चरित्र नायक के जीवन का निर्माण नहीं करता। उसका काम तो जो है उसे प्रस्तुत कर देना है। केवल अपनी सहानुभूति और रचना चातुरी से प्रभावशाली और रोचक भर बना

देता है। प्रायः जीवनीकार अपने चरित्रनायक का अन्धभक्त हो उसका वर्णन करता है। उससे जीवनी में एकांगिता आ जाती है और सत्य की हत्या हो जाती है। जीवनीकार को तो एक तटस्थ रूप से वर्णन करना ही श्रेयस्कर है।

संक्षेप में जीवनी साहित्य में एक स्वतन्त्र विधा के रूप में अपने चरित्रनायक के अन्तर और वाह्य, उसके जीवन सम्बन्धी घटनाओं, परिस्थितियों, व्यक्तियों का, उसके गुण और दोषों का, महान व्यक्ति बनने में उसके जीवन की विकास-गति का तथा उसके जीवन के प्रभाव का कलात्मक, रोचक, सजीव, सहृदयतापूर्ण किन्तु तटस्थ चित्रण होता है।

उपन्यास और इतिहास से अन्तर

जीवनी न तो उपन्यास है और न इतिहास वरन् उनसे स्वतन्त्र विधा है। उपन्यास में कथा, पात्र उनके जीवन की घटनाएँ सब कुछ कल्पित होती हैं। जीवनी में कल्पना का इतना विस्तार नहीं होता। उपन्यास का सत्य एक व्यापक समाजगत और व्यक्तिगत सत्य होता है और जीवनी का सत्य ऐतिहासिक और व्यक्तिगत होता है। उपन्यास में पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को जिस रोचक ढंग से घटनाओं तथा अन्य सम्बन्धित पात्रों के घात-प्रतिघात और सम्बन्ध से उभारा जाता है। उसी प्रकार जीवनीकार भी अपने चरित्रनायक की चारित्रिक विशेषताओं का उसके व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के अभिप्राय से सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करता है; जैसे कोई सिगरेट कैसे पीता है, बात करने का ढंग क्या है, कपड़े कैसे पहनता है, उसकी आदतें क्या हैं, चाल-ढाल आदि। इतना दोनों में साम्य है। जीवनी शैली में आज उपन्यास लिखने की प्रथा चल पड़ी है। अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' इसी प्रकार का उपन्यास है। उपन्यास भी व्यापक शब्दों में कल्पित नायक-नायिका की जीवनी ही होती है।

इतिहास किसी व्यक्ति के जीवन की घटनाओं का वर्णन सीमित क्षेत्र में ही करता है—केवल उन्हीं घटनाओं का जिनका सम्बन्ध या प्रभाव देश और समाज से सम्बन्धित होता है। देश और समाज के अंग के रूप में ही व्यक्ति के जीवन की सब नहीं। केवल व्यापक प्रभाव वाली कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली नहीं वरन् देश और समाज का निर्माण करने वाली होती हैं, वर्णन होता है; जबकि जीवनी में उस व्यक्ति के जीवन की उन समस्त छोटी-बड़ी घटनाओं का चित्रण होता है, जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण कर उसे एक महान व्यक्ति बनाने में सहायक हुई हैं। जीवनी में इतिहास का अंश भी पर्याप्त मात्रा में

होता है। जैसे इतिहास में महान व्यक्तियों को लेकर उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन होता है, उसी प्रकार जीवनी में भी व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी घटनाओं के अतिरिक्त सार्वजनिक जीवन की घटनाओं और कृत्यों का वर्णन भी होता है, यही इतिहास से उसका साम्य है।

जीवनी साहित्य का प्रभाव

जिस प्रकार साहित्य की अन्य विधाओं का जीवन निर्माण पर गहरा प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार जीवनी का प्रभाव क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक है। महान व्यक्ति का जीवन दूसरों के लिए एक आदर्श होता है। जीवनी में उसके व्यक्तित्व के विकास, विकास के मार्ग में बाधाओं, बाधाओं से संघर्ष और संघर्ष करते हुए अपने महान व्यक्तित्व निर्माण की कहानी होती है, जो अन्यों को जीवन में विकास करने और बाधाओं से जूझकर महान बनने की प्रेरणा प्रदान करती है। मनुष्य कल्पित मनुष्य की अपेक्षा सत्य-मनुष्य से अधिक प्रभावित होता है, इसमें सन्देह नहीं। अस्तु जीवनी साहित्य का देश, समाज और व्यक्ति पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव होता है।

जीवनी साहित्य

हिन्दी में आज जीवनी साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखा जा चुका है और लिखा जा रहा है। जीवनी लिखने की परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु से होता है। भारतेन्दु ने 'सूरदास जी का जीवन चरित्र'; 'महाकवि श्री जयदेव जी का जीवन चरित्र'; 'महात्मा मुहम्मद'; 'बीबी फातिमा'; 'लार्डमेयो साहब का जीवन चरित्र'; 'श्री राजाराम शास्त्री का जीवन चरित्र' जीवनियाँ लिखी थीं। राष्ट्रीय नवोत्थान की लहर में जीवनी साहित्य की ओर लेखकों का भारतेन्दु काल तथा द्विवेदी काल तक विशेष रूप से ध्यान गया था। देशवासियों में पुनः प्राण संचार के लिए, उनके जीवन के नैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि स्तर को उठाने के लिए महापुरुषों के आदर्शों को प्रस्तुत करना आवश्यक था। उस दृष्टि से लेखकों ने महापुरुषों की जीवनियाँ लिखने के लिए कलम उठाई और धार्मिक, साहित्यिक, राजनैतिक महापुरुषों की अनेक जीवनियाँ लिखी गईं।

जीवनियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जीवनियाँ, जिनमें नायक के जीवन का आरम्भ से लेकर अन्त तक समस्त जीवन का सांगोपांग वर्णन होता है; दूसरे प्रकार की जीवनियाँ वे होती है, जिनमें सम्पूर्ण जीवन न लेकर जीवन के कुछ महत्वपूर्ण अंश का ही वर्णन होता है। दूसरे प्रकार की जीवनियों में संस्मरणात्मक अंश अधिक होता है; किन्तु वे संस्मरण नहीं होतीं। हिन्दी में दोनों ही प्रकार की जीवनियाँ लिखीं गई हैं।

जीवनी की शैली प्रायः सीधी होती है, लेखक अपने नायक का वर्णन अपनी ओर से करता चलता है। महापुरुषों से इन्टरव्यू भी जीवनी लिखने की ही एक शैली कही जा सकती है यद्यपि उसमें सम्पूर्ण जीवन का एक क्रम-बद्ध वर्णन नहीं होता, अपितु महत्वपूर्ण अंशों का ही वर्णन होता है। इस दृष्टि से श्री बनारसी दास चतुर्वेदी, कमलेश तथा राजेन्द्र यादव ('चेखव एक इन्टरव्यू') के प्रयोग सराहनीय हैं।

हिन्दी में आज जीवनी लिखने की परम्परा तेजी से चल रही है। राजपूतों की कहानियों, कवियों की कहानियों, वीरांगनाओं की कहानियाँ, महात्माओं की कहानियाँ, देश भक्तों की कहानियाँ आदि अनेक प्रकार की जीवनियाँ आज लिखी जा रही हैं।

हिन्दी के नए पुराने कुछ प्रमुख जीवनीकार हैं—भारतेन्दु, रामनरेश त्रिपाठी, बनारसीदास चतुर्वेदी, सीताराम चतुर्वेदी, रामनाथ लाल 'सुमन', राहुलजी, सत्यदेव विद्यालंकार, रामवृक्ष वेनीपुरी आदि आदि।

आत्मकथा

आत्मकथा और जीवनी में प्रायः विशेष अन्तर नहीं होता। आत्मकथा स्वयं अपनी कलम से लिखी जाती है और जीवनी अन्य लेखक द्वारा। जीवनी से आत्मकथा अधिक प्रभावोत्पादक, रोचक और सत्य होती है किन्तु लेखन की दृष्टि से उतनी ही कठिन। आत्मकथा में चूंकि लेखक अपने विषय में लिखता है, अतः एक ओर तो संकोच की यह सीमा उसके सामने होती है कि वह कहीं अपनी अधिक प्रशंसा न कर जाय और दूसरी ओर यह सीमा होती है कि वह अपने दुर्गुणों और जीवन के कुपक्ष को खोलकर स्पष्ट न करे। केवल कुछ ही महापुरुषों की जीवनियाँ इन दोषों से मुक्त होती हैं, जिनमें लेखक मुक्त रूप से अपनी बुराइयों और अच्छाईयों को साफ-साफ लिखता है। जैसे—गान्धी जी की आत्म कथा।

आत्मकथा लिखने की प्रायः दो शैलियाँ होती हैं—एक तो सुसम्बद्ध आत्मकथा और दूसरी फुटकर लेखमाला के रूप में। दूसरे प्रकार की आत्म-कथाओं में संस्मरणात्मक अंश अधिक होता है किन्तु उन्हें संस्मरण नहीं कह सकते। सुसम्बद्ध आत्मकथाओं में महात्मा गान्धी की आत्म कथा, राजेन्द्र बाबू की आत्मकथा, श्यामसुन्दर दास की आत्म कहानी, जवाहर लाल नेहरू की आत्मकथा आदि हैं। गान्धी जी और पं० नेहरू की आत्म-कथाएँ अंग्रेजी से अनूदित हैं। फुटकर लेखमाला के रूप में आत्मकथाओं में सियारामशरण गुप्त की 'झूठ सच' तथा 'बाल्यस्मृति', बाबू गुलाबराय की

'मेरी असफलताएँ' आदि हैं। महादेवी जी की 'अतीत के चल चित्र' और 'स्मृति की रेखायें' में संस्मरण का अंश अधिक है। उनमें वस्तुतः आत्मकथा, निबन्ध और संस्मरण तीनों का एक प्रकार से मिश्रण है।

आत्मकथा में जीवनी की ही भाँति व्यक्ति के सार्वजनिक जीवन का वर्णन भी होता है और इस प्रकार जीवन के जिस क्षेत्र में उसकी विशेष देन होती है उसका भी इतिहास हमें उससे प्राप्त हो जाता है जैसे राजेन्द्र बाबू, महात्मा गांधी तथा नेहरू की आत्मकथाओं से राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास का इतिहास तथा उसी प्रकार डा० श्यामसुन्दरदास की आत्मकथा से नागरी प्रचारिणी सभा बनारस का इतिहास ज्ञात होता है। इस प्रकार आत्मकथाओं की ऐतिहासिक उपादेयता भी होती है।

हिन्दी का अन्य उल्लेखनीय आत्मकथा साहित्य है—स्वामी भवानी-दयाल संन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकथा', हरिभाऊ उपाध्याय की 'साधना के पथ पर', वियोगी हरि की 'मेरा जीवन प्रवाह', राहुल की 'मेरी जीवन यात्रा', मूलचन्द्र अग्रवाल की 'पत्रकार की आत्मकथा', इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'मेरी झाँकियाँ' आदि।

संस्मरण

जीवनी और आत्मकथा से सम्बद्ध ही संस्मरण की एक स्वतन्त्र विधा है। स्वयं अपने विषय में लिखे गए संस्मरण आत्मकथा के अधिक निकट आ जाते हैं और दूसरे द्वारा लिखे गए संस्मरण जीवनी के अधिक निकट आ जाते हैं। प्रायः इस विधा के प्रथम लेखक आचार्य पद्मसिंह शर्मा थे। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने साहित्य की इस विधा को अपनी कृतियों से अधिक सम्पन्न बनाया है। उनके बाद तो रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', आचार्य शिवपूजन सहाय, रामनाथ 'सुमन' आदि अनेक संस्मरण लेखकों ने संस्मरण साहित्य का निर्माण किया है। हिन्दी में यात्रा सम्बन्धी जो साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें भी संस्मरण ही विशेष हैं। भदन्त आनन्द कौशल्यायन की 'जो भूल न सका' तथा 'जो लिखना पड़ा' तथा कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की 'भूले हुए चेहरे' संस्मरण साहित्य की सुन्दर पुस्तकें हैं। महादेवी वर्मा के 'अतीत के चल चित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' में भी संस्मरण का अंश अधिक है। अस्तु उन्हें भी इस श्रेणी में गिना जा सकता है।

अभी हिन्दी में संस्मरण साहित्य का विकास पर्याप्त नहीं हुआ है; किन्तु निःसन्देह वह विकास के पथ पर है और साहित्य की यह विधा भी सम्पन्न होती जा रही है।

रेखा-चित्र

रेखाचित्र : साहित्य की एक विधा

रेखाचित्र भी हिन्दी गद्य की एक आधुनिकतम विधा है। रेखाचित्रकार एक कुशल चित्रकार या शिल्पी की भाँति शब्दों द्वारा एक सजीव चित्र का निर्माण करता है। वैसे तो उपन्यास और कहानी तथा नाटक में भी पात्रों के चरित्र सजीव रूप में ही चित्रित होते हैं, जब कि रेखा-चित्र में अपनी नैसर्गिक पीठिका पर ही उनका चित्र अपनी सम्पूर्ण सजीवताओं के साथ उभरता है। रेखा-चित्र में कलाकार शब्दों के विन्यास द्वारा ही व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताएँ, उसका शारीरिक गठन, उसकी चाल-ढाल, पहनावा-उढ़ावा सब कुछ मूर्तिमान कर देता है और व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ पाठक के दृष्टि-पटल पर साकार और सजीव हो उठता है।

कहानी और एकांकी में पात्रों का चरित्र कथा की पीठिका पर आंशिक रूप से ही सही किन्तु एक क्रम-बद्ध पूर्णता के साथ चित्रित होता है। उपन्यास और नाटक में पात्रों का चरित्र अपनी सम्पूर्ण पूर्णता के साथ चित्रित होता है, किन्तु इन सबसे अलग रेखा-चित्र में वर्णित व्यक्ति के चित्रा अंकन के लिए किसी कथा की दरकार नहीं होती। वह अपने में स्वतन्त्र होता है, जिस प्रकार अनेक चित्रों में आड़ी तिरछी कुछ रेखाओं के द्वारा ही सम्पूर्ण आकृति और भाव स्पष्ट हो जाते हैं, आकृति के सम्पूर्ण विस्तार को रंगों द्वारा चित्रित करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार रेखा-चित्र में भी कुछ शाब्दिक रेखाओं के द्वारा ही व्यक्ति का आकार, स्वभाव सब कुछ स्पष्ट कर दिया जाता है, उसके चारित्रिक विस्तार के वर्णन की आवश्यकता नहीं होती।

रेखा-चित्र अत्यन्त सूक्ष्म और कठिन कला है, इसमें सन्देह नहीं। लेखक को केवल सीमित विस्तार में ही शब्दों के द्वारा व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अंकित कर देना होता है, जो विशेष लाघव का काम है।

जिस प्रकार चित्र कला में व्यक्ति और प्रकृति दोनों का ही अंकन रेखाओं द्वारा होता है, उसी प्रकार रेखाचित्र में भी। रेखा-चित्र में प्रकृति चित्रण, भाव चित्रण, रूप चित्रण सभी कुछ हो सकता है। इसमें विचार भी होते है, इसलिए इसमें निबन्ध का भी पुट होता है और इसमें चरित्र-चित्रण होता है, इसलिये इसमें कहानी का भी पुट होता है, और इसमें भाषा का माधुर्य और प्रवाहशीलता होती है, जो इसे गद्य-गीत की सी सरसता प्रदान कर देती है।

अतः रेखा-चित्र की अपनी एक स्वतन्त्र कला होती है। वह छोटा होता हुआ भी पूर्ण चित्र उपस्थित करने में समर्थ होता है, जिसे देखकर ही पाठक पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाता है, उसे और कुछ जानने की बाँछा नहीं रह जाती। उसका वर्ण्य विषय कल्पना-प्रसूत भी होता है और वास्तविक भी। प्रत्येक विषय रेखा-चित्र का विषय बन सकता है।

हिन्दी के लिए रेखा-चित्र की कला अभी नवीन है। उसका सूत्रपात हुए अभी विशेष समय नहीं हुआ है। विशेषकर अभी वह पत्र-पत्रिकाओं का ही साहित्य है। फिर भी पुस्तकाकार रूप में जो रेखा-चित्र प्रकाशित हुए है, वह साहित्य की इस विधा के सुन्दर विकास के द्योतक हैं।

रेखा चित्रों के संग्रह की प्रथम पुस्तक प्रायः आचार्य पद्मसिंह शर्मा की 'पद्म-पराग' नाम से प्रकाशित हुई है। उनके रेखा-चित्रों में भाव और भाषा का अनुपम योग बना है। भाषा भावों की समर्थ अभिव्यंजक है और साथ ही साथ उसमें एक मिठास है। पं० श्रीराम शर्मा ने भी कुछ सुन्दर रेखा चित्र लिखे हैं जो 'बोलती प्रतिमा' नाम से प्रकाशित हुए हैं। सम्भवतः बनारसी दास चतुर्वेदी के 'रेखा-चित्र और संस्मरण' नाम से प्रकाशित हुए हैं। साहित्य की इस विधा को सम्पन्न करने में सबसे अधिक और श्रेयपूर्ण कार्य प्रकाश चन्द्र गुप्त ने किया है। उनके रेखा-चित्रों के 'पुरानी स्मृतियों', 'नए स्केच' तथा 'रेखाचित्र' संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी, के रेखाचित्रों का संग्रह 'माटी की मूरतें' नाम से प्रकाशित हुआ है। उनमें कहानीपन भी आ गया है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के रेखा-चित्रों का संग्रह 'भूले हुए चेहरे' नाम से प्रकाशित हुआ है। महादेवी जी के 'अतीत के चल चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक संग्रह भी रेखा-चित्र के सुन्दर नमूने हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी के रेखा-चित्रों का संग्रह 'रेखाएँ बोल उठीं' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, महावीर अधिकारी, प्रभाकर माचवे तथा अनेक अन्य लेखक अपनी सुन्दर कृतियों से रेखा-चित्र-साहित्य का संवर्धन कर रहे हैं।

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज की विधा

रिपोर्ताज फ्रांसीसी भाषा का शब्द है और अंग्रेजी रिपोर्ट शब्द से इसका गहरा सम्बन्ध है। इस शब्द को अपने विदेशी रूप में ज्यों का त्यों ही हिन्दी में अपना लिया गया है। जिस प्रकार अखबार आदि की साधारण रिपोर्ट होती हैं उसी प्रकार रिपोर्ताज भी किसी घटना अथवा घटनाओं का यथा तथ्य वर्णन होता है। अन्तर केवल इतना है कि साधारण रिपोर्ट में कला नहीं होती और रिपोर्ताज एक कला है। लेखक अपनी कल्पना, सहृदयता, विचार-भावना तथा कला-कौशल और शब्द शक्ति के द्वारा एक साधारण सी घटना में प्राणतत्व की प्रतिष्ठा कर उसे मर्मस्पर्शी और हृदयहारी और कलात्मक रूप प्रदान कर देता है और वह साहित्य की एक निधि हो जाती है। किन्तु साथ ही सत्य की हत्या भी नहीं हो पाती।

हिन्दी में रिपोर्ताज साहित्य सर्वथा विदेशी साहित्य के प्रभाव की देन है और विशेषकर सोवियत साहित्य की। सोवियत तथा अन्य विदेशों में द्वितीय महायुद्ध के काल में इस विधा का प्रायः अधिक प्रचलन हुआ था। हिन्दी में तो यह प्रायः द्वितीय महायुद्ध-काल की ही उपज है। और आज हिन्दी गद्य साहित्य में रिपोर्ताज की विधा एक स्वतन्त्र महत्वपूर्ण विधा के रूप में स्वीकृत है।

किसी घटना का अपने सत्य रूप में वर्णन, ऐसा वर्णन जो पाठक के सम्मुख घटना का चित्र सजीव रूप में उपस्थित कर उसे प्रभावित कर सके, रिपोर्ताज कहलाता है। उसमें कहानी का तत्व भी होता है और विशेष रूप से वह घटना प्रधान होता है। किन्तु वह कहानी नहीं है। कहानी सत्य घटना पर भी आधारित हो सकती है और कल्पना पर भी; किन्तु रिपोर्ताज नितान्त सत्य घटना को ही अपना वर्ण्य विषय बनाकर चलता है। लेखक अपनी भावनाओं के अनुरूप उस घटना में केवल रंग भर देता है।

पत्रकार कला से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पत्र की जिस घटना को भावनाओं का रंग देकर लिखा जाता है वह रिपोर्ताज की कोटि में आ जाती है। फिर वह घटना साधारण 'समाचार-महत्व' (News Value) से ऊपर उठ जाती है।

रिपोर्ताज लेखक को घटना के सत्य की रक्षा करने के लिए पर्याप्त सन्तुलन बनाये रखने की आवश्यकता होती है। वह यथा सम्भव तटस्थ रूप

से उसका चित्रण करता है, फिर भी अपनी भावनाओं के रस से उसमें संवेदनीयता उत्पन्न कर देता है। इसलिए रिपोर्ताज कला में बड़े कौशल और सन्तुलन की वाँछा होती है।

रिपोर्ताज में घटना, घटना का प्रभाव, उससे उत्पन्न समस्या तथा उस समस्या का समाधान सब कुछ होता है। जैसे कहानी में वातावरण, घटना, समस्या और समाधान या आदर्श होता है उसी प्रकार रिपोर्ताज में भी होता है। कहानी की भाँति कथोपकथन और चरित्र चित्रण भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। किन्तु यदि चरित्रचित्रण होता है तो कहानी की भाँति कथा के घात-प्रतिघातों के द्वारा उसका एक क्रमिक विकास नहीं दिखाया जाता वरन् सीधे रूप में ज्यों का त्यों चित्रण होता है। अतः रिपोर्ताज में कहानी से साम्य होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है।

रिपोर्ताज प्रायः आँखों देखी घटनाओं पर आधारित होता है। लेखक घटनाओं, सम्बन्धित व्यक्तियों के जीवन और सम्बद्ध समस्या की गहराई में जाकर पूर्ण जानकारी के साथ और अपने हृदय की समस्त संवेदनीयता के साथ वर्णन करता है।

हिन्दी में रिपोर्ताज साहित्य

द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव से अनेक समस्याएँ देश में उत्पन्न हो गई थीं, जिन्होंने हमारे जीवन को बुरी तरह झकझोर दिया था। लेखक भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके। उन्होंने जनता, उसके जीवन, उसके जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं से जीवित सम्पर्क स्थापित किया और उन पर छोटे छोटे रिपोर्तज लिखे, जिनमें जनता द्वारा उन गम्भीर परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति, साहस और मनोबल का प्राणवान स्वर मुखरित हुआ। बंगाल के अकाल पर रांगेय राघव का रिपोर्ताज संग्रह 'तूफानों के बीच' ऐसा ही सशक्त रिपोर्ताज संग्रह है। इसी प्रकार अन्य घटनाएँ भी जैसे नाविक विद्रोह, आजाद हिन्द फौज आदि रिपोर्ताज का विषय बनीं। उधर काश्मीर समस्या पर काश्मीर युद्ध को लेकर भी अच्छे रिपोर्ताज हिन्दी में लिखे गये हैं।

आज के हिन्दी के प्रसिद्ध रिपोर्ताज लेखक हैं—प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, रांगेय राघव, अमृतराय, प्रभाकर माचवे, हंसराज रहबर आदि। साहित्य की यह विधा, एक प्रगतिशील विधा है और इसका भविष्य सुन्दर है।